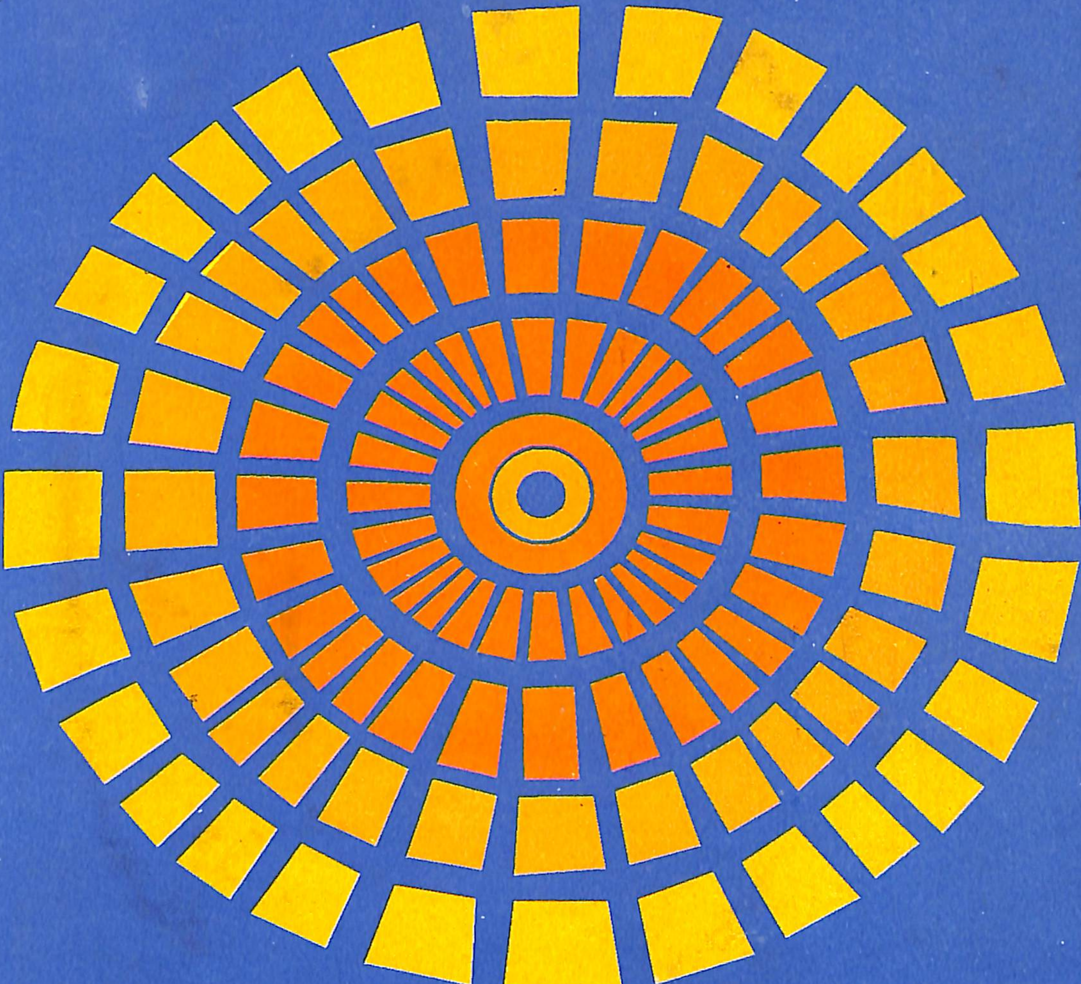
अलौकिक अध्ययन



डॉ शशि तिवारी

ऋग्वैदिक अध्ययन

(गवेषणापूर्ण लेखों का संकलन)

ऋग्वैदिक अध्ययन

(गवेषणापूर्ण लेखों का संकलन)

डॉ० शशि तिवारी

मैत्रेयी कॉलेज

दिल्ली विश्वविद्यालय

नई दिल्ली

वेंकटेश प्रकाशन

नई दिल्ली

(राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थान, दिल्ली के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित)

प्रकाशक :

वेंकटेश प्रकाशन

६७, सुन्दर पैलेस, ज्वाला हेड़ी,
पश्चिम विहार, नई दिल्ली–११००६३

शाखा :

(१) देवराकलाँ, कटनी, (मध्य प्रदेश)
(२) अवैरी, तारागढ़, बैजनाथ, कांगडा, (हिमाचल प्रदेश)

ISBN : 61-67499-16-6

१६६६

मूल्य : 85/-

मुद्रक :
लेजर टाइप सेटिंग
अजय कम्प्यूटर सेंटर,
पश्चिम विहार, नई दिल्ली– ११००६३

RIGVAIDIKA ADHYAYANA
by : Dr. (Mrs.) Shashi Tiwari

पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय
प्रधान सम्पादक
उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ
द्वारा प्रकाश्यमान
संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास

शुभाशंसा

डॉ० शशि तिवारी द्वारा लिखित 'ऋग्वैदिक अध्ययन' नामक पुस्तक को देखने का अवसर मिला। इस पुस्तक में ऋग्वेद से सम्बद्ध विभिन्न विषयों पर लिखे २७ शोध-निबन्धों का संकलन है। देवतापरक निबन्धों में अदिति और आदित्य, रुद्र, अश्विनौ, विश्वेदेवाः और पृश्निमातृ मरुत् देवताओं के स्वरूप का सूक्ष्म वर्णन किया गया है। शब्दों के अर्थविज्ञानविषयक लेखों में गृह, माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नी और पुत्रीवाचक शब्दों के ऋग्वैदिक स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। विशिष्ट सूक्तों से सम्बद्ध लेखों में पुरुष सूक्त, नासदीय सूक्त और दैर्घतमस आप्रीसूक्त का समालोचनात्मक विवेचन किया गया है। ऋग्वैदिक दार्शनिक चिन्तन-परक निबन्धों में मरणोत्तर जीवन, कर्म, नीति, काल और मानवजीवन-मूल्यों का सारगर्भ विश्लेषण किया गया है। ऋग्वेद की ऋषिकाओं के स्वरूप का सविस्तर आकलन इस पुस्तक की विशेष उपलब्धि है। ऋग्वैदिक समाज और जनजीवन से सम्बद्ध निबन्धों में वसिष्ठ का सामाजिक चिन्तन, हड़प्पा और ऋग्वैदिक आभूषण, निरामिष भोजन, आवास-व्यवस्था, पक्षी-विवरण, वसु और वाक्तत्त्व प्रमुख हैं। इनमें वैदिक-कालिक समाज के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्वरूप का गहन अध्ययन किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ऋग्वेदीय मन्त्रों का आलोचनात्मक विश्लेषण प्राचीन भाष्यों, ब्राह्मणों, निरुक्त और अनुक्रमणी-ग्रन्थों पर आधृत है। आवश्यकतानुसार आधुनिक भारतीय एवं पाश्चात्त्य मनीषियों के मन्तव्यों को भी यथास्थान सन्निविष्ट किया गया है। पुस्तक में सर्वत्र बिना किसी पूर्वाग्रह के शोधदृष्टि से मौलिक चिन्तन को प्रश्रय दिया गया है।

यह पुस्तक डॉ० शशि तिवारी की ऋग्वैदिक अध्ययन में गहरी रुचि और तलस्पर्शी गवेषणात्मक सूक्ष्म विश्लेषण-शैली की परिचायक है। संकलनात्मक कलेवर में उपनिबद्ध यह कृति ऋग्वेद से सम्बद्ध महनीय विषयों के समग्रबोध में उपादेय है।

मैं डॉ० शशि तिवारी की इस सारस्वत साधना के साफल्य की हार्दिक कामना करता हूँ और उन्हें यह आशीर्वाद देता हूँ कि उनकी लेखनी सुरभारती की सेवा में सतत जागरूक रहे। इति शम्।

वाराणसी
३.१०.९७

बलदेव उपाध्याय

भूमिका

वेद मानवीयता की अनुपम एवं महान् निधि हैं । वेदविद्या किसी देश अथवा काल तक सीमित न होकर सम्पूर्ण विश्व के लिए सभी कालों में प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण है । अथर्ववेद के शब्दों में 'वेद एक ऐसा देव-काव्य है, जो न मरता है और न ही कभी पुराना होता है- **देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति** (अथर्व. १०/८/३२) । वेद वह विशाल ज्ञानराशि है, जो स्वरूपतः सत्य, सनातन, नित्य और अपौरुषेय है । मनु ने **सर्वज्ञानमयो हि सः** (मनुः २/७) कहकर वेद को समस्त ज्ञान से संवलित बताया है । महर्षि यास्क की निरुक्ति **मन्त्रा मननात्** (नि. ७/१२) भी वैदिक मन्त्रों के ज्ञानकारक होने में प्रमाण है । अलौकिक तत्त्वों और लौकिक विषयों के रहस्यों को जानने में वैदिक ग्रन्थों की परम उपादेयता है । वेद की विशेषता है कि यह ऐसे विषयों का प्रतिपादन करता है, जिसका ज्ञान अन्यथा प्राप्त नहीं हो सकता । मनुष्य की मनुष्यता का प्रमुख आलम्बन 'ज्ञान' है । यही उसकी पुरुषार्थ-सिद्धि का प्रधानतम साधन है । ज्ञान से कर्म का नित्य सम्बन्ध है । मानवीय कर्तव्याकर्तव्य के सम्बन्ध में अनेकविध निर्देश भी वेद से प्राप्त होते हैं । इसीलिए जीवन से सम्बद्ध जटिल प्रश्नों के समाधान के लिए वैदिक चिन्तकों द्वारा स्थापित सूक्ष्म सिद्धान्तों का अवबोधन अपेक्षित है, तो पद-पद पर उपस्थित होने वाली विकट समस्याओं के निराकरण में उनके द्वारा मान्य उदात्त आदर्शों का सम्यक् आचरण सहायक है । निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य के लिए कल्याणकारी दिशा का निर्देशक होने से ज्ञानकर्मप्रवर्तक वेद-वाङ्मय के अनुशीलन की महत्ता पहले भी थी, आज भी है और आगे भी रहेगी । सम्प्रति केवल उस संकल्प, सामर्थ्य और निष्ठा की आवश्यकता है, जिसके द्वारा वेदविद्या से अधिकाधिक लाभ उठाया जा सके ।

समस्त प्राचीन भारतीय साहित्य में वेद राष्ट्रीय महत्त्व के गौरवग्रन्थ माने जाते हैं। ये भारतीय तत्त्वमीमांसा और धार्मिक जीवन का मूलाधार हैं। भारतवर्ष की प्रमुख चिन्तनधाराओं और अमूल्य सांस्कृतिक परम्पराओं का भव्य प्रासाद वेद की सुदृढ आधारशिला पर ही प्रतिष्ठित है। पारम्परिक मत के अनुसार भारतीय विद्या के सुविचारित और प्रचलित अनेक दार्शनिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक सिद्धान्तों का आविर्भाव वेदों से ही हुआ है। वैदिक ग्रन्थों में विज्ञान और पर्यावरण-विषयक प्रभूत विशिष्ट सामग्री समाविष्ट है। इनमें ही साहित्यिक और भाषाशास्त्रीय विश्लेषण से सम्बद्ध विचारों के प्रारम्भिक सूत्र उपनिबद्ध हैं। वस्तुतः वेदों में ज्ञान-विज्ञान की वह उज्ज्वल ज्योति है, जिसकी प्रभा ही अनन्तर कवियों और मनीषियों द्वारा साहित्य एवं दर्शन के रूप में तरह-तरह से प्रसारित हुई है।

वैदिक वाङ्मय बहुत व्यापक है। महर्षि आपस्तम्ब के कथन **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**—के द्वारा अभिव्यक्त प्राचीन मान्यता के अनुसार सम्पूर्ण मन्त्रब्राह्मणात्मक वाङ्मय 'वेद' है। इसके अन्तर्गत सहस्रों ग्रन्थ आते हैं। कई गद्यरूप हैं, तो कई छन्दोबद्ध। छन्दोबद्ध मन्त्रसंहिताओं में ऋग्वेदसंहिता का स्थान सर्वोपरि है। यह मन्त्रब्राह्मणात्मिका वेदवाणी का प्राचीनतम, अद्भुत तथा अपूर्व ज्ञानकोश है। इससे ऐहिक, पारलौकिक, प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष—सर्वविध ज्ञान प्राप्त होता है। ऋग्वेद में दस मण्डलों में १०२८ सूक्त सम्मिलित हैं। द्वितीय से सप्तम तक के मण्डल 'कुल-मण्डल' कहलाते हैं, क्योंकि इनमें से प्रत्येक मण्डल का सम्बन्ध किसी विशिष्ट ऋषि या उसके वंशजों के साथ निश्चित रूप से उपलब्ध होता है। ये मण्डल क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें वासिष्ठ मण्डल सबसे बड़ा है और गार्त्समद मण्डल सबसे छोटा। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी, शौनक की आर्षानुक्रमणी और शौनक के बृहद्देवता में ऋग्वैदिक मन्त्रों अथवा सूक्तों के साथ जिन ऋषिनामों के विवरण प्राप्त होते हैं, वे वास्तव में उन-उन मन्त्रों अथवा सूक्तों के प्रथम आविष्कारकों के नाम ही हैं। तपःपूत मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने विमल समाधि में अतीन्द्रिय अर्थों

का साक्षात्कार किया था । इसीलिए प्रत्येक वेद-मन्त्र में असीम रहस्य भरा पड़ा है । ऋषियों ने कभी भी वेद के ज्ञान को अपना ज्ञान नहीं कहा। फिर भी यह सत्य है कि उनके द्वारा तत्त्वज्ञान के साक्षात्कार के फलस्वरूप ही वेद ने ग्रन्थ रूप प्राप्त किया। उन्होंने ऋचाओं में देवताओं के रूप, गुण और कर्म आदि का जो स्तवन किया, उससे वैदिक देवताओं की परिकल्पनाएं उभरी और बाद के वेद-व्याख्याताओं द्वारा देवताओं के स्वरूप आदि चिन्तनीय हुए। **यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्देवतः स मन्त्रो भवति** (नि. ७/२)– यास्क की परिभाषा से मन्त्रों का मुख्य विषय देवता की प्रशंसा सिद्ध होता है । तदनुसार देवता वह है जिसमें ऋषि अपने अभीष्ट को देने के सामर्थ्य की कल्पना करता है । सामान्यतया मन्त्र की प्रतिपाद्य वस्तु को 'देवता' के आशय में ग्रहण किया जाता है । विभिन्न प्राकृतिक और आध्यात्मिक आधारों पर उत्पन्न हुए ये देवता स्वरूप और संख्या की दृष्टि से अनेक हैं, परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर इनके विभेद कम होते जाते हैं । यास्क से प्रारम्भ हुआ वैदिक देवताओं का व्याख्यान वर्तमान वेदज्ञों के विचारों से विस्तृत अवश्य हुआ है, तथापि उन सबसे भी देवतातत्त्व विषयक जिज्ञासाएं पूर्णतया शान्त नहीं होतीं । देवतापरक चिन्तन वैदिक तत्त्वज्ञान का एक विशेष पक्ष उपन्यस्त करता है। ऋग्वेद में ही भारतीय दर्शन-परम्परा में विश्लेषित आध्यात्मिक विचारों और दार्शनिक उद्भावनाओं का मूलरूप दिखाई देता है। इस संहिता के कतिपय सूक्त प्रौढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों के अभिव्यञ्जक और सृष्टि-विज्ञान के प्रवर्तक हैं। इन विषयों के सम्यक् परिज्ञान के लिए स्वतन्त्र एवं व्यापक दृष्टि से ऐसे सूक्तों का अध्ययन अपेक्षित है। प्रार्थना उपासक के अन्तर्मन की अभिव्यक्ति होती है। उपास्य के स्वरूप की अभिव्यञ्जना उपासक के अपने दृष्टिकोण, चिन्तन और मनोभावों से अस्पृष्ट नहीं रह सकती। इसीलिए मन्त्रों में यत्र तत्र प्रतिबिम्बित हुए विचारों की विशद समीक्षा से ऋग्वैदिक जीवन, संस्कृति और आचार-विचार के विविध पक्षों की गवेषणा सम्भव है। निस्सन्देह गम्भीर वेदानुशीलन वेदरूपी महासागर से ज्ञान-विज्ञान, सत्प्रेरणा और उपदेश रूपी रत्नों की उपलब्धि का एक मात्र माध्यम है ।

ऋग्वेदसंहिता का अध्ययन और समालोचन सुदीर्घकाल से अनेक दृष्टियों से किया जा रहा है। वेदाङ्ग ग्रन्थ वेदार्थ के अन्वेषण के उद्देश्य से किये गये आरम्भिक प्रयास के प्रतीक हैं। प्राचीन काल से ही मानव-मनीषा द्वारा मन्त्रों की जो भिन्न और नवीन व्याख्याएँ की गयीं, वे सब वेद के वास्तविक अर्थ तक पहुँचने की उत्कट आकांक्षा का प्रतिरूप हैं। वेदरूप तत्त्वज्ञान की व्यापकता और दुर्विज्ञेयता के कारण इन व्याख्याओं में प्राप्त विविधता अति स्वाभाविक है। प्राचीन और आधुनिक भाष्यकारों की लम्बी परम्परा द्वारा वेदानुशीलन का इतिहास समृद्ध हुआ है। भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त विदेशी विद्वानों ने भी वेद से सम्बद्ध विविध विषयों पर अनेक समालोचनात्मक ग्रन्थों का प्रणयन करके इस सन्दर्भ में विशेष योगदान दिया है। वस्तुतः यह महनीय वेदविद्या की ही महिमा है कि वह अपने अध्येताओं में उत्तरोत्तर जिज्ञासा और शोध-प्रवृत्ति को उद्बुद्ध करती है। प्रस्तुत कृति ऋग्वेद पर आधृत कतिपय विषयों या उनके कुछ विशिष्ट पक्षों को जानने-समझने के ऐसे ही एक प्रयास का परिणाम है।

प्रस्तुत पुस्तक ऋग्वेद का सर्वाङ्गीण अध्ययन न होकर, उसके पृथक्-पृथक् विषयों पर लिखे गये सत्ताइस महत्त्वपूर्ण, छोटे-बड़े शोधलेखों का एक संकलन है। इसके अन्तर्गत लेखों में कोई विशेष क्रमबद्धता नहीं है। देवता, ऋषि, अध्यात्म, दर्शन, समाज, परिवार, जीवन, जगत्, नीति, आदर्श आदि से जुड़े हुए कुछ विषयों की विस्तृत और समीक्षात्मक विवेचना इनमें देखी जा सकती है। प्रकारान्तर से इनमें ऋग्वैदिक जीवन, चिन्तन और सांस्कृतिक परिस्थितियों के विशद एवं शोध-पूर्ण प्रतिपादन की निष्ठापूर्वक चेष्टा की गयी है।

गहन ज्ञान से ओतप्रोत 'वेद' हमारी अविचल श्रद्धा के आस्पद हैं, इसलिए इनके अध्ययन के लिए व्यापक, सन्तुलित और समन्वित दृष्टि अपेक्षित है। वेदार्थानुशीलन के लिए सीमित और एकांगी दृष्टिकोण सर्वथा त्याज्य है और एतदर्थ शास्त्रीय ज्ञान अति आवश्यक है। अतएव प्रस्तुत शोधलेखों को लिखते समय पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रणीत साहित्यिक धरोहर को मुख्य आधार बनाया गया है। साथ ही आधुनिक प्राच्य एवं पाश्चात्त्य वेदानुसन्धानकर्ताओं के ग्रन्थों से भी भरपूर लाभ उठाया गया है। मौलिक

किन्तु प्रामाणिक तथ्यात्मक निष्कर्षों के लिए ऋग्वैदिक मन्त्रों के उपलब्ध अधिकांश भाष्यों का अध्ययन करके वेदार्थ के विश्लेषण का प्रयत्न किया गया है । सर्वत्र 'नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते' सिद्धान्त को ध्यान में रखकर उसको अपनाने का प्रयास किया गया है । संकलित शोध-निबन्धों में से अधिकांश विविध राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं, विशिष्ट अभिनन्दन-ग्रन्थों अथवा विश्वविद्यालयीय संगोष्ठी-प्रकाशनों में प्रकाशित हो चुके हैं । प्रकाशन का संक्षिप्त विवरण लेखों के अन्त में दे दिया गया है । प्रस्तुति की समरूपता के उद्देश्य से लेखों में यथोचित परिवर्तन एवं परिवर्धन भी किये गये हैं । आशा है इस अध्ययन द्वारा ऋग्वैदिक ज्ञान की विविधता, विपुलता और महत्ता का किञ्चित् आभास हो सकेगा ।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन के अवसर पर मैं सर्वप्रथम 'इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः' (ऋ. १०/१४/१५) मन्त्र द्वारा उन सब प्राचीन आचार्यों और आधुनिक विद्वान् लेखकों के प्रति सादर अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ, जिनके ग्रन्थों एवं लेखों से मुझे वैदिक अध्ययन में प्रोत्साहन और सहायता प्राप्त हुई । मैं अपने उन आदरणीय आचार्यों, गुरुजनों और प्रिय मित्रों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना परम कर्त्तव्य समझती हूँ, जिन्होंने न केवल संगोष्ठी, विशेषांक अथवा अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए मुझे समय-समय पर शोधपत्र तैयार करने की प्रेरणा देकर वेदाध्ययन में प्रवृत्त किया, अपितु अनन्तर उनको सुसम्पादित कर प्रकाशन का अवसर भी प्रदान कराया । विशेष रूप से मैं दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के विद्वान् आचार्यों - डॉ कृष्णलाल, डॉ. पुष्पेन्द्र कुमार, डॉ. सत्यपाल नारंग और डॉ. अवनीन्द्र कुमार, श्रीलालबहादुरशास्त्री-राष्ट्रिय-संस्कृत-विद्यापीठ, दिल्ली के कुलपति प्रोफेसर वाचस्पति उपाध्याय, राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थान, दिल्ली के निदेशक डॉ. कमलाकान्त मिश्र, गंगानाथझा-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ, इलाहाबाद के प्राचार्य डॉ. गयाचरण त्रिपाठी, सर्म्पूणानन्दवैदिक-शोध-संस्थान, मेरठ के निदेशक माननीय डॉ. निरूपण विद्यालंकार, कालिदास-संस्कृत-संगीत-कला अकादमी, दिल्ली की निदेशिका डॉ. सुषमा कुलश्रेष्ठ, इण्डो विजन, गाजियाबाद के अध्यक्ष डॉ. महेश भारतीय, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग के प्रधानमन्त्री डॉ.

प्रभात शास्त्री और लखनऊ विश्वविद्यालय के पूर्व संस्कृतविभागाध्यक्ष, गुरुवर डॉ. जे. पी. सिन्हा की सतत प्रेरणा, परामर्श और सहयोग देने के लिए सर्वाधिक आभारी हूँ। सुश्री सुमन्मा वधवा ने बड़े उत्साह के साथ कलात्मक चित्र द्वारा इस पुस्तक के आवरण-पृष्ठ को अलंकृत किया है। उसके उज्ज्वल भविष्य के लिए मैं हृदय से शुभकामनाएँ करती हूँ।

वर्षों से चल रहे मेरे ऋग्वेदपरक अध्ययन को पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने के निमित्त आर्थिक साहाय्य देने के लिए मैं राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थान के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। वर्तमान शताब्दी के शीर्षस्थ संस्कृत-विद्वान्, गुरुओं के भी गुरुवर, परम श्रद्धेय पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय जी के प्रति मैं अपनी सादर प्रणामाञ्जलि समर्पित करती हूँ, जिन्होंने सहर्ष सस्नेह अपना शुभ आशीर्वाद प्रदान करके न केवल मेरी हार्दिक अभिलाषा पूरी की और मेरा मनोबल बढ़ाया, अपितु साथ ही 'शुभाशंसा' लिखकर इस कृति को गौरवान्वित भी किया।

अन्त में श्रीमत्सायणाचार्य के शब्दों द्वारा उस विद्यास्वरूप पवित्र परमेश्वर का अभिवादन करती हूँ जिसके निःश्वास ही 'वेद' हैं और जिसने वेद से ही सम्पूर्ण जगत् का निर्माण किया है -

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्॥

शशि तिवारी

५४, साक्षर एपार्टमेण्ट्स,
ए-३, पश्चिम विहार,
नयी दिल्ली-११००६३

अनुक्रम

परिशिष्ट

सङ्केत-सूची

अथर्व.	अथर्ववेदसंहिता
आ.श्रौ.सू.	आश्वलायन श्रौतसूत्र
ईशा.उप.	ईशावास्योपनिषद्
उ.सू.	उणादिसूत्र
ऋ.	ऋग्वेदसंहिता
ऋ.दया.भा.	ऋग्वेदसंहिता-स्वामीदयानन्दभाष्य
ऋ.प्रा.	ऋक्प्रातिशाख्य
ऋ.वे.भा.	ऋग्वेदसंहिता-वेङ्कटमाधवभाष्य
ऋ.सा.भा.	ऋग्वेदसंहिता-सायणभाष्य
ऋ.स्क.भा.	ऋग्वेदसंहिता-स्कन्दस्वामीभाष्य
ऐ.आ.	ऐतरेयारण्यक
ऐ.उप.	ऐतरेयोपनिषद्
ऐ.ब्रा.	ऐतरेयब्राह्मण
कठ.उप.	कठोपनिषद्
का.श्रौ.सू.	कात्यायन श्रौतसूत्र
का.सं.	काठकसंहिता
केन.उप.	केनोपनिषद्
कौ.उप.	कौषीतकि उपनिषद्
कौ.ब्रा.	कौषीतकि ब्राह्मण
गीता.	श्रीमद्भगवद्गीता
गो.ब्रा.	गोपथब्राह्मण
छा.उप.	छान्दोग्योपनिषद्

जै.उ.ब्रा.	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
जै.सू.	जैमिनि-सूत्र
ता.ब्रा.	ताण्ड्यमहाब्राह्मण
तु.	तुलनीय
तै.आ.	तैत्तिरीयाण्यक
तै.उप.	तैत्तिरीयोपनिषद्
तै.ब्रा.	तैत्तिरीयब्राह्मण
तै.सं.	तैत्तिरीयसंहिता
द्र.	द्रष्टव्य
नि.	निरुक्त
निघ.	निघण्टु
पा.सू.	पाणिनीय-सूत्र
पै.सं.	पैप्पलादसंहिता
बृह.उप.	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ.दे.	बृहद्देवता
मनु.	मनुस्मृति
महा.	महाभारत
मु.उप.	मुण्डकोपनिषद्
मै.सं.	मैत्रायणी-संहिता
यजु.	यजुर्वेद
रा.	रामायण (वाल्मीकीय)
वा.सं.	वाजसनेयिसंहिता
शत.ब्रा.	शतपथब्राह्मण
शा.श्रौ.सू.	शाङ्खायन श्रौतसूत्र
श्वे.उप.	श्वेताश्वतरोपनिषद्
साम.	सामवेदसंहिता
हि.श्रौ.सू.	हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र

अदिति और आदित्य

ऋक्संहिता के देवगणों में 'आदित्य' और देवियों में 'अदिति' का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनकी स्तुतियों की अपेक्षाकृत अल्पता और स्वतन्त्र विशेषताओं के प्रायशः अभाव के कारण अदिति और आदित्य से सम्बद्ध धारणाएँ आज भी पर्याप्त रहस्यमय हैं। ऋग्वैदिक सन्दर्भ, ऋग्वेदेतर प्रमाण तथा प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वानों के विविध विचार भी उनके मूल स्वरूप के सम्बन्ध में सरलतया किसी निश्चय तक पहुंचने में सहायक नहीं हैं। पर यह लगभग निश्चित है कि ऋक्संहिता में अदिति और आदित्य की परिकल्पना सम्यक्तया परिपक्व अवस्था में है। अपेक्षा है कि इन्हें परस्पर एक दूसरे के पूरक के रूप में समझने का प्रयास किया जाये। ऋचाओं में 'अदिति' देवी और 'आदित्य' देवताओं की जो चर्चा है, उसे ही मुख्य आधार बनाकर अन्य संहिताओं, निरुक्त, ब्राह्मण आदि प्रमुख वैदिक ग्रन्थों और वैदिक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गयी विविध व्याख्याओं के आलोचनात्मक विवेचन द्वारा यहाँ ऋक्संहिता में अदिति और आदित्य देवताओं का स्वरूप अध्येय है।

ऋक्संहिता में 'अदिति' नाम का प्रयोग लगभग ८० बार हुआ है। परन्तु एक भी सूक्त स्वतन्त्रतया इनकी स्तुति में नहीं कहा गया है। इनका उल्लेख केवल कुछ प्रकीर्ण मन्त्रों में है। द्रष्टव्य है कि अधिकतर इनका उल्लेख आदित्यों के साथ किया गया है। ऋचाओं में अदिति के स्वरूप के उद्भावक कुछ विशेषण प्रयुक्त हैं। इन्हें बहुधा 'देवी' कहा गया है।[१] इनके स्वरूप के विषय में केवल इतना कहा गया है कि ये किसी के द्वारा भी अप्रतिगता (अनर्वा)[२], अत्यधिक फैली हुई (उरुव्यचा)[३], विस्तृत गमन वाली

(उरुव्रजा)[४], अत्यन्त तेजस्वी तथा सम्पूर्ण प्राणियों को धारण करने वाली[५] और सम्पूर्ण प्राणियों की हितैषिणी[६] हैं। प्रातः, मध्याह्न और सूर्यास्त के समय इनका आह्वान किया जाता है ।[७]

ऋचाओं में अदिति की दो प्रमुख विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं; जिनमें प्रथम है - **मातृत्व** । वे आठ आदित्यों की माता हैं ।[८] इनके पुत्र राजा, श्रेष्ठ, अद्वितीय, शक्तिशाली और वीर हैं, इसीलिए अदिति को राजपुत्रा,[९] सुपुत्रा[१०], उग्रपुत्रा[११] और शूरपुत्रा[१२] कहा गया है । अदिति को विशेष रूप से मित्र, वरुण और अर्यमा की माता बताया गया है ।[१३] एक स्थान पर अदिति के लिए 'पस्त्या' विशेषण का प्रयोग हुआ है,[१४] जो मैकडॉनल के मत में इनके मातृत्व का सूचक बन सकता है ।[१५] एक ऋचा में अदिति को अमृत की नाभि, रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री और आदित्यों की बहिन बताया गया है,[१६] जिससे भी इनके मातृत्व और विशेषतः स्त्रीत्व का सङ्केत मिलता है। वेदोत्तरकालीन देवशास्त्र में अदिति देवसामान्य की और विशेषतया विवस्वान्, सूर्य, विष्णु आदि की जननी हैं ।[१७]

अदिति की दूसरी विशेषता है, इनकी **बन्धन या पाप-निर्मोचनक्षमता**। वे कष्टों, पापों और दुःखों से त्राण के लिए प्रार्थनीय हैं, विशेष रूप से अपराधों और पापों से मुक्त करने के लिए ।[१८] उपासक अदिति से प्रार्थना करते हैं कि वे उनको निष्पाप बनायें ।[१९] इनसे मित्र और वरुण के साथ,[२०] अर्यमन् के साथ[२१], मित्र और सविता के साथ[२२] पाप के बन्धन शिथिल करने के लिए प्रार्थना है । यद्यपि ऋग्वेद में पाप से मुक्त करने के लिए यदा-कदा अग्नि, सविता, सूर्य, उषा आदि देवताओं से भी प्रार्थनाएँ की गयी हैं, परन्तु एतदर्थ सर्वाधिक स्मरणीय वरुण और अदिति ही हैं । एक मन्त्र में कहा गया है कि अदिति के व्रतों पर चलने से वरुण के प्रति किये गये पापों से छूटा जा सकता है ।[२३] कई विद्वानों की मान्यता है कि सम्भवतः अदिति की इस दूसरी विशेषता के आधार पर ही इनका नामकरण किया गया है, क्योंकि इनके नाम के आरम्भिक अर्थ से इस विशेषता की संगति बैठ जाती है ।

मैकडॉनल और कीथ ने 'अदिति' संज्ञा का 'बन्धनराहित्य' या 'बन्धन से मुक्ति' अर्थ लेते हुए, इसे √दा (बाँधना) से निष्पन्न माना है।

उक्त निष्पत्ति की पुष्टि में मैकडॉनल ने ऋग्वेद का शुनःशेप-प्रसंग उद्धृत किया है, जहाँ इस धातु के भूतकालिक कर्मवाच्य रूप 'दित' का प्रयोग 'बांधा गया' के अर्थ में हुआ है – 'शुनःशेप को उसके पिता ने एक सहस्र गायों में क्रीत करके बांधा था।'[२४] भाववाचक संज्ञा शब्द 'अदिति' के विलोम शब्द 'दिति' को √दो (अवखण्डने) से व्युत्पन्न मानकर बन्धन या परतन्त्रता का वाचक मानें, तो भी 'अदिति' शब्द से उसके विपरीत अर्थ–निस्सीमता, मुक्ति, स्वतन्त्रता या स्वच्छन्दता सूचित होते हैं। यह भाव मन्त्रों में यत्र-तत्र अभिव्यक्त हुआ है। एक मन्त्र में उपासक कहता है कि 'कौन मुझे महती अदिति (मुक्ति) के हाथों में सौंपेगा, जिससे मैं अपने माता-पिता को देख सकूं ?'[२५] श्रोदर और ओल्डनबर्ग का मत है कि देवी अदिति की धारणा इसी भाववाचक संज्ञा से विकसित हुई है।[२६] सम्भवतः बन्धनों से छुटकारा दिलाने से अदिति का इतना महत्त्व है। प्रार्थना है कि वे अपने उपासकों को बन्धनों से उसी प्रकार मुक्त कर दें, जैसे बंधे चोर को किया जाता है।[२७] हिलेब्राण्ट और बर्गेन आदि विद्वानों के मत में अदिति बन्धन से मुक्ति की देवी हैं।[२८]

ऋग्वैदिक अदिति को **दिव्य प्रकाश या ज्योति से सम्बद्ध** दिखाया गया है।[२९] इसका प्रधान कारण इनकी आदित्यों से घनिष्ठता है। इनका अद्वितीय प्रकाश प्रशंसनीय हैं।[३०] उषा को अदिति का मुख बताया गया है।[३१] अदिति की एक साधारण विशेषता है कि वे धनसम्पति का दान करती हैं और पशुओं की रक्षा करती हैं।[३२] उनका दिया धन कभी नष्ट नहीं होता है।[३३] अथर्ववेद में इन्हें सौभाग्य और ऐश्वर्य की प्रदात्री कहा गया है।[३४] अदिति सर्वथा सर्वविध मंगल, सुख और उन्नति आदि के लिए प्रार्थनीय रही हैं।[३५] ऋग्वेद में अदिति का उक्त स्वरूप ही प्रमुखतः दिखायी देता है।

'अदिति' के स्वरूप की व्याख्या का सूत्रपात कतिपय वैदिक ग्रन्थों और अनन्तर उनके भाष्यकारों द्वारा किया गया है। ऋग्वेद में 'अदिति' के स्वरूप की अनिश्चितता के कारण यह स्वाभाविक ही था कि उनकी धारणा तत्कालीन धार्मिक और सर्गसम्बन्धी विचारों से प्रभावित होती और किसी निश्चित तादात्म्य को प्राप्त कर लेती। यही कारण है कि ऋग्वेद की आदित्यमाता अदिति परवर्ती वैदिक वाङ्मय में देवमाता **पृथिवी से एकरूप** हो गयी हैं।

यद्यपि इस तादात्म्य का प्राथमिक संकेत ऋग्वेद में ही खोजा जाता है,[३६] तथापि वाजसनेयिसंहिता और अथर्ववेदसंहिता में ऐसे संकेत सामान्य हो गये हैं ।[३७] ब्राह्मणसाहित्य में स्पष्ट रूप से अदिति को पृथिवी का प्रतिरूप माना गया है। अनेकानेक ब्राह्मणवाक्य इस विषय में प्रमाण हैं ।[३८] निघण्टु में 'अदिति' नाम वाक् और गो के अतिरिक्त पृथिवी का और द्विवचन में द्यावापृथिवी का पर्याय बताया गया है ।[३९] परन्तु ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में उसे द्यावापृथिवी से पृथक् दर्शाया गया है, क्योंकि वहाँ अदिति का उल्लेख पृथिवी या द्यावापृथिवी के साथ हुआ है ।[४०] अतः ऋग्वेद में अदिति को पृथिवी मानना सम्भव नहीं है । ऋग्वेद के ही कतिपय मन्त्रों के आधार पर,[४१] परवर्ती वैदिक ग्रन्थों में[४२] अदिति को गो बताया गया है और यज्ञकार्य में सामान्य रूप से 'गो' को 'अदिति' नाम से पुकारने की प्रथा भी है।[४३] जहाँ कीथ की धारणा है कि 'गो' से सम्बद्ध विचार आदिम नहीं, प्रत्युत गौण हैं; वहाँ मैक्डॉनल का विचार है कि अदिति के नाम के विषय में रहस्यात्मक चिन्तना के कारण उसे असीम सम्पत्ति की प्रतीक 'गो' माना गया है । ब्राह्मणों में वाक् से भी अदिति का तादात्म्य स्थापित किया गया है ।[४४]

निरुक्त में यास्क ने अदिति के सम्बन्ध में त्रिविध दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं । प्रथम विचार में यह देवताओं की माता का नाम है, जो 'अदीना' (बन्धनहीन, दीन न हुई) अर्थ में उसे दिया गया है, अतः नाम की व्युत्पत्ति √दो (बाँधना, काटना) से हुई है ।[४५] दूसरे स्थान पर यास्क ने इसे मध्यमस्थानीय स्त्रीदेवताओं में पहली बतलाया है[४६] और फिर ऋ. १/६४/१५ के सन्दर्भ में उन्होंने कहा है कि अग्नि भी अदिति कही जाती है ।[४७] अदिति के अनिश्चित स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए निरुक्त के टीकाकार स्कन्दस्वामी ने लिखा है - दर्शन-भेद से अदिति के विषय में अनेकार्थकता देखी जाती है। ऐतिहासिकों की दृष्टि में अदिति देवताओं की माता है, नैरुक्तों की दृष्टि में वह अदीना आदि गुणों से सम्पन्न है, जब कि आध्यात्मिकों के विचार में अदिति 'प्रकृति' है ।[४८] उनके मत में 'अदिति' नाम क्षयार्थक √दीङ् से व्युत्पन्न हुआ है, अतः 'अक्षीणता' ही अदिति है। अक्षीण होने से आकाश और अन्तरिक्ष अदिति कहे गये हैं, तो अध्यात्मपक्ष में कारणब्रह्म या मूलप्रकृति अदिति हैं ।[४९] सायण से इससे किञ्चित् भिन्न[५०] अदिति को √दो

(अवखण्डने) से व्युत्पन्न मानकर 'खण्डनराहित्य' अर्थ में स्वीकार किया है (अ+ √दो+ क्तिन्)। उन्होंने अदिति को कभी भूमि और पृथिवी का, तो कभी अन्तरिक्ष का उपलक्षण बताया है,[५१] और कभी अदीना एवं देवमाता अर्थों में स्वतन्त्र देवी माना है।[५२] वेङ्कटमाघव ने 'अदिति' को कभी 'अदीना' अर्थ में विशेषण माना है, तो कभी 'पृथिवी' अर्थ में संज्ञापद।[५३] स्कन्दस्वामी ने ऋग्भाष्य में यास्क के अनुकरण पर 'अदीना' अर्थ में 'अदिति' नाम की व्याख्या की है। स्वामी दयानन्द ने वेदमन्त्रों में अधिकांशतया √दो (अवखण्डने) से व्युत्पन्न मानकर 'अदिति' पद के अविनष्टा, अखण्डिता, अविनाशिका, नाशरहिता, आत्मरूपेण नित्या–आदि अर्थ किये हैं और भूमि, पृथिवी, विदुषी, विद्या, बुद्धि, गो, माता, प्रकृति आदि का इससे यथास्थान ग्रहण किया है।[५४]

पाश्चात्य विद्वान् मैकडॉनल के अनुसार अदिति पूर्णतया एक भारतीय देवी है, जो बन्धननिर्मोचनविषयक धारणा की विग्रहवता है।[५५] कीथ की दृष्टि में मैकडॉनल का मत एतद्विषयक सभी मतान्तरों की अपेक्षा अधिक संगत है।[५६] वालिस[५७] और ओल्डनबर्ग[५८] के विचार में भी 'अदिति' 'बन्धननिर्मुक्ति' की देवी (Freedom from bondage) है। अदिति का यह रूप इनके ऋग्वैदिक स्वरूप का अंशतः ग्रहण है।

गेल्डनर के अनुसार अदिति का अर्थ है– अखण्डत्व, पूर्णता।[५९] बोथलिंक और रॉथ ने अपने वैदिक कोष में अदिति का अर्थ अनन्तता (Infinity) और निस्सीमता (boundlessness) किया है, जिसका सम्बन्ध द्युलोक या स्वर्ग से है।[६०] अनन्तर रॉथ ने अदिति का अर्थ किया है– अखण्डनीयता, अनश्वरता (Inviolability, Imperishableness)। उनके अनुसार 'अदिति' नाम मानवीकृत रूप में 'कालगत आनन्त्य' की देवी का बोधक है अर्थात् वह तत्त्व जो अविनाश्य स्वर्गीय प्रकाश (आदित्यों) को धारण किये हुये है।[६१] मैक्समूलर के विचार में अदिति, जो एक प्राचीन देव या देवी थी, उस असीम (The Infinite) का द्योतक है, जो निवृत नेत्रों के लिए गोचर है और जो पृथिवी, पर्जन्य और आकाश के परे का अनन्त अवकाश है अर्थात् अदिति से तात्पर्य है - दृश्यमान अनन्त के संकेतक असीम आकाश से।[६२] इस प्रकार मैक्समूलर का आनन्त्य यदि दिक् से सम्बद्ध है,

तो रॉथ का काल से। नाम के व्युत्पतिपरक अर्थों के आधार पर अदिति को अनन्तता या निस्सीमता की देवी मानना इन्हें एक भावात्मक देवता सिद्ध करता है, जबकि मन्त्रों में इनका मातृरूप विशेषतया वर्णित है।

ऋ. १/२० की व्याख्या में बिन्फे ने 'अदिति' शब्द को एक नाम मानते हुए 'निष्पापता' (Sinlessness) अर्थ में ग्रहण किया है।[६३] परन्तु इस अर्थ के विशेष आधार का अभाव है। कई विद्वानों ने अदिति को स्थूल आकृति वाली देवी माना है। यथा, पिशल ने अदिति को पृथिवी का प्रतिरूप माना है[६४] और हार्डी ने भी इस मत से सहमति व्यक्त की है।[६५] कीथ ने उक्त मत का खण्डन किया है।[६६] ऋ. १/११५/५ के आधार पर हिलेब्राण्ट का विचार है कि अदिति का सम्बन्ध प्रकाश और परम व्योम से है और वह सम्भवतः दिवस की ज्योति का अविनश्वर पक्ष है।[६७] समान रूप से कोलिनेट ने अदिति को आकाशीय प्रभा बताया है जो द्यौस् का स्त्री प्रतिरूप है।[६८] यह मत कुछ अंशों में बर्गेन के सिद्धान्त के समकक्ष है, जिसके अनुसार स्त्रीलिंग शब्द 'अदिति' अपने मूल रूप में स्त्रीलिंग 'द्यौ' के आनन्त्य को सूचित करने वाला एक विशेषण मात्र था। 'द्यौरदितिः' या 'अदितिः द्यौः' शब्दों का अर्थ केवल 'अनन्त आकाश' है। ऋग्वेद के अनुसार विस्तृत आकाशरूपिणी माता अपने आदित्य पुत्रों को मधुयुक्त दुग्ध का पान कराती है।[६९] ऐसे ही मन्त्रों से आकाश (द्यौ) का विशेषण 'अदिति' पृथक् होकर मातृत्वयुक्त देवी बन गया है।[७०] गयाचरण त्रिपाठी ने इस मत का खण्डन करते हुए लिखा है– 'इस मत में दो कमियाँ हैं, एक तो यह कि अदिति का यह रूप उसके बन्धन से मुक्त कराने वाले पक्ष की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं करता है और दूसरे-आदित्यों के स्पष्ट उल्लेख के कारण यहाँ अदिति को एक स्वतन्त्र सत्ता न मानकर 'द्यौः' के केवल विशेषण के रूप में मानना उचित प्रतीत नहीं होता है।[७१] मैकडॉनल ने भी बर्गेन के मत के विरोध में कहा है कि इससे अदिति के बन्धननिर्मोचन कार्य की व्याख्या नहीं हो पाती है। संक्षेप में कह सकते हैं कि विद्वानों ने अदिति-विषयक धारणा की विविधतया व्याख्या की है– या तो उसे पृथिवी, आकाश, आकाशीय ज्योति, आकाशीय अनन्तता आदि का प्रतिरूप माना है या उसके नाम के अर्थ के आधार पर उसे अदीना, अखण्डनीयता, असीमता, मुक्ति आदि के उपलक्षण

के रूप में समझा है ।

कुछ विद्वान् भिन्नतया अदिति को **प्रकृति का प्रतिरूप** मानते हैं, यद्यपि इस धारणा की व्याख्या में दृष्टिकोणगत भेद हैं । ऋ. १/२४/१ की व्याख्या में जे. म्यूर ने अदिति को 'सार्वभौम प्रकृति' (Universal nature) का मानवीकरण बतलाया है। अदिति के 'मही' विशेषण के आधार पर उनका कथन है कि सम्भवतः यह प्रार्थना रोग के कारण मृत्यु से भयभीत व्यक्ति की है, जो पुनः प्रकृति को देख सकने की इच्छा व्यक्त कर रहा है।[७२] श्री अरविन्द के मत में अदिति शब्द की व्युत्पत्ति √अद् (भक्षणे) से हुई है, जो तत्त्व सबका भक्षण अथवा आच्छादन कर ले और सब तत्त्व जिसके अन्दर व्याप्त हों, वह अदिति है ।[७३] बृहदारण्यकोपनिषद् में अदिति की व्युत्पत्ति भक्षणार्थक √अद् से की गयी है, जो सबको अपने में लय करती है, वह परम सत्ता अदिति है ।[७४] फतहसिंह का विचार है कि सम्भवतः आर्यों के आरम्भिक जीवन में ही अद् से व्युत्पन्न 'अदिति' नाम विद्यमान था। उन्होंने 'अदिति' के दो अर्थ निर्दिष्ट किये हैं – (१) संहारक रूप में, सबको अपने में लय करने वाली परम सत्ता, √अद् से और (२) सर्जक रूप में, सबको अपना रूप देने वाली 'पृथिवी', √दा से ।[७५] स्वामी दयानन्द ने कारणरूपेण नित्या प्रकृति, अखण्डिता प्रकृति, विनाशरहिता माता प्रकृति, अविनाशिनी प्रकृति इत्यादि अर्थों द्वारा अदिति से कई बार 'कारण प्रकृति' का अभिप्राय लिया है ।[७६] श्री अरविन्द की विचारधारा के अनुयायी एम.पी. पण्डित का मत है कि वेदों में अदिति उस चेतन अव्यक्त सत्ता की प्रतीक है, जो जगत् को असत् से सत् करती है । जिसे परवर्ती तान्त्रिक साहित्य में आद्या या पराशक्ति कहा गया है, वही वेदों में अदिति है । माँ और पुत्र के सम्बन्ध को सर्वाधिक घनिष्ठ, पवित्र और उत्कृष्ट जानकर वैदिक ऋषियों ने परमात्मा की सत्ता की मातृरूप में कल्पना की थी ।[७७] इस प्रकार आध्यात्मिक व्याख्या के अन्तर्गत अदिति समस्त चराचर जगत् की उत्पादिका 'अव्यक्त प्रकृति' है और वही बाह्य परिदृश्यमान प्रकृति भी है। तभी विविध प्राकृतिक शक्तियाँ उसके पुत्रस्थानीय हैं। इस मत की सम्पुष्टि के लिए कुछ ऋग्वैदिक उद्धरण उल्लेखनीय हैं । एक मन्त्र में अदिति का चित्रण समग्र प्रकृति के रूप में है - 'अदिति द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, समस्त देवता और

पञ्चजन है, वही भूत और भविष्य है।"[७८] कठोपनिषद् में अदिति को 'देवतामयी' कहा गया है,[७९] तो ऐतरेयारण्यक के अनुसार सब कुछ अदिति ही है।[८०] ऋचाओं में वर्णित अदिति की विशेषताओं और कर्मों, यथा-उरुव्यचा, ज्योतिष्मता, अविनाशी, धनसम्पन्नता, पापविमोचन, मातृत्व, पशुरक्षा आदि की संगति भी इसे प्रकृति का प्रतिरूप मानने पर सरलतया हो जाती है। मित्र, वरुण और अर्यमन् की माता अदिति से जब सर्वविध रक्षण और सुख की प्रार्थना की जाती है, तब भी उसका प्रकृति से तादात्म्य प्रकट होता है। तभी वे अमृत से बंधी हुई और वसुओं का दोहन करने वाली हैं।[८१]

ऋग्वेद में अदिति का जो स्वरूप दिखलायी देता है, निस्सन्देह वही उनका मूलरूप है। विद्वानों द्वारा स्थापित विविध मत प्रायः वैदिक वाङ्मय में प्राप्त उनके व्यापक स्वरूप पर आश्रित हैं। सायण आदि भाष्यकारों के मत मुख्यतया ब्राह्मण-साहित्य पर आधृत हैं, जिनमें अदिति को पृथिवी बताया गया है, परन्तु ऋग्वैदिक अदिति को पृथिवी समझना अनुपयुक्त है। उन्हें ऋचाओं में बहुशः आदित्यों की माता कहा गया है और आदित्यों के साथ बुलाया भी गया है।[८२] जब द्युस्थानीय देवगण आदित्य पृथिवीस्थानीय नहीं हैं, तब उनकी माता पृथिवी कैसे हो सकती है ? कई ऋचाओं में एक साथ अदिति और पृथिवी का पृथक्तया उल्लेख हुआ है।[८३] अन्य संहिताओं में भी अदिति और पृथिवी की पृथक्ता को सूचित करने वाले मन्त्र उपलब्ध हैं।[८४] इसी प्रकार प्रकृति के दूसरे तत्त्वों या नाम के आधार पर भावात्मक देवता के रूप में अदिति के मूलरूप को समझना ठीक नहीं है। विद्वानों द्वारा स्थापित विविध मतों का खण्डन पहले ही किया जा चुका है। सर्वप्रथम निरुक्तटीका में स्कन्दस्वामी द्वारा निर्दिष्ट और अनन्तर श्री अरविन्द, स्वामी दयानन्द आदि कुछ विद्वानों द्वारा मान्य अदितिविषयक धारणा ही ऋग्वैदिक अदिति के नाम की व्युत्पत्ति और स्वरूप के साथ पूर्णतया संगत बैठती है। अतः अदिति उस प्रकृति का प्रतिरूप हैं, जिसमें समग्र प्राकृतिक तत्त्व समाविष्ट हैं और जो निष्पाप, अविनाशी, अविभक्त, अखण्डनीय, अदीन, स्वतन्त्र आदि विशेषताओं वाली होकर अमूर्त गुणों से सम्पन्न हैं। आध्यात्मिक या दार्शनिक अर्थ में यदि अदिति ब्रह्म की शक्तिस्वरूपा, जगत् की कारणरूपा अव्याकृत प्रकृति है, तो आधिदैविक अर्थ में वह है–'सार्वभौम प्रकृति'; जिससे सब

उत्पन्न होते हैं और जिसमें ही सब लय होते हैं ।

एक मन्त्र में कहा गया है कि 'अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ और दक्ष से अदिति ।' तदनुसार अदिति दक्ष की पुत्री एवं माता है और दोनों एक दूसरे से उत्पन्न हुए हैं ।[८५] यद्यपि यह परस्परजनयितृत्व की भावना ऋग्वेद के लिए नयी बात नहीं है[८६], तथापि यास्क की व्याख्या के अनुसार दोनों ही किसी समान तत्त्व से उत्पन्न हुए होंगे ।[८७] रॉथ का मत है कि यहाँ 'दक्ष' शब्द का अर्थ आध्यात्मिक शक्ति से है और अदिति **अनन्तता** की द्योतक है । दक्ष अव्यक्त परमात्मा के सामर्थ्यशाली पितृरूप का प्रतीक है और अदिति मातृरूप में कल्पित सृष्टि की सर्वोच्च शक्ति है । आदि और अन्त से रहित होने के कारण, वह आध्यात्मिक शक्ति 'दक्ष' अदिति (अनन्तता) से उत्पन्न मानी जाती है; यह दक्ष का अदिति से जन्म है । आध्यात्मिक शक्ति से पूर्व उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है, इसलिए अदिति भी एक प्रकार से दक्ष की पुत्री है ।[८८] एक अन्य मन्त्र के अनुसार 'दक्ष' तत्त्व अदिति की गोद में अवस्थित था,[८९] अतः 'दक्ष' की माता और पुत्री रूप 'अदिति' के मूल में 'प्रकृति' की परिकल्पना ही व्यक्त होती है । उदयवीर शास्त्री का प्रतिपादन है कि 'दक्ष' पुरुष है और 'अदिति' है– अव्याकृत, अव्यक्त प्रकृति । यह नाम √अद् (भक्षणे) से है, क्योंकि वह पुरुष द्वारा भोगी जाती है । वैदिक 'अदिति' सांख्य की प्रकृति का ही एक रूप है ।[९०]

ऋग्वेद में आदित्यगण के निमित छः सकल सूक्त और कुछ मन्त्र कहे गये हैं । अदिति के पुत्र रूप में **आदित्याः** का उल्लेख हुआ है, परन्तु अदिति के समान ही आदित्यगण की धारणा का मूल आधार भी अत्यन्त अस्पष्ट है । आदित्य देवता 'अदितेः पुत्राः' होने से ही आदित्याः (अदिति+ण्य) है,[९१] अतः 'अदिति' की धारणा की उत्पत्ति के बाद ही 'आदित्याः' की धारणा का आविर्भाव हुआ होगा । माता अदिति को बहुधा आदित्यों के साथ बुलाया गया है । अनेक ब्राह्मणग्रन्थ आदित्यों के 'अदितिपुत्रत्व' के वाचक हैं ।[९२] यास्क ने 'आदित्य' शब्द की एक व्युत्पत्ति यह भी की है ।[९३] आदित्यगण ऋग्वेद का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देवगण है, परन्तु इस संहिता में इनकी संख्या तक निश्चित नहीं है । ऋग्वेद में एक बार छः आदित्यों का उल्लेख हुआ है, और एक बार सात का ।[९४] अन्यत्र अदिति

के आठ पुत्र बताये गये हैं ।[९५] ऋग्वेद में मित्र अर्यमन्, भग, वरुण, दक्ष और अंश - यह छः आदित्यों के नाम दिये गये हैं, परन्तु आठ नामों का सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तिरीयब्राह्मण में हुआ है - मित्र, वरुण, अर्यमन्, अंश, भग, धाता, इन्द्र और विवस्वान् ।[९६] शतपथब्राह्मण में दो बार आदित्यों की संख्या बारह कही गयी है और बारह मासों से उनकी तद्रूपता स्थापित की गयी है ।[९७] ब्राह्मण-ग्रन्थों और वेदोत्तर-साहित्य में स्पष्टतया आदित्यगण में बारह आदित्य सुनिश्चित हैं, जो सूर्यरूप हैं और बारहमासों से सम्बद्ध हैं । यद्यपि पुराणों में बारह आदित्यों के नाम किंचित् भेद से दिये गये हैं, परन्तु ऋग्वेद में तो आदित्य देवताओं का सौर देवताओं से कोई स्पष्ट सम्बन्ध दिखायी नहीं देता है । यहाँ न तो आदित्यों की संख्या निश्चित है और न ही नाम । दर्शनीय है कि एकवचन में 'आदित्य' नाम से यजुर्वेद और अथर्ववेद की संहिताओं में सूर्य की स्तुति की गयी है[९८] और ब्राह्मण-ग्रन्थों में सूर्य का 'आदित्य' नाम अत्यन्त प्रचलित है, परन्तु ऋग्वेद में यदा-कदा ही सूर्य को 'आदित्य' या 'आदितेय' कहा गया है ।[९९] कभी उन्हें आदित्यगण से पृथक् भी दिखाया गया है ।[१००] अतः अदिति के देवमाता होने से ही सूर्य के लिए 'आदित्य' एक सामान्य विशेषण है । निस्सन्देह ऋग्वेद में सूर्य के लिए प्रयुक्त 'आदित्य' विशेषण ही आगे चल कर उनका पर्याय और द्वादशात्मा सूर्यरूप आदित्यगण का आधार बना है । फिर छः आदित्य-नामों में से तीन–अर्यमन्, भग और मित्र–स्पष्टतः सौर देवता हैं । एक स्थान पर सम्भवतः सूर्य देव को 'द्वादशाकृति' कहा गया है ।[१०१] अतः ऋग्वैदिक 'आदित्याः' के ही विकसित अवस्था में द्वादश आदित्य या द्वादशात्मा सूर्य बन जाने के पर्याप्त आधार हैं ।[१०२]

ऋग्वेद में आदित्यों के निमित कहे गये सूक्तों में प्रायः अदिति के पुत्र रूप में मित्र, वरुण और अर्यमन् का ही एकत्र वर्णन किया गया है । आदित्यों के प्रमुख 'वरुण' हैं । शेष आदित्यों की चारित्रिक विशेषताएँ नगण्य हैं । वर्ग के रूप में इनका सामूहिक चरित्र देवसामान्य के चरित्र जैसा है । वे नैतिक तत्त्वों से युक्त हैं । वे ऋत की रक्षा करते हैं और चराचर क

धारण करते हैं ।[१०३] वे अत्यन्त पवित्र, असत्य से घृणा करने वाले और पापियों को दण्ड देने वाले हैं ।[१०४] उनसे प्रार्थना है कि वे पाप के लिए क्षमा

कर दें ।[१०५] वे अपने उपासकों की रक्षा करते हैं । वे रोग और बाधाओं के निवारक और प्रकाश, दीर्घायु, अपत्य एवं नेतृत्व आदि के दाता हैं ।[१०६] शुचि, हिरण्यय, भूर्यक्ष, अनिमिष, अस्वप्नज, अवृजिन, अनवद्य, धीरपूत, अरिष्ट, उरु, गभीर, अदब्ध इत्यादि - उनके प्रमुख विशेषण हैं ।[१०७]

ऋग्वेद में 'आदित्याः' की विशेषताओं में वरुण के गुणों की प्रधानता है । ग्रिसवोल्ड के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'सम्पूर्ण आदित्यों के लिए मिलाकर वेदों में सम्भवतः ऐसी कोई बात नहीं कही गयी है, जो वरुण के लिए सत्य न हो ।'[१०८] सामूहिक रूप से आदित्यगण दिव्य ज्योति से सम्बद्ध होते हुए भी सत्य, पवित्रता और ऋत के रक्षक हैं । प्रतीत होता है कि जिस प्रकार 'अदितेः पुत्राः' के रूप में वर्णित 'आदित्याः' में अदिति के गुणों और विशेषताओं ने स्थान पाया, उसी प्रकार आदित्यों के प्रमुख 'वरुण' के विशेष गुण और कर्म– जैसे, पापबन्धन का विमोचन आदि स्वाभाविक रूप से अदिति में सन्निविष्ट हो गये । 'आदित्य' नाम की दूसरी व्युत्पत्तियाँ अवश्य ही बाद की खोज हैं, जब आदित्यों के स्वरूप का विकास हुआ और उन्हें अन्य गुणों और विशेषताओं से भी संयुक्त किया गया ।[१०९] दर्शनीय है कि ऋग्वेद में उक्त छः आदित्य-नामों के अतिरिक्त दूसरे देवताओं-यथा, इन्द्र को भी 'आदित्य' कहा गया है ।[११०] एकेन्द्रनाथ घोष की मान्यता है कि कई देवता ऋग्वेद में एक या अनेक बार 'आदित्य' रूप में वर्णित हैं ।[१११] कई बार 'आदित्याः' देवसामान्य के लिए भी व्यवहृत दिखायी देता है ।[११२]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में आदित्य की धारणा अदिति-विषयक धारणा से जुड़ी हुई है । 'आदित्याः' का प्रधान आधार 'अदितिपुत्रत्व' है, इसीलिए इनका ऋग्वैदिक स्वरूप धुँधला और नाम एवं संख्या अनिश्चित हैं । विशेष बात है कि अदिति के समान ही आदित्यगण का स्वरूप भी ऋग्वेदोत्तर ग्रन्थों में क्रमशः अधिक स्पष्ट और निश्चित होता गया है । जिस प्रकार 'अदिति' अपने ऋग्वैदिक स्वरूप में मातृत्व गुण की प्रधानता के कारण कालान्तर में 'देवमाता' पद को प्राप्त कर लेती हैं, उसी प्रकार अदितिपुत्र, ऋत के रक्षक 'आदित्याः' अपने ऋग्वैदिक स्वरूप में प्रमुख रूप से दिव्य प्रकाश से युक्त होने जैसे, कुछ विशेष गुणों से द्वादशात्मा सूर्य के प्रतिरूप हो जाते हैं ।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. अवतु देव्यदितिरनर्वा । ऋ. २/४०/६.
सुहवा देव्यदितिरनर्वा । ऋ. ७/४०/४.

२. वही ।

३. ऋ. ५/४६/६.

४. ऋ. ८/६७/१२.

५. ज्योतिष्मतीमदितिं धारयत्क्षितिम् । ऋ. १/१३६/३.

६. विश्वजन्या । ऋ. ७/१०/४.

७. ऋ. ५/६६/३.

८. अष्टौ पुत्रासो अदितेः ।ऋ. १०/७२/८;
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्रा । अथर्व. ८/६/२१.

९. ऋ. २/२७/१,७.

१०. ऋ. ३/४/११.

११. ऋ. ८/६७/११.

१२. अथर्व. ३/८/२, ११/१/११.

१३. माता मित्रस्य रेवतोऽर्यम्णो वरुणस्य च । ऋ. ८/४७/९, १०/३६/३.

१४. ऋ. ४/५५/३.

१५. ए. ए. मैकडॉनल, *वैदिक देवशास्त्र* (अनूदित), अनु. सूर्यकान्त, नयी दिल्ली, १९८२, पृ. ३१५.

१६. माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
ऋ.८/१०१/१५.

१७. मैकडॉनल, *वैदिक देवशास्त्र* (अनूदित), पृ. ३१५;
कीथ, *वैदिक धर्म एवं दर्शन* (अनूदित), प्रथम भाग, अनु. सूर्यकान्त, वाराणसी, १९६३, पृ. २६७.

१८. ऋ. १/२४/१५, १/९४/१५.

१९. अनागास्त्वं नो अदितिः कृणोतु । ऋ. १/१६२/२२;
विश्वस्मान्नो अदितिः पात्वंहसः । ऋ. १०/३६/३.

२०. ऋ. २/२७/१४.

२१. ऋ. ७/६३/७.
२२. ऋ. १०/१२/८.
२३. वयं स्याम वरुणे अनागाः। अनु व्रतान्यदितेर्ऋधन्तः। ऋ. ७/८७/७.
२४. शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्रात्। ऋ. ५/२/७; मैकडॉनल, *वैदिक देवशास्त्र* (अनूदित), पृ. ३१६; कीथ, *वैदिक धर्म एवं दर्शन*, प्रथम भाग,पृ. २६७.
२५. को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च।
ऋ. १/२४/१.
२६. H. Oldenberg, *Die Religion des Veda*, Berlin, 1894, p. 202; L. V. Schroeder, *Arische Religion*, Vol. 2, Leipzig, 1916, p. 400.
२७. ते न आस्नो वृकाणामादित्यासो मुमोचत। स्तेनं बद्धमिवादिते॥
ऋ. ८/६७/१४.
२८. A. Hillebrandt, *Vedic Mythology* (translated), Vol. II, Delhi, 1981, p. 64.
२९. क आदित्याँ अदितिं ज्योतिरीट्टे। ऋ. ४/२५/३, १०/३६/३.
३०. अवध्रं ज्योतिरदितेः। ऋ. ७/८२/१०.
३१. अदितेरनीकम्। ऋ. १/११३/१९.
३२. ऋ. ७/४०/२, ८/१८/६.
३३. अनेहो दात्रमदितेरनर्वम्। ऋ. १/१८५/३.
३४. शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः। अथर्व. १९/१०/९.
३५. अदितिर्न उरुष्यत्वदितिः शर्म यच्छतु। ऋ. ८/४७/९.
३६. मह्ना महद्भिः पृथिवी वितस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वेः।
ऋ. १/७२/९.
३७. वा. सं.; २१/५; २२/२०; तै. सं. ७/१/५; अथर्व. ६/१२०/२, ७/६/२, १३/१/३८.
३८. इयं वै पृथिवी अदितिः। शत.ब्रा. १/१/४/५, १/३/१/१५, ५/१/४/४,५/३/१/४; इयं (पृथिवी) वा अदितिः। ऐ. ब्रा. ३/३/७; तै. ब्रा. १/७/६/७ इत्यादि.
३९. निघ. १/११/४८, २/२/६,१/१/१४, ३/३/२१.

४०. सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् । ऋ. १०/६३/१०.

४१. पीपाय धेनुरदितिः । ऋ. १/१५३/३;
मा गामनागामदितिं वधिष्ट । ऋ. ८/१०१/१५.

४२. गां मा हिंसीरदितिं विराजम् । वा. सं. १३/४३;
अदितिर्हि गोः । शत.ब्रा. २/३/४/३४ इत्यादि.

४३. A. Bergaigne, *La Religion Vedique*, Vol. I, Paris, 1878, P. 325.

४४. वाग्वाऽदितिः । शत.ब्रा. ६/५/२/२०.

४५. अदितिरदीना देवमाता । नि. ४/२२.

४६. अथातो मध्यमस्थानाः स्त्रियः । तासामदितिः प्रथमगामिनी । नि. ११/२२.

४७. अग्निरप्यदितिरुच्यते । नि. ११/२३.

४८. अदितिरित्यनवगतम् । अनेकार्थत्वच्च दर्शनभेदेन । कथम् ? ऐतिहासिकानां देवानां माता उच्यते । नैरुक्तानामदीनादिगुणः । अध्यात्मपक्षे प्रकृतिः । नि., *स्कन्दस्वामीटीका*, ४/२२.

४९. दीङ्क्षये इत्यस्य छान्दसं रूपं द्रष्टव्यम् । अक्षीणा द्यौः । तथान्तरिक्षादीनि। अध्यात्ममपि अदितिः प्रकृतिः कारणं ब्रह्म । नि. *स्कन्दस्वामीटीका*, ४/२२,२३.

५०. अदितये खण्डनराहित्याय । ऋ.सा.भा. १/२४/१५.

५१. अदितये पृथिव्यै । ऋ.सा.भा. १/२४/१; अदितिः भूमिः । ऋ.सा.भा. १/४३/२; अदितेः एतदन्तरिक्षस्याप्युपलक्षणम् । ऋ.सा.भा. १/१८५/३.

५२. ऋ.सा.भा., १/१५३/३, २/४०/४, ५/४६/६.

५३. ऋ.वे.भा. १/१५३/३, १/४३/२.

५४. राजवीरशास्त्री, *दयानन्द-वैदिककोष*, दिल्ली, १९७५, पृ. ३१.

५५. Macdonell, *Vedic Mythology*, Delhi, 1981, p. 123.

५६. कीथ, *वैदिक धर्म एवं दर्शन* (अनूदित), प्रथमभाग, पृ. २६६.

५७. Wallis, *The Cosmology of the Rigveda*, London, 1912, p. 45.

५८. Oldenberg, *Die Religion des Veda*, pp. 204-207.

५९. कीथ, *वैदिक धर्म एवं दर्शन*, प्रथम भाग, पृ. २६८ पर उद्धृत ।

६०. Bohtlingk and Roth, *Sanskrit Worterbuch*, St. Petersburg, 1855.
६१. Roth, *Illustrations of the Nirukta*, p. 150. ff.
६२. F. Max Muller, *Vedic Hymns*, I, (SBE.32), Oxford, 1891, p. 241.
६३. Benfey, *Orient und Occident*, Vol. I, p. 33.
६४. Pischel & Geldner, *Vedische Studien*, Vol. II, Stuttgart, 1892, p. 86.
६५. Hardy, *Die Vedische Brahmanische Periode*, Munster, 1893, p. 94.
६६. कीथ, *वैदिक धर्म एवं दर्शन* (अनूदित), प्रथम भाग, पृ. २६८.
६७. A. Hillebrandt, *Vedic Mythology* (Translated), Vol. II, p. 63.
६८. *Transactions of the Ninth International Congress of Orientalists*, Vol. I, pp. 396-410 (Colinet).
६९. येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः। ऋ. १०/६३/३.
७०. Bergaigne, *La Religion Vedique*, Vol. III, Paris, 1883, pp. 88-98.
७१. गयाचरण त्रिपाठी, *वैदिक देवता : उद्भव और विकास*, भाग २, दिल्ली, १९८२, पृ. ७०५.
७२. J. Muir, *Original Sanskrit Texts*, Vol. V, London, 1872, pp. 45-46; B. B. Choubey, *Treatment of Nature in the Rigveda*, Hoshiarpur, 1970. p. 15. ff.
७३. Shri Aurobindo, *On the Vedas*, Pondicherry, 1964, p. 151.
७४. सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्। बृह. उप. १/२/५.
७५. Fateh Singh, *The Vedic Etymology*, Delhi, pp. 38-39.
७६. ऋ. ६/५१/३; यजु. १८/३०, २५/२३, ४/१६.
७७. M.P. Pandit, *Aditi and Other Deities in the Vedas*, pp. 1-37.
७८. अदिति द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥

ऋ. १/८६/१०.

७६. या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी । कठ उप. ४/७; तै. सं. ४/४/१२.

८०. अदितिर्हीदं सर्वं यदिदं किञ्च । ऐ. आ. ३/१/६; जै.उ.ब्रा. १/४१/७.

८१. ऋ. ८/४७/६, १०/१०१/१५.

८२. आदित्यैर्नो अदितिः शृणोतु । ऋ. ३/५४/२०;
विश्व आदित्या अदिते सजोषा ....। ऋ. ६/५१/५.

८३. अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः । ऋ. १/६४/१६; १/६५/११, १/६६/६ इत्यादि.

८४. पृथिवी च मेऽदितिश्च मे । वा. सं. १८/२२ ;
भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रम् । अथर्व. ६/१२०/२.

८५. अदितेर्दक्षो अजायत दक्षादु अदितिः परि । ऋ. १०/७२/४.

८६. ऋ. १०/६०/५.

८७. समानजन्मानौ स्यातामिति । नि. ११/२३.

८८. Roth, *Illustrations of the Nirukta*, p. 151.

८९. दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे । ऋ. १०/५/७.

९०. Udayavir Shastri, *Samkhya Siddhanta*, Gaziabad, 1962, pp. 338-48.

९१. दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः । *अष्टाध्यायी* ४/१/८५.

९२. यदस्याः (अदितेः) अधिजनयन् तस्मादादित्यः । तै.ब्रा. १/५/१०/४७, १/६/१०; शत. ब्रा. ३/१/३/३; तै. ब्रा. १/१/६/१-३; गो. ब्रा. १/२/१५; आदित्याः (अदितेरुत्पन्नाः) वा इमाः प्रजाः । ता.ब्रा. १३/६/५.

९३. अदितेः पुत्र वा । नि. २/१३.

९४. ऋ. २/२७/१, ६/११४/३.

९५. अष्टौ पुत्रासो अदितेः । ऋ. १०/७२/८.

९६. ऋ. २/२७/१; तै. ब्रा. १/७/६/१-३.

९७. ये द्वादशादित्या असृज्यन्त । शत. ब्रा. ६/१/२/८; कतमऽआदित्या इति । द्वादश मासाः संवत्सरस्यैतऽआदित्याः । शत. ब्रा. ११/६/३/८.

९८. तै. सं. ५/१/८; वा. सं. १३/३; अथर्व. १३/२/३.

९९. ऋ. १/५०/१३, १/१६१/६, ८/१०१/११, १०/८८/११.

१००. ऋ. ८/३५/१३, १५.

१०१. ऋ. १/१६४/१२.

१०२. द्र.- लेखिका की पुस्तक, *'सूर्य देवता, वैदिक और वेदोत्तर सूर्यस्तुतियों में'* मेहरचन्द लक्षमनदास, दिल्ली, १९९४.

१०३. धारयन्त आदित्यासो जगत्स्था देवा विश्वस्य भुवनस्य गोपाः ।
ऋ. २/२७/४.

१०४. ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः । ऋ. ७/६६/१३.

१०५. मृळ यद्वो वयं चकृमा कच्चिदागः । ऋ. २/२७/१४.

१०६. ऋ. ८/४७/२; आदित्यासो युयोतना नो अंहसः । ऋ. ८/१८/१०, १२, २/२७, ११, १७.

१०७. ऋ. २/२७/२,३.

१०८. H.D. Griswold, *The Religion of the Rigvada*, Varanasi, 1971, p. 143.

१०९. नि. २/४/१; Fateh Singh, *Vedic Etymology*, Delhi, p. 80.

११०. ऋ. ७/८५/४.

१११. Ekendranath Ghosh, *Studies on Rigvedic Deities,* Delhi, 1983, p. 17.

११२. ऋ. २/१/१३, २/२८/३, १०/६५/६; Hillebrandt, *Vedic Mythology* (Tr), Vol. II, p. 59.

[Journal of the Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, Allahabad, Vol. XLV, 1-4, 1989, pp. 169-181 में प्रकाशित ।]

❋ ❋ ❋

२

रुद्र देवता

रुद्र देवता का नाम वैदिक देवशास्त्र का सर्वाधिक जटिल नाम है। रुद्र का स्वरूप जिस रूप में ऋक्संहिता में प्राप्त होता है, उसी रूप में अन्य संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं उपनिषदों में प्राप्त नहीं होता है। उनकी विशेषताएँ इतनी वैविध्यपूर्ण और व्यक्तित्व इतना विस्तृत और विचक्षण है कि भारत के धार्मिक इतिहास के कई महत्त्वपूर्ण पक्ष उससे प्रभावित हुए हैं। वैदिक वाङ्मय के समीक्षात्मक अध्ययन से विदित होता है कि ऋग्वैदिक रुद्र निश्चय ही ऋग्वेदोत्तर वैदिक वाङ्मय में वर्णित रुद्र से पर्याप्त भिन्न हैं। यद्यपि ओल्डनबर्ग जैसे कुछ विद्वानों की धारणा रही है कि रुद्र का चरित्र समस्त वैदिक वाङ्मय में एकरूप है,[१] तथापि ऋग्वैदिक रुद्र और ऋग्वेदोत्तर वैदिक रुद्र में भेद प्रकट करने वाले संकेतों का अभाव नहीं है। जैसे, ऋग्वेद में रुद्र के सहचर मात्र मरुत् हैं, तो ऋग्वेदोत्तर वैदिक वाङ्मय में उन्हें विविध प्रेतात्माओं और भयानक जीवों के साथ चित्रित किया गया है।[२] ऋग्वेद में उनके अप्रशस्त स्वभाव का वर्णन अवश्य हुआ है, पर वाजसनेयिसंहिता आदि ग्रन्थों में उनके लिए अभद्र विशेषणों का उल्लेख है।[३] निस्सन्देह दोनों रुद्र मूलतः एक हैं। ऋग्वैदिक रुद्र ही कालान्तर में विकसित और परिवर्तित रूपों को प्राप्त करते रहे हैं, फिर भी उनसे सम्बन्धित विचारों के विकास को सरलतया क्रमबद्ध कर पाना कठिन है।

वैदिक देवमण्डल के एक प्रमुख देवता होने पर भी रुद्र को मन्त्रों की दृष्टि से ऋक्संहिता में गौण स्थान मिला है। उनके लिए गाये गये सकल सूक्त केवल तीन हैं – कुत्स आङ्गिरस ऋषि, गृत्समद ऋषि और वसिष्ठ ऋषि के।[४] घोरपुत्र कण्व ऋषि के एक सूक्त में इनकी आंशिक स्तुति की

गयी है[५] और इनके लिए दो मन्त्र अन्यत्र भी कहे गये हैं।[६] सोम के साथ एक सूक्त[७] में स्तवन के अतिरिक्त संहिता में इनका नामोल्लेख लगभग ७५ बार हुआ है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में रुद्र का महत्त्व बढ़ा है। प्रायः यजुर्वेद की सभी संहिताओं में 'रुद्राध्याय' अलग से आता है।[८] ऋक्संहिता में 'रुद्र' नाम का प्रयोग तीन अर्थों में है– (१) यह शब्द कुछ देवताओं के लिए विशेषण के रूप में व्यवहृत है, यथा - अग्नि[९], अश्विन्[१०], सोम[११], स्पशः[१२] और मित्रावरुणौ[१३] के लिए। (२) पुंल्लिङ्गरूप में यह शब्द एक देवता-विशेष का नाम है और (३) बहुवचन रूप में 'रुद्राः' शब्द एक विशेष देवसमूह का वाचक है। यास्क के अनुसार रुद्र अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं में आते हैं, जबकि ऋचाओं में उन्हें द्युलोक में रहने वाला बताया गया है।[१४]

ऋग्वैदिक रुद्र के स्वरूप पर ऋचाओं से सम्यक् प्रकाश पड़ता है। उनके व्यक्तित्व में विविध विशेषताएँ चित्रित की गयी हैं; जिनमें से कुछ उनके मानवीकरण एवं दिव्यरूप से सम्बद्ध हैं और कुछ ऐसी हैं, जो उन्हें ऋग्वेद के इतर देवों से पृथक् कोटि का प्रकट करती हैं। अथर्ववेद की अपेक्षा ऋग्वेद में इनका **शारीरिक वर्णन** कम है। ऋग्वेदसंहिता में रुद्र को एक गौरवर्ण के सुन्दर युवक के रूप में वर्णित किया गया है, जो अपने हाथों में धनुष-बाण धारण करता है और क्रोध आने पर मनुष्यों एवं पशुओं का नाश कर डालता है। रुद्र को युवक[१५] कहा गया है, जिसके अंग 'स्थिर' अथवा पुष्ट और दृढ़ हैं।[१६] शारीरिक अङ्गों में इनके हाथ और भुजाओं[१७] का विशेष उल्लेख हुआ है। इनके होठ, हनु या नासिका अत्यन्त सुन्दर है।[१८] ये सिर पर चूड़ा (स्कन्दस्वामी के अनुसार) या जटाओं (सायण के अनुसार) से सम्पन्न होने के कारण 'कपर्दी' कहे गये हैं।[१९] इनका रूप आँखों को चौंधिया देने वाला और वराहवत् दृढ़ है।[२०] अनेक रूपों से सम्पन्न होने के कारण ये 'पुरुरूपः' हैं।[२१] इनके शरीर का वर्ण 'बभ्रु' है।[२२] जिसे पीतवर्ण, काञ्चनवर्ण (वेलणकर द्वारा), बभ्रुवर्ण या जगत्भर्ता (सायण द्वारा) अथवा भूरा (मैकडॉनल द्वारा) आदि अर्थों में ग्रहण किया गया है। विशेष महत्त्व के कारण यह विशेषण ऋषि गृत्समद द्वारा रुद्र के नाम के स्थान पर प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।[२३] रुद्र सामर्थ्यवान् होने से द्योतमान सूर्य की भांति या स्वर्ण की भांति चमकते हैं, इसीलिए ये देवताओं में वैभववान् हैं।[२४] स्वर्ण से इनका

विशेष सम्बन्ध है। ये स्वर्णिम आभूषणों से प्रसाधित होते हैं।[२५] आभूषणों में इनको भांति-भांति के रूपों वाला हार 'निष्क' विशेष प्रिय है।[२६]

रुद्र का रूप अत्यन्त **तेजस्वी** है।[२७] स्तोता रुद्र के तेजस्वी स्वरूप के बोधक नामधेय 'त्वेषम्' का ही संकीर्तन करते हैं।[२८] 'तेजों से अत्यन्त दीप्त' अर्थ में 'त्वेष' विशेषण का प्रयोग रुद्र के लिए ऋक्संहिता में अन्यत्र भी हुआ है।[२९] आरोचमान या तेजस्वी होने से उन्हें 'अरुष' भी कहा जाता है।[३०] ऋग्वेद में केवल एक बार प्रयुक्त हुआ पद 'कल्मलीकिनम्' रुद्र का ही विशेषण है,[३१] जिसे सायण ने 'तेजवान्' और वेङ्कटमाधव ने 'उज्ज्वल' अर्थ में ग्रहण किया है। इस अर्थ का आधार निघण्टु है, जहाँ इसे 'ज्वलतःनामधेय' बताया गया है।[३२]

ऋग्वैदिक रुद्र अत्यन्त बलशाली और **शक्ति-सम्पन्न** हैं। वे महापराक्रमी, बलवान् और दृढ़ अङ्गों वाले होने के वराह, वृषभ और असुर कहे गये हैं।[३३] इसी सन्दर्भ में प्रवृद्ध या बलवान् अर्थ में रुद्र के लिए प्रयुक्त हुआ विशेषण 'तवस्' उल्लेखनीय है।[३४] इनके लिए कई बार प्रयुक्त विशेषण 'क्षयद्वीर' से व्यञ्जित होता है कि रुद्र वीरों या मनुष्यों के शासक हैं।[३५] रुद्र रथ पर बैठते हैं और इनके पास सेना भी है।[३६] ऋग्वेद में रुद्र के अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख हुआ है।[३७] वे धनुष और बाण धारण करते हैं।[३८] वाजसनेयिसंहिता में रुद्र के धनुष का नाम 'पिनाक' बताया गया है।[३९] ऋग्वेद के अनुसार रुद्र का धनुष स्थिर है और उनके बाण शीघ्रगामी हैं। उनके आयुध भी तीक्ष्ण हैं, यही कारण है कि वे अविजेय विजेता हैं और शत्रुओं को नीचा दिखाने वाले हैं।[४०] एक स्थान पर उनके हाथ में वज्र का वर्णन है।[४१] 'दिद्युत्' को रुद्र का एक विशेष चमकीला अस्त्र बताया गया है, जो उनके द्वारा आकाश से फेंका जाने पर पृथिवी पर आता है। वसिष्ठ ने अपने पुत्र-पौत्रादि को उससे बचाने की प्रार्थना की है।[४२] मैकडॉनल[४३] प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने इसे विद्युत्-कृपाण माना है, तो सायण ने 'अशनिरूपा हेति'। अथर्ववेद और अन्य वैदिक संहिताओं में रुद्र का चित्रण एक अति बलशाली और सुसज्जित योद्धा के रूप में किया गया है।

ऋग्वेद में रुद्र को अतिशय शक्तिसम्पन्न होने के कारण बलवानों के मध्य परम बलवान् कहा गया है।[४४] अन्यत्र वर्णन है कि रुद्र से बढ़कर

कोई भी ओजस्वी या बलवान् है ही नहीं।[४५] वे केवल बलवान् ही नहीं, प्रकृष्टज्ञानवान् (प्रचेतस्) और कवि भी हैं।[४६] रुद्र की सर्वश्रेष्ठता का गुणगान करते हुए एक ऋचा में कहा गया है कि वे ऐश्वर्य द्वारा उत्पन्न सम्पूर्ण जगत् में श्रेष्ठ हैं।[४७] रुद्र की महिमा एवं प्रभुसत्ता स्वीकार करने के कारण ही उन्हें 'ईशान' और भुवन का भर्ता स्वीकार किया गया है.।[४८] वे अपनी सार्वभौम शक्ति द्वारा (साम्राज्येन) देवों के कार्यों को जानते हैं और पृथिवी पर जीवों के शुभाशुभ को भी देखते हैं।[४९]

ऋग्वैदिक रुद्र की एक प्रमुख विशेषता है - उनका **मरुतों के साथ साहचर्य**। वे मरुतों के पिता हैं [५०] और इसलिए 'मरुत्वान्' हैं।[५१] एक मन्त्र के अनुसार रुद्र ने रुक्मवक्षस् मरुतों को 'पृश्नि' के शुक्ल ऊधस् से उत्पन्न किया है।[५२] सम्भवतः इसीलिए मरुतों को 'रुद्रासः' या 'रुद्रियासः' संज्ञा दी गयी है।[५३] अधिकांश विद्वानों ने मरुतों को तीव्रता से प्रवहमान वायु का देवता माना है। डॉ. दाण्डेकर के विचार में रुद्र का मरुतों के साथ निकट साहचर्य ही उनकी (एक बार सोम को छोड़कर) किसी अन्य देवता के साथ युग्मस्तुति में बाधक रहा है।[५४] **त्र्यम्बक** विशेषण का रुद्र के लिए सर्वप्रथम नाम के रूप में प्रयोग ऋक्संहिता में प्राप्त होता है।[५५] अनन्तर वेदोत्तरकालीन साहित्य में तो यह रुद्र या शिव का एक विशेष नाम ही बन गया है। शतपथब्राह्मण के अनुसार रुद्र की बहिन 'अम्बिका' को ध्यान में रखकर रुद्र को त्र्यम्बक कहा गया है।[५६] परन्तु इस शब्द का मूल अर्थ 'तिस्रः अम्बाः यस्य' अर्थात् 'तीन माताओं वाला' करने पर रुद्र को जगत् की द्युलोक आदि तीन विभाजनरूप तीन माताओं से सम्बद्ध मानना अधिक उपयुक्त है। तीनों लोकों में उत्पादनक्षमता होने से उनमें तीन माताओं की धारणा का संकेत मन्त्रों में दिखायी देता है।[५७] यह नाम जगत् की निर्मात्री शक्ति से रुद्र का सम्बन्ध सिद्ध करता है। रुद्र की धारणा ऋग्वेदोत्तर वाङ्मय में अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण होती गयी है और तब उसे शिव की अवधारणा से पूर्णतया पृथक् करके समझ पाना सम्भव नहीं है। ऋग्वेद में ही 'शिव' शब्द का रुद्र के लिए विशेषण के रूप में प्रयोग इसका सबसे बड़ा प्रमाण है।[५८] श्वेताश्वतरोपनिषद् में ही प्रथम बार स्पष्ट रूप से 'शिव' शब्द का संज्ञा के रूप में प्रयोग हुआ है।[५९] ऋग्वेद के एक मन्त्र में रुद्र के

पशुपालक स्वरूप का संकेत प्राप्त होता है,[६०] परन्तु अथर्ववेद आदि ग्रन्थों में प्राप्त रुद्र का 'पशुपति' विशेषण ऋग्वेद में लगभग अप्रयुक्त है।

ऋग्वैदिक रुद्र की प्रमुख चारित्रिक विशेषता, जो उन्हें दूसरे ऋग्वैदिक देवताओं से पृथक् करती है– वह है, उनका एक ओर **भयानक, उग्र और भीषण** रूप धारण करना और दूसरी ओर **उदार, कृपालु और मंगलमय** रूप से सम्पन्न होना। अपने इस विशेष स्वरूप के कारण वे वैदिक देवताओं से पर्याप्त भिन्न और स्वतन्त्र व्यक्तित्व के धनी माने जाते हैं। ऋक्संहिता में उनका चित्रण एक भयंकर देवता के रूप में सबसे बढ़कर हुआ है। रुद्र के प्रति कहे गये मन्त्रों में उनके क्रोध, अनुदारता, अवकृपा और भीषण अस्त्रों आदि के प्रति स्तोताओं में भय-भाव की झलक दिखलायी देती है। उनके तीक्ष्ण आयुध, ओजस्विता और परमशक्तिमत्ता को बहुशः इसी सन्दर्भ में याद किया गया है। उन्हें 'उग्र', 'भीम' और शत्रुओं को मारने वाला (उपहत्नु) कहा गया है।[६१] रुद्र के लिए 'उग्र' विशेषण का प्रयोग कई बार हुआ है।[६२] रुद्र भयंकर और 'उग्र' हैं, इसलिए वे पीड़ा पहुँचा सकते हैं और अपने क्रोध द्वारा नष्ट कर सकते हैं। उनसे प्रार्थना की गयी है कि वे क्रोध में आकर अपने उपासकों, उनके माता-पिता, बच्चों, परिजनों, सम्बन्धियों और गाय-अश्वादि पशुओं की क्षति न करें।[६३] याचना है कि अपनी 'दिद्युत्' हम पर न गिराएं और हमारे बच्चों में क्षीणता उत्पन्न न करें, हमारा वध न करें, हमारी हिंसा न करें।[६४] इसके विपरीत उनसे कहा गया है कि वे अपने क्रोध और शस्त्रास्त्र को उपासकों की ओर से लौटा लें।[६५] अपनी विनाशकारिणी अथवा क्रोधपूर्ण बुद्धि को उनके विषय में उत्पन्न न होने दें[६६], जिससे उपासकों, बच्चों और पशुओं की किसी प्रकार की हिंसा न हो। रुद्र मनुष्यों को मार सकते हैं।[६७] अतएव क्षयद्वीर रुद्र से प्रार्थना है कि अपने गाय के घातक (गोघ्नम्) और मनुष्यों के घातक (पूरुषघ्नम्) शस्त्र को हमसे दूर ही रखिए।[६८] तेजस्वी रुद्र से स्तोता वह उपाय जानना चाहता है जिससे वे उनके ऊपर क्रोध न करें और उसे न मारें।[६९] स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक उपासक रुद्र के दौर्मनस्य और क्रोध से बड़ा भयभीत है। इसी परम्परा में ऋग्वेदोत्तर ग्रन्थों ने रुद्र को 'क्रूर' और 'घोर' देवता कहा है।[७०]

ऋग्वैदिक रुद्र देवता को उग्र और भयद रूप में चित्रित किया गया

है, परन्तु वे अमंगलकारी नहीं हैं। साथ ही उन्हें उक्त विशेषता से पर्याप्त विपरीत दयालु और मंगलकारी रूप में भी चित्रित किया गया है। रुद्र का हाथ सुखकारक है,[७१] वे स्वयं खूब देने वाले[७२], सुख देने वाले[७३], याजकों को सब प्रकार की सामर्थ्य देने योग्य[७४] और अत्यन्त सुखकारी हैं।[७५] रुद्र को कोमल अन्तःकरण वाला होने से 'ऋदूदर' कहा गया है।[७६] परम मंगलकारी और कृपामय होने से ही एक ओर उनसे अनिष्ट न करने और न मारने की प्रार्थना की गयी है, तो दूसरी ओर उनसे सुख (शम्) देने और रक्षा करने की कामना की गयी है।[७७] उनका अनुनय न केवल आपत्तियों से बचाने के लिए है, अपितु वह कल्याण-प्राप्ति के लिए भी किया गया है।[७८] कहा गया है कि वे मानवजाति के चरणयुक्त और दूध देने वाले पशुरूप सहायकों के प्रति दयालु हो।[७९] रुद्र देवों के क्रोध और उनसे होने वाले संकटों को भी दूर करते हैं।[८०] वे दैवी आपत्तियों को दूर करने वाले हैं।[८१] उनकी कल्याणी बुद्धि अतिशय सुख देने वाली और भजनीया है।[८२]

रुद्र के कल्याणमय स्वरूप का विशेष पक्ष है- उनका रोगनिवारक रूप यानी उनका एक **उत्तम भिषज्** होना। उनकी रोगनिवारक शक्ति का विशेषतः गुणगान किया गया है। वे रोगों के कारणों का नाश करके रोग दूर करते हैं। इसलिए उन्हें 'वैद्यों में श्रेष्ठ वैद्य' की उपाधि दी गयी है।[८३] इसी प्रकार अन्य संहिताओं में उन्हें प्रथम दिव्य भिषज् कहा गया है।[८४] संसार की सभी ओषधियों पर उनका अधिकार है।[८५] सोमारुद्रौ को भी इसी प्रकार समस्त ओषधियों को धारण करने वाला कहा गया है।[८६] रुद्र के पास हजारों ओषधियाँ है।[८७] उनके द्वारा प्रदत्त सुखकर ओषधियों द्वारा उनके उपासक 'शतं हिमाः' पर्यन्त जीने की आशा करते हैं।[८८] अपने उपासकों के लिए वे वरणीय ओषधियों को हाथों में धारण करते हैं।[८९] अनेक प्रार्थनाओं में उनसे नीरोगता और स्वास्थ्य के लिए कृपादृष्टि की याचना की गयी है।[९०] रुद्र से प्रसन्न होकर ओषधियाँ प्रदान करने की कामना की गयी है।[९१] रुद्र से उपासक एवं उपासक के परिवार के लोगों की व्याधियों को दूर करने की बार-बार प्रार्थना की गयी है।[९२] उनसे अनुरोध है कि वे द्विपदों और चतुष्पदों के प्रति उदार बने रहें, जिससे ग्राम में सभी पुष्ट और अनातुर हो सकें।[९३] मरुतों की ओषधियों के वर्णन के प्रसङ्ग में रुद्र की कल्याण करने वाली

(शम्) और रोगों को दूर करने वाली (योः) - दो प्रकार की ओषधियों का उल्लेख हुआ है।[९४] अन्यत्र भी पिता रूप रुद्र से 'शम्' और 'योः' की याचना है।[९५] सायणाचार्य के अनुसार 'शम्' रोगों के उपशमन (रोगाणां शमनम्) का नाम है, तो 'योः' से भय का पृथक्करण (भयानां यावनम्) अभिप्रेत है। सातवलेकर के विचार में रोग को शान्त करने वाले उपाय का नाम 'शम्' है और रोगबीज तथा अनिष्टभाव को दूर करने का नाम 'यु' है।[९६] अतः भिषज् के रूप में रुद्र केवल रोगों की शान्ति ही नहीं करते हैं, अपितु वे रोगों की प्रतिरोधक शक्ति भी प्रदान करने में समर्थ हैं। एक मन्त्रांश की व्याख्या में सातवलेकर ने इसी अभिप्राय से अर्थ किया है कि रुद्र दो तरह की शक्तियों से सम्पन्न होकर हमें शान्ति प्रदान करें।[९७] अन्यत्र रुद्र से शर्म, वर्म और छर्दि देने को कहा गया है।[९८] यद्यपि सायण ने यहाँ 'शर्म' से आरोग्यलक्षणसुख, 'वर्म' से आयुधों का निवारक कवच और 'छर्दि' से गृह का अभिप्राय लिया है, परन्तु सातवलेकर ने रुद्र के भिषज् रूप के आधार पर यहाँ रोगी के आन्तरिक स्वास्थ्य, बाह्य दोषों का प्रतिबन्ध तथा वमन-विरेचन आदि वैद्य के तीन महत्त्वपूर्ण कर्तव्यों का संकेत माना है।

रुद्र के दो असामान्य विशेषण हैं - **जलाष** और **जलाषभेषज**, जिनका प्रयोग विशेषतः इन्हीं के लिए हुआ है।[९९] निघण्टु के अनुसार 'जलाष' सुख-नाम है।[१००] इसीलिए सायण ने 'जलाष' से 'सर्वेषां सुखकरः' अर्थ में रुद्र को सुखकारी माना है और 'जलाषभेषजम्' का 'जलाषरूपं भेषजं यस्मिन् रुद्रे स जलाषभेषजः' व्याख्या करते हुए बहुव्रीहि समस्तपद रूप में 'सुखरूपौषधोपेतम्' अर्थ स्वीकार किया है। स्कन्दस्वामी के अनुसार इस विशेषण का अर्थ है– 'सुखस्य उत्पादकम्'; तो वेङ्कटमाधव के अनुसार 'सुखकरभेषजम्'। सायण ने विकल्प से 'जलाषभेषज' का अभिप्राय 'उदकरूपौषधोपेतम्' भी किया है, क्योंकि उनके मत में रुद्र के नाम से अभिमन्त्रित होकर उदक ही ओषधि हो जाता है। सातवलेकर ने इस विशेषण से रुद्र के जलचिकित्सक स्वरूप की बात की है। यह उपाधि एक ओर रुद्र के रोगनिवारक सामर्थ्य को व्यक्त करती है, तो दूसरी ओर इससे ध्वनित होता है कि उनकी ओषधियों में जल की प्रधानता है। जो विद्वान् रुद्र को झंझावात का देवता मानते हैं, वे अपने मत की पुष्टि में इस तथ्य का समर्थन

करते हैं ।[१०१] उल्लेखनीय है कि ऋग्वैदिक ऋषियों ने रुद्र की रोगनिवारक शक्तियों का वर्णन जितना बलपूर्वक किया है, उतना ऋग्वेदोत्तर वैदिक वाङ्मय में नहीं किया गया है ।[१०२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वैदिक रुद्र का व्यक्तित्व दुहरा है। उनके सम्बन्ध में एक साथ घोर और मांगलिक–दो विपरीत विशेषताओं को विशेष रूप से वर्णित किया गया है । इसी कारण वे अन्य देवों से भिन्न हैं । उनका भीषणरूप जितनी अतिशयता से चित्रित किया गया है, उतने ही विश्वासपूर्वक सौम्य और मंगलमयरूप भी वर्णित है । रुद्र देव का यह दोहरा व्यक्तित्व महादेव रुद्र (शिव) के पौराणिक स्वरूप तक विद्यमान रहता है ।[१०३] ग्रिसवोल्ड का मत है कि भयंकर और विनाशकारी रुद्र से डरकर उनकी चाटुकारी करते हुए वैदिक कवि ने उन्हें उदार और सौम्य बताया है ।[१०४] परन्तु यह विचार उपयुक्त प्रतीत नहीं होता । वास्तव में रुद्र देव के भयानक और कल्याणकारी रूप एक दूसरे के पूरक हैं । रुद्र को छोड़कर किसी दूसरे ऋग्वैदिक देव में अमंगल करने वाले तत्त्वों का उल्लेख नहीं हुआ है । 'आप हमें न मारें', 'हमें क्षति न पहुँचाएं', जैसी प्रार्थनाएँ जहाँ एक ओर उपास्य के अनिष्टकारी सामर्थ्य को व्यक्त करती हैं, वही दूसरी ओर निषेधात्मक शैली में की गयी ये प्रार्थनाएँ उपास्य देव की इष्ट को उत्पन्न करने की योग्यता भी झलकती हैं । रुद्र यदि क्रुद्ध होंगे, तो पीड़ा पहुँचा सकते हैं , पर यदि कृपा कर दें और पीड़ा न पहुँचाएं; तो विपरीत दशा में उनकी प्रसन्नता उपासक के लिए अनेकविध सुखों को उत्पन्न कर सकती है । इसीलिए रुद्र से की गयी इन प्रार्थनाओं का औचित्य है कि हमारा वध मत करो और हमारा त्याग भी मत करो ।[१०५] हमें मत मारो, पर हमारे घर के आसपास ही रहो।[१०६]

ऋक्संहिता में रुद्र के स्वरूप के सभी पक्षों के विवेचन और उनकी विशेषताओं के आकलन के बाद प्रश्न उठता है कि अन्ततः ऋग्वैदिक ऋषियों ने किस तत्त्व, शक्ति या क्रियाकलाप को 'रुद्र' संज्ञा प्रदान की थी । ऋचाओं में इस सम्बन्ध में स्पष्ट संकेतों का अभाव है । यही कारण है कि 'रुद्र' नाम की व्युत्पत्ति और अर्थ तक में विविधता है तथा प्राचीन आचार्यों से लेकर आधुनिक वेदविद् विद्वानों तक सभी के द्वारा रुद्र के प्राकृतिक प्रतिनिधित्व को ढूंढ़ने के प्रयास में अलग-अलग मतों को व्यक्त किया गया है। किसी निष्कर्ष

पर पहुँचने से पहले 'रुद्र' नाम की अर्थगत समीक्षा और विद्वानों के प्रमुख दृष्टिकोणों का विश्लेषण अपेक्षित है।

'रुद्र' नाम का सर्वाधिक प्रचलित **निर्वचन** है - 'यः रोदयति सः रुद्रः' अर्थात् रुद्र वह है जो रुलाता है। एतदर्थ √ रुद् (रुदिर् अश्रुविमोचने) + णिच्+रक्[१०७] से यह शब्द निष्पन्न माना जाता है। यास्क ने मध्यमस्थानीय वायु का एक नाम रुद्र माना है। उन्होंने इस नाम की त्रिविध निरुक्ति की है।[१०८] उपर्युक्त उनमें से एक है। रुद्र क्यों रुलाता है ? व्याख्याओं में यह भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्येय है। यास्क के टीकाकार दुर्गाचार्य के अनुसार 'वह वायु शत्रुओं को रुलाता है।' शतपथब्राह्मण ने रुद् धातु को णिजर्थक मानकर 'रुद्र' का अर्थ 'रुलाने वाला' किया है - दश प्राण और आत्मा मिलकर एकादश रुद्र होते हैं, क्योंकि शरीर से निकलते समय ये सम्बन्धियों को रुलाते हैं।[१०९] सायण ने 'रुद्र' नाम की छह व्युत्पत्तियाँ दी हैं।[११०] उनमें से एक 'रोदयति सर्वमन्तकाले इति रुद्रः' में रुद्र को प्राणरूप मानकर रुलाने वाला स्वीकार किया गया है। मुद्गल ने भी इस व्युत्पत्ति का उल्लेख किया है।[१११] स्वामी दयानन्द द्वारा की गयी 'रुद्र' शब्द की व्याख्याओं में 'रोदयति' अर्थ स्वीकार किया गया है, परन्तु इसकी व्याख्या अधिकतर दो तरह से की गयी है - (१) पापफलदानेन पापिनां रोदयितारम् (ईश्वर, पापियों को रुलाने वाला), (२) दुष्टानां रोदकः (राजा, दुष्टों को रुलाने वाला)।[११२] ऋग्वैदिक रुद्र के स्वरूप के भीषण पक्ष द्वारा इस अर्थ की संगति हो जाती है।

'रुद्र' नाम को रोदनार्थ √ रुद् से व्युत्पन्न मानते हुए 'जो स्वयं रोता है, ध्वनि करता है, वह रुद्र है'– यह अर्थ भी लिया गया है। शतपथ-ब्राह्मण की एक मनोरम कथा द्वारा इस अर्थ की पुष्टि होती है।[११३] तैत्तिरीय-संहिता में एक भिन्न कथा के अन्तर्गत रुद्र को रोने के कारण ही 'रुद्र' नाम से सम्पन्न बताया गया है।[११४] वायु के रोने के विषय में आचार्य यास्क ने कठ और हरिद्रव शाखाओं के प्रमाण दिये हैं। अन्यत्र भी इसी अर्थ में अग्नि को रुद्र कहा गया है।[११५] शतपथब्राह्मण में रुद्र और रुद्रों का √रुद् से कुछ दूर का सम्बन्ध भी दिखाया गया है, तदनुसार वे इसलिए रुद्र कहलाये, क्योंकि वे प्रजापति के रुदन से उत्पन्न हुए थे।[११६] बृहद्देवता में √रुद् से व्युत्पन्न मानकर 'रुद्र' नाम को 'इन्द्र' का वाची बताया गया है - उन्होंने अन्तरिक्ष

में गर्जन करते हुए मनुष्यों के लिए विद्युत्सहित वर्षा की ।[११७]

यास्क ने 'रुद्र' शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति √रु (शब्दे) से की है। तदनुसार इस धातु में रक् प्रत्यय और तुगागम द्वारा यह शब्द बना है- 'रौति इति सतः' अर्थात् जो शब्द करता है, चिल्लाता है, वह 'रुद्र' है। यास्क की तीसरी निरुक्ति है -'रोरूयमाणो द्रवतीति वा', अर्थात् √रु + √द्रु से, क्योंकि वह बहुत शब्द करता हुआ इधर-उधर भागता है, इसलिए 'रुद्र' हुआ ।

सायण ने ऋचाओं की व्याख्या में 'रुत्' का अर्थ कष्ट, दुःख या इनका हेतुभूत पाप लेकर रुद्र का अर्थ 'इनका नाश करने वाला' किया है ।[११८] स्वामी दयानन्द की एक व्युत्पत्ति के अनुसार रुद्र 'रोगों के द्रावक' या 'सर्वरोगनिवारक' का नाम है ।[११९] महाभारत में 'रु' का अर्थ संकट बताया गया है, जिसको दूर करने के कारण शिव का नाम 'रुद्र' है ।[१२०] सायण की अन्य व्युत्पत्तियों के अनुसार 'रुत्' उपनिषद् को कहते हैं, उनके द्वारा जो प्राप्त किया जाता है (द्रूयते) वह रुद्र है; अथवा 'रुत्' आत्मविद्या है, उसको जो देता है (ददाति) वह रुद्र है; अथवा 'रुत्' आवरक अन्धकार है, उसको जो काटता है (दृणाति) वह रुद्र है। सायण द्वारा निर्दिष्ट ये व्युत्पत्तियाँ ऋग्वैदिक रुद्र के मूल स्वभाव के प्रमुख पक्षों से असम्बद्ध सी है । निश्चय ही ये परवर्ती साहित्य में रुद्र की बढ़ती हुई महत्ता और श्रेष्ठता पर आधृत हैं, क्योंकि इनसे रुद्र के रूप में परम देव में असीम श्रद्धा प्रकट होती है ।

'रुद्र' के स्वरूप पर भारतीय परम्परा से पर्याप्त भिन्न दृष्टिकोण से ग्रासमान[१२१] और पिशल[१२२] ने विचार किया है । ग्रासमान ने इस नाम को एक कल्पित √रुद् (चमकना या प्रकाशित होना) से निष्पन्न माना है। तदनुसार रुद्र का अर्थ है– प्रकाशमान या तेजस्वी । पिशल के अनुसार यह नाम कल्पित √रुद् (लाल होना) से व्युत्पन्न है, अतः रुद्र का अर्थ है -'लोहितवर्ण'। रुद्र के लिए प्रयुक्त हुआ विशेषण 'बभ्रु' इसकी पुष्टि करता है । बार्थ ने भी इस व्युत्पत्ति को स्वीकार किया है ।[१२३] इन विद्वानों के अनुसार √रुद् का उक्त अर्थ बाद में संस्कृत में लुप्त हो गया है। उपर्युक्त व्युत्पत्तियों में से कुछ रुद्र के स्वरूप से उनके नाम की संगति को यथावत् बैठाती हैं – यथा जो रुलाता है, रोगनिवारण करता है, लाल है, चमकीला है, वह 'रुद्र' है । अतः

रुद्र के व्यक्तित्व के रौद्र, मंगलकारी और ओजस्वी पक्ष ही प्रधानतया उनके नाम के आधार रहे हैं ।

कई उत्तरवैदिक ग्रन्थों में **अग्नि** को रुद्र बताया गया है ।[१२४] तैत्तिरीयसंहिता की एक कथा के अनुसार अग्नि-'रो पड़ा', इसलिए उसे 'रुद्र' कहते हैं ।[१२५] इन वैदिक प्रमाणों के आधार पर कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद[१२६] में रुद्र का अग्नि के साथ तादात्म्य सिद्ध करने का प्रयास किया है । ध्यान देने योग्य है कि इसी सूक्त में कुछ दूसरे देवता भी अग्नि कहे गये हैं और फिर ऋग्वेद में ही 'रुद्र' पद कई दूसरे देवताओं के लिए भी विशेषण के रूप में व्यवहृत है । डॉ. दाण्डेकर के विचार में अग्नि से रुद्र की समानता दिखलाने वाले ऋग्वेदेतर प्रसङ्गों में भी अधिक बार यह विशेषण ही प्रतीत होता है ।[१२७] उक्त विचारधारा के अन्तर्गत अग्नि के भयंकर, प्रचण्ड तथा विनाशकारी स्वरूप को वैदिक रुद्र की धारणा का आधार माना जाता है ।[१२८] अथवा अन्तरिक्ष की अग्नि (विद्युत्) को रुद्र माना जाता है ।[१२९] इसमें सन्देह नहीं कि ऋग्वैदिक रुद्र का अग्नि से तादात्म्य दूर की कल्पना है । केगी के विचार में अग्नि और रुद्र की समरूपता का कोई भी मूल आधार ऋग्वेद में नहीं है ।[१३०] डॉ. दाण्डेकर का प्रतिपादन है कि ऋग्वेद में रुद्र के विशेष व्यक्तित्व और चरित्र के विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्रद्रष्टाओं की दृष्टि में अग्नि और रुद्र पर्याप्त भिन्न अवधारणाएँ रही थीं ।[१३१]

शौनक ने बृहद्देवता में **इन्द्र** से सम्बद्ध मध्यमस्थान के देवसमूह में रुद्र का उल्लेख किया है ।[१३२] उन्होंने इन्द्र के जो २६ नाम गिनाये हैं, उनमें रुद्र भी एक है ।[१३३] यह मत यास्क के उस विचार की परम्परा में ही प्रतीत होता है, जिसमें माना गया है कि देवता तीन ही हैं; तदनुसार मध्यमस्थान के सभी देवता 'इन्द्र' के ही रूप हैं ।[१३४] एच. विलसन के मत में रुद्र, जो एक कल्याणकारी देवता हैं, अग्नि अथवा इन्द्र का रूपविशेष हैं ।[१३५]

पाश्चात्य वैदिक विद्वानों ने साधारणतया रुद्र को तूफान या **झंझावात का देवता** माना है, जो स्वरूपतः 'चिल्लाने वाला' या 'ध्वनि करने वाला' होने से रुद्र हैं ।[१३६] मैकडॉनल का विचार है कि रुद्र मूलतः तूफान के शुचि एवं भद्र पक्ष के नहीं, अपितु उसके घातक वैद्युत् पक्ष के प्रतिरूप थे । उन्होंने रुद्र के मरुत् और इन्द्र से सम्बन्ध तथा उनके भैषज्य कार्यों की व्याख्या भी

इसी पृष्ठभूमि में की है ।[137] इन विचारों का मुख्य आधार वह मन्त्र है, जिसमें रुद्र से अपनी 'दिद्युत्' न गिराने की प्रार्थना है, जबकि देखा जा चुका है कि यह शब्द 'विद्युत्' से भिन्न अर्थों में भी व्याख्येय रहा है। फिर रुद्र का भिषज् रूप भी इससे अस्पष्ट रह जाता है। डॉ. दाण्डेकर ने रुद्र को झंझावात का देवता मानने के सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना की है ।[138]

श्रोदर के अनुसार रुद्र मूलतः उन प्रेतात्माओं के प्रमुख थे, जो वायु के साथ मिलकर तूफान उत्पन्न करती हैं ।[139] ओल्डनबर्ग ने रुद्र का सम्बन्ध पर्वतों एवं जंगलों से स्थापित किया है और उन्हें इनका देवता माना है, जो वहाँ से आकर व्याधियों के बाणों द्वारा मनुष्यों को पीड़ित करते हैं ।[140] बर्गेन ने इन्हें द्युस्थानीय पिता कहा है ।[141] हिलेब्राण्ट के विचार में रुद्र ग्रीष्मकाल के देवता हैं और इनका किसी विशिष्ट नक्षत्र से सम्बन्ध है ।[142] अर्बमन की दृष्टि में रुद्र न तो झंझावात का देवता है और न किसी प्राकृतिक तत्त्व से सम्बद्ध; यह तो वस्तुतः मृत्यु का देवता है ।[143] डॉ. दाण्डेकर ने रुद्र को गवेषणापूर्वक मृत्यु का देवता सिद्ध किया है। डॉ. घोष ने रुद्र को धनुराशि का प्रतीक माना है, जो शरद् ऋतु में दिखायी देती है ।[144] इस प्रकार वैदिक रुद्र देवता को विविध रूपों में समझने के प्रयास किये गये हैं।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है, ऋग्वैदिक रुद्र ही समान रूप से वैदिक रुद्र नहीं हैं। वे तो भारतीय चिन्तन में अनवरत विकसित होती हुई रुद्र की धारणा का बीज मात्र हैं। ऋग्वैदिक रुद्र देवता के वास्तविक स्वरूप का निर्धारण ऋचाओं में वर्णित उनकी प्रमुख विशेषताओं के आधार पर ही किया जाना चाहिए।

ऋग्वेद की संहिता में रुद्र का चित्रण एक कठोर और उदार देवता के रूप में हुआ है। उनके स्वरूप के विविध पक्षों की व्याख्या करने पर प्रतीत होता है कि रुद्र के रूप में वैदिक आर्यों ने **प्रकृति की संहारिका शक्ति** की कल्पना की थी, जो अग्नि, विद्युत्, झंझावात आदि में पृथक्तया विद्यमान रहती है। उन्हें इनमें से किसी एक से सम्बद्ध कर देना उनके व्यापक स्वरूप का आंशिक अवलोकन मात्र होगा। ऋग्वैदिक विवरणों से सिद्ध होता है कि जो नष्ट कर सकते हैं और जिनका क्रोध बहुत है, वे रुद्र हैं; परन्तु

अशुभ, रोग, मानसिक सन्ताप, दुःख, शत्रु, पाप, प्राकृतिक कष्ट आदि का निवारण कर सकने के कारण वे ही स्पृहणीय और अत्याज्य देवता हैं। जो शक्ति क्रुद्ध होने पर नष्ट करती है, पीड़ित करती है अर्थात् रुलाती है; वही कृपालु होने पर अमंगल, पाप, रोग आदि का विनाश करने के कारण उसी रूप में अभीप्सित भी है। एक ओर वे हाथों में आयुधों को धारण करने वाले कहे गये हैं, तो दूसरी ओर ओषधियों को धारण करने वाले। कल्याणकारी रुद्र के प्रमुखतया रोगनिवारक होने से यह तथ्य पुष्ट होता है। उनमें बहुशः स्तुत्य उपचारशक्ति क्या संहारशक्ति का ही रूपान्तर नहीं है? स्वास्थ्यलाभ के लिए आधिव्याधि के कारणों का नाश ही अपेक्षित हुआ करता है। रुद्र के दयाप्रवण और भैषज्य कार्यों का आधार उनके द्वारा अपनी संहारशक्ति का अप्रयोग या प्रशमन माना जा सकता है। संहारशक्ति से सम्पन्न होकर वे प्राणियों को मृत्यु और रोग देते हैं, पर उसे प्रयुक्त न करके उनको रोग और अपमृत्यु से बचाते भी हैं।[१४५]

एक प्राथमिक विचारधारा के अनुसार जो अनिष्ट करने की शक्ति रखता है, वही उसे दूर करने की शक्ति भी रखता है, अतः ऋग्वैदिक दृष्टि में उग्रतत्त्व कल्याणतत्त्व का विरोधी नहीं है, अपितु ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। जीवन में समस्याओं के समाधान के लिए दोनों ही उपयोगी हैं, इसीलिए प्रार्थना है कि रुद्र से 'असुर्यम्' (सायण-बलम्, वेङ्कट०-असुराणां हन्तृरूपम्, सातवलेकर- असुरों को मारने वाला बल) कभी भी पृथक् न हो।[१४६]

संहार-शक्ति के अधिष्ठाता 'रुद्र' ऋग्वेद की संहिता में गौण स्थान के भागी होने पर भी अपनी विशेषताओं के कारण ऋषियों द्वारा श्रेष्ठ, महनीय और अद्वितीय देवता के रूप में चित्रित हैं। वास्तव में रुद्र एक हैं; परन्तु बहुरूप और तेजस्वी होने से वे असंख्य हो जाते हैं।[१४७] ऋग्वैदिक रुद्र का रूप अनन्तर क्रमशः परिवर्तित और परिबृंहित होता गया। जहाँ बाद में इन्द्र, वरुण जैसे कुछ ऋग्वैदिक देवताओं का महत्त्व अपेक्षाकृत क्षीण हुआ है, वहीं 'रुद्र' का महत्त्व बढ़ा है और सर्वोच्च शक्ति के रूप में 'शिव' नाम से उनकी अभिव्यक्ति हुई है।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. H. Oldenberg, *Die Religion des Veda*, Berlin, 1894, p. 216.

२. R. N. Dandekar, *Vedic Mythological Tracts*, Delhi, 1979, p. 199.

३. A. A. Macdonell, *Vedic Mythology*, Delhi 1981, p. 76; वा. सं. १६/२०-२१.

४. ऋ. १/११४,२/३३, ७/४६.

५. ऋ. १/४३/१, २/४-६.

६. ऋ. ५/४२/११, ७/५६/१२.

७. ऋ. ६/७४.

८. तै. सं. ४/५, ४/७; वा.सं. १६; अथर्व. ११/२ इत्यादि.

९. ऋ. २/१/६/, ३/२/५, ५/३/३.

१०. ऋ. १/१५८/१, ८/२६/५.

११. ऋ. ८/७२/३.

१२. ऋ. ६/७३/७.

१३. ऋ. ५/७०/२,३.

१४. दिवो...। निह्वयामहे । ऋ. १/११४/५, २/३३/१५.

१५. ऋ. २/३३/११, ५/६०/५.

१६. स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूपः । ऋ. २/३३/९.

१७. ऋ. २/३३/७,३.

१८. सुशिप्रः । ऋ. २/३३/५.

१९. ऋ. १/११४/१, ५.

२०. ऋ. १/११४/५.

२१. ऋ. २/३३/९.

२२. ऋ. २/३३/९, १५.

२३. ....बभ्रुः सुशिप्रो रीरधन्मनायै । ऋ. २/३३/५.
प्र बभ्रवे वृषभाय श्वितीचे महः ....। ऋ. २/३३/८.

२४. यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते ।
श्रेष्ठो देवानां वसुः ।। ऋ. १/४३/५.

२५. शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः । ऋ. २/३३/९.
२६. अर्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम् । ऋ. २/३३/१०.
२७. त्वेषं रूपं तपसा निह्वयामहे । ऋ. १/११४/५.
२८. गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम । ऋ. २/३३/८.
२९. ऋ. १/११४/४, २/३३/१४.
३०. दिवो वराहमरुषं कपर्दिनम् । ऋ. १/११४/५.
३१. नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिः । ऋ. २/३३/८.
३२. निघ. १/१७.
३३. ऋ. १/११४/५, २/३३/७, ५/४२/११.
३४. ऋ. १/११४/१.
३५. ऋ. १/११४/१,३.
३६. स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानम् । ते अस्मन्नि वपन्तु सेनाः । ऋ. २/३३/११.
३७. परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः । ऋ. २/३३/१४, ६/२८/७.
३८. अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वा । ऋ. २/३३/१०.
तमु ष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा । ऋ. ५/४२/११.
अहं रुद्राय धनुरातनोमि । ऋ. १०/१२५/६ इत्यादि.
३९. वा. सं. ३/६१.
४०. इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने ।
अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः ॥
ऋ. ७/४६/१.
४१. वज्रबाहो । ऋ. २/३३/३.
४२. ऋ. ७/४६/३.
४३. Macdonell, *Vedic Mythology*, p. 74.
४४. तवस्तमस्तवसाम् । ऋ. २/३३/३.
४५. न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति । ऋ. २/३३/१०.
४६. ऋ. १/४३/१, १/११४/४.
४७. श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि । ऋ. २/३३/३.
४८. ईशानादस्य भुवनस्य भूरेः । ऋ. २/३३/९.

४६. स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मनः साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति ।
ऋ. ७/४६/२.

५०. ऋ. २/३३/१, १/११४/६,६.

५१. ऋ. १/११४/११, २/३३/६.

५२. रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि ।
ऋ. २/३४/२.

५३. ऋ. १/३६/४, १/३८/७.

५४. Dandekar, *Vedic Mythological Tracts*, p. 205.

५५. ऋ. ७/५६/१२.

५६. शत. ब्रा. २/६/२/६.

५७. त्रिमाता विदथेषु सम्राट् । ऋ. ३/५६/५.

५८. ऋ. १०/६२/६.

५९. श्वे. उप. ३/११; Dandekar, *Vedic Mythological Tracts*, p. 258.

६०. ऋ. १/४३/६.

६१. मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम् । ऋ. २/३३/११.

६२. ऋ. २/३३/६, १०/१२६/५.

६३. मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ।।
मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान् मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे ।।
ऋ. १/११४/७,८.

६४. ऋ. ७/४६/३,४ ; २/३३/५.

६५. ऋ. २/३३/१४, ६/२८/७.

६६. परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात् । ऋ. २/३३/१४.

६७. रुद्राय नृघ्ने । ऋ. ४/३/६.

६८. ऋ. १/११४/१०.

६९. एवा बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हन्सि ।
हवनश्रुन्नो रुद्रेह बोधि ...... ।। ऋ. २/३३/१५.

७०. घोरो वै रुद्रः । कौ. ब्रा. १६/७.

रुद्रो वै क्रूरो देवानाम् । तै सं. ६/१/७/८, २/३/२.

७१. मृळयाकुः । ऋ. २/३३/७.

७२. भूरेः दातारम् । ऋ. २/३३/१२.

७३. मीढ्वः । ऋ. २/३३/१४.

७४. अर्हन्निदं दयसे विश्वम् ...। ऋ. २/३३/१०.

७५. मीळहुष्टमाय । ऋ. २१/४३/१.

७६. ऋदूदरः सुहवो मा नो अस्यै । ऋ. २/३३/५; नि. ६/४; J. Gonda, *Epithets in the Rigveda*, Netherlands 1959, p. 129.

७७. शं नः करत्यर्वते सुगम् । ऋ. १/४३/६; नो मयस्कृधि । ऋ. १/११४/२; तोकाय तनयाय मृळ । ऋ. २/१३३/१४; अवसे निह्वयामहे । ऋ. १/११४/४ ; रास्वा पितर्मरुतां सुम्नमस्मे । ऋ. १/११४/६.

७८. स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः । ऋ. ५/५१/१३.

७९. अवसाय पद्वते रुद्र मृळ । ऋ. १०/१६९/१.

८०. आरे अस्मत् दैव्यं हेळो अस्यतु । ऋ. १/११४/४.

८१. अपभर्ता रपसो देव्यस्य । ऋ. २/३३/७.

८२. भद्रा हि ते सुमतिर्मृळयत्तमा । ऋ. १/११४/९.

८३. भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि । ऋ. २/३३/४.

८४. प्रथमो दैव्यो भिषक् । तै. सं. ४/५/१/२; वा.सं. १६/५.

८५. यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य । ऋ. ५/४२/११.

८६. विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् । ऋ. ६/७४/३.

८७. सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा । ऋ. ७/४६/३.

८८. ऋ. २/३३/२.

८९. हस्ते बिभ्रत् भेषजा वार्याणि । ऋ. १/११४/५.

९०. ऋ. २/३३/६, १/११४/२.

९१. ऋ. २/३३/१२,१३.

९२. अनमीवो रुद्र जासु. नो भव । ऋ. ७/४६/२.

९३. यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् । ऋ. १/११४/१.

९४. ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि । ऋ. २/३३/१३; सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य*, दूसरा भाग, पारड़ी, १९८५, पृ. ६२.
९५. यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता । ऋ. १/११४/२.
९६. *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य*, प्रथम भाग, १९८३, पृ.१०३,२६३.
९७. नः शर्म यच्छ द्विबर्हाः । ऋ. १/११४/१०.
९८. शर्मवर्मच्छर्दिरस्मभ्यं यंसत् । ऋ. १/११४/५.
९९. ऋ. १/४३/४, २/३३/७, ८/२६/५ ; अथर्व. २/२७/६.
१००. निघ. ३/६.
१०१. *Vedic Mythological Tracts*, p. 216, 202.
१०२. वही, p.202; Hillebrandt, *Vedic Mythology* (Tr.), Vol. II, Delhi, 1981, pp. 286-7.
१०३. Fatah Singh, *The Vedic Etymology*, Delhi, p.191.
१०४. H. D. Griswold, *The Religion of the Rigveda*, Varanasi, 1971, p. 293.
१०५. मा नो वधी रुद्र मा परा दा । ऋ. ७/४६/४.
१०६. अवन्नवन्तीरुप नो दुरश्चर । ऋ. ७/४६/२.
१०७. रोदेर्णिलुक् । उ.सू. २/२२ से 'णि' लोप ।
१०८. नि. १०/५.
१०९. कतमे रुद्रा इति । दशेमे पुरुषे प्राणाः । आत्मैकादशः । ते यदा अस्मात् मर्त्याच्छरीराद् उत्क्रामन्ति अथ रोदयन्ति । यद्रोदयन्ति तस्मात् रुद्राः। शत. ब्रा. ११/६/३/७; तु. - प्राणा वै रुद्राः । प्राणाः हीदं सर्वं रोदयन्ति । जै.उ.ब्रा. ४/२/६.
११०. ऋ.सा.भा. १/११४/१.
१११. ऋ. *मुद्गलभाष्य* १/११४/१.
११२. ऋ. दया. भा. ७/४१/२, ७/४६/२.
११३. कुमार अजायत । स अरोदीत् तस्मात् रुद्रः ।शत.ब्रा. ६/१/३/८, ११/६/३/७.
११४. सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् । तै. सं. १/५/१/१.
११५. शत. ब्रा. ६/१/३/१०.

११६. तद् यद् रुदितात् समभवन् तस्माद्रुद्राः । शत.ब्रा. ६/१/१/६,७.
११७. अरोदीदन्तरिक्षे यद् विद्युद्वृष्टिं ददन्नृणाम् । बृ. दे. २/३४.
११८. रुत् संसाराख्यं दुःखम् । तत् द्रावयति विनाशयति इति रुद्रः । ऋ.सा.भा. १/११४/१, १/१५८/१,२/१/६ इत्यादि.
११९. यो रुद् रोगं द्रावयति । ऋ.दया.भा. ६/४९/१०, ७/५६/१, २/३३/१५.
१२०. महा.शान्ति. २८४.
१२१. H. Grassmann, *Worterbuch zum Rigveda*, Leipzig, 1873.
१२२. R. Pischel, *Vedische Studien*, Vol. I,1889, p. 57; E. Arbman, *Rudra*, 1922, p. 274. ; A. Hillebrandt, *Vedic Mythology*, Vol. II, p. 280.
१२३. A. Barth, *The Religions of India*, London, 1921, p. 14.
१२४. रुद्रो वा एष यदग्निः । तै. सं. ५/४/३/१ ; तस्मै रुद्राय नमोऽस्तु अग्नये । अथर्व. ७/८७/१ ; अग्निर्वै रुद्रः । शत. ब्रा. ५/३/१/१०; यो वै रुद्रः सोऽग्निः । शत. ब्रा. ५/२/४/१३ ; रुद्रोऽग्निः । ता.ब्रा.१२/४/२४.
१२५. तै. सं. १/५/१.
१२६. त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवः । ऋ. २/१/६.
१२७. Dandekar, *Vedic Mythological Tracts*, p. 206.
१२८. गयाचरण त्रिपाठी, *वैदिक देवताः उद्भव और विकास*, भाग २, दिल्ली, १९८२, पृ. ४७६.
१२९. बलदेव उपाध्याय, *वैदिक साहित्य और संस्कृति*, काशी १९५८, पृ. ६२५.
१३०. A. Kaegi, *The Rigveda*, Delhi, 1975, p. 134.
१३१. *Vedic Mythological* Tracts, p. 223.
१३२. इन्द्राश्रयस्तु पर्जन्यो रुद्रो वायुर्बृहस्पतिः । बृ.दे. १/१२२.
१३३. बृ.दे. २/३४.
१३४. तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानः वायुः वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः । सूर्यो द्युस्थानः । नि. ७/२.

१३५. ऋ. १/४३, १/११४; H. H. Wilson, *Translation of the Rigveda.*

१३६. Max Muller, *Lectures on the Origin and Growth of Religion,* London, 1882, p. 216; Weber, *Indische Studien*, Vol. II, 1845, pp. 20-21; Kaegi, *The Rigveda*, p. 38; *Kuhn's Zeitschrift*, Part III, p. 335; Hopkins, *Journal of American Oriental Society*, 16, CL-CLii; Whitney, *JAOS*, III, p. 318; Bloomfield, *American Journal of Philology*, 12, p. 429.

१३७. Macdonell, *Vedic Mythology*, pp. 76-77.

१३८. Dandekar. *Vedic Mythological Tracts*, pp. 217-220.

१३९. L.V. Schroeder, *Wiener Zeitschrift fur die Kunde des Morgenlandes*, Part IX, p. 248.

१४०. Oldenberg, *Die Religion des Veda*, pp. 216-24.

१४१. A. Bergaigne, *La Religion Vedique ...... du Rigveda*, III, 1883, p. 31, 36.

१४२. Hillebrandt, *Vedic Mythology* (Tr.), Vol. II, pp. 287-290.

१४३. E. Arbman, *Rudra*, 1922, pp. 149-155.

१४४. E. Ghosh, *Studies on Rigvedic Deities*, Delhi, 1983, pp. 83-85.

१४५. ऋ. ७/५६/१२.

१४६. न वा उ योषद् रुद्रादसुर्यम् । ऋ. २/३३/९.

१४७. एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः । असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् । वा.सं. १६/५४ ; नि. १/५.

[Studies in Indology, Prof. R.V. Joshi Felicitation Volume, ed. Dr. A. Kumar, New Delhi, 1988-89, 36, pp. 331-348 में प्रकाशित ।]

* * *

३

अश्विनौ और दिव्य प्रकाश

अश्विनौ वैदिक देवशास्त्र के प्राचीनतम और महत्त्वपूर्ण देवताओं में परिगणनीय हैं । यह वह प्राचीनतम देवता-युग्म है, जिसके समकक्ष युगल-देवता ग्रीक और लैटिश देवशास्त्रों में उपलब्ध हैं । एशिया माइनर के बोगाज्क्यूई नामक स्थान पर मिले १४वीं शताब्दी ई. पू. के मृत्फलक पर 'नासत्या' नाम से अश्विनौ का ही उल्लेख हुआ है । इनके अनेक नाम, रूप और गुण ऋग्वेद के मन्त्रों में वर्णित हैं। वैदिक ऋषि की दृष्टि में अश्विनौ की प्रमुख विशेषताएँ और विशिष्ट गुण पर्याप्त स्पष्ट रहे हैं और मन्त्रों में उनकी विस्तार से अनेकशः चर्चा की गयी है; परन्तु इनके स्वरूप की मूल अवधारणा अत्यन्त रहस्यमय है और इनके आसपास गाथाओं और उपाख्यानों का एक जाल सा बुना हुआ दिखायी देता है। सम्भवतः इतनी गाथाएँ किसी और ऋग्वैदिक देवता के विषय में प्राप्त नहीं होती हैं । इनसे यदि एक ओर अश्विनौ की प्राचीनता, लोकप्रियता और महत्ता व्यक्त होती है, तो दूसरी ओर अश्विनौ के मूल स्वरूप के विषय में ही अस्पष्टता भी द्योतित होती है ।

अवान्तरकालीन ब्राह्मण और वेदाङ्ग-ग्रन्थों में अश्विनौ के वास्तविक स्वरूप का निर्धारण मतान्तर का विषय बना रहा । **अश्विनौ कौन हैं ?** इस सम्बन्ध में ब्राह्मणग्रन्थों ने कई विचार प्रस्तुत किये हैं, यथा - (१) द्यावापृथिवी अश्विनौ हैं, (२) दोनों कान, (३) दोनों नाक, (४) दोनों आँखें अश्विनौ हैं, (५) दोनों अध्वर्यु अश्विनौ हैं, (६) ये दोनों देवों के वैद्य हैं इत्यादि ।[1] निरुक्तकार यास्क ने इनके स्वरूप की चार वैकल्पिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं - पृथिवी तथा आकाश, सूर्य तथा चन्द्रमा, दिवारात्रि तथा दो ऐतिहासिक

पुण्यशाली राजा ।[२] वैदिक आचार्यों और विद्वानों ने अश्विनौ के स्वरूप की कल्पना के मूल को समझने का प्रयास करते हुए अनेक मतों और सम्भावनाओं को प्रस्तुत किया है । परन्तु वैदिक अश्विनौ के वास्तविक स्वरूप का आकलन वेद-अध्येताओं के लिए अभी भी पूर्ववत् रहस्यमय बना हुआ है । यहाँ ऋचाओं में वर्णित अश्विनौ की प्रमुख विशेषताओं के आलोचनात्मक अध्ययन की पृष्ठभूमि में अश्विनौ की वैदिक अवधारणा का प्राकृतिक आधार अध्येय है ।

निघण्टु और निरुक्त के अनुसार अश्विनौ द्युस्थानीय देवता हैं । ऋचाओं में आकाश, दिव्य प्रकाश, सूर्य, उषा, सूर्या, नीरोगता और लोककल्याण से इनका सम्बन्ध सुस्पष्ट है । इस आधार पर कदाचित् अश्विनौ को दिव्य लोक अर्थात् द्युलोक में प्रातः और सांयकाल में व्याप्त होने वाले स्वर्णिम प्रकाश का प्रतिरूप मानना उपयुक्त होगा । इस दृष्टिकोण से ऋग्वैदिक अश्विनौ में उनकी सभी प्रमुख विशेषताएँ सुसंगत होती दिखायी देती हैं और साथ ही वेदात्तरवर्ती अश्विनौ के सूर्यपुत्रत्व की व्याख्या भी सरलता से हो जाती है।

ऋक्संहिता में कुछ बार अश्विनौ को **दिवो नपाता** अर्थात् आकाश का पुत्र कहा गया है ।[३] एक बार इन्हें विवस्वान् और त्वष्टा की पुत्री सरण्यू का यमल पुत्र बताया गया है ।[४] विवस्वान् सूर्य के चमकते हुए एवं देदीप्यमान स्वरूप के वाचक हैं और निरुक्त के अनुसार सरण्यू सूर्यपत्नी का नाम है;[५] जिसे उषा भी माना जा सकता है । इस प्रकार अश्विनौ आकाश में उषा और सूर्य से उद्भूत होने वाले, सम्भवतः उनके आविर्भाव के बीच में आने वाले, किसी तत्त्व या शक्ति के रूप ठहरते हैं ।

अश्विनौ के देवरूप के विवरणों की मीमांसा करने पर हम पाते हैं कि उसके अधिकांश में उन्हें युवा, सुन्दर, शीघ्रगामी और प्रकाशमान बताया गया है । वे स्वर्णिम ज्योति से सम्पन्न होने के कारण **हिरण्यपेशसा** कहे गये हैं ।[६] उनकी यह विशेषता हिरण्यय सविता देवता का स्मरण कराती है । अश्विनौ के स्वर्णिम रूप और शुभ्रकान्ति या तेजस्वी सौन्दर्य का आधार उनका आकाशीय प्रकाश का प्रतिरूप होना ही है । यह तथ्य तब और अधिक पुष्ट होता है, जब हम अश्विनौ के वर्ण, पथ और स्थान के उल्लेखों की समीक्षा करते हैं । उन्हें ऋचाओं में अनेक बार रुद्र अर्थात् लाल रंग का बताया

गया है।[७] शतपथब्राह्मण में अश्विनौ को श्वेत तथा लोहित वर्ण का कहा गया है।[८] इससे उनका सूर्योदय से सम्बन्ध व्यक्त होता है। अश्विनौ के पथ का बार-बार उल्लेख हुआ है और इसके लिए 'वर्तिस्' शब्द का प्रयोग किया गया है। वर्तिस् शब्द एक-दो स्थलों को छोड़कर अधिकतर अश्विनौ के सन्दर्भ में ही आया है। विशेषकर अश्विनौ को **रुद्रवर्तनी** अर्थात् लाल मार्ग से गमन करने वाले[९] और **हिरण्यवर्तनी** अर्थात् सुनहरे मार्ग से गमन करने वाले[१०] या सुर्वणमय रथ वाले (सात. और सायण के अनुसार) ही कहा गया है। ऋग्वेद में 'रुद्रवर्तनी' विशेषण पद चार बार प्रयुक्त हुआ है और सर्वत्र 'अश्विनौ' के लिए ही है। 'हिरण्यवर्तनी' विशेषण आठ बार प्रयुक्त हुआ है। यह दो बार नदियों के लिए है और छह बार अश्विनौ के लिए। अश्विनौ के परिभ्रमण के द्योतनार्थ 'परिज्मन्' शब्द का प्रयोग अनेक बार उनके लिए या उनके रथ के लिए हुआ है। अश्विनौ के पथ और परिभ्रमण की चर्चा करने पर भी ऋषि का कौतूहल है कि 'वे कहाँ से आते हैं और कहाँ जाते हैं।' मन्त्रों में कहा गया है -"नासत्यौ अश्विनौ द्युलोक में या किधर विख्यात हैं ? वे दोनों कहाँ हैं ? किस मनुष्य के घर तुम प्रयत्न करते हो ?....भला तुम किसके समीप जाते हो ? किसके पास चले जाते हो ? किसके प्रति पहुंचने के लिए रथ को जोतते हो ? किसके स्तोत्रों से तुम रममाण होते हो ?" इत्यादि।[११] निश्चय ही उनका स्थान जिज्ञासा का विषय है। इसीलिए उसका निर्देश भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ है। कभी द्युलोक, कभी द्युलोक और अन्तरिक्ष, कभी वायुलोक, कभी पृथिवी, द्युलोक और समुद्र, कभी सुदूर और समीप आदि।[१२] इन सभी विवरणों से अश्विनौ के आवागमन, विस्तृत स्थान में व्याप्ति और स्वर्णिम कान्ति का आभास निर्विवाद रूप से ग्राह्य है। वे स्वर्णिम रूप और शुभस् (तेज या कान्ति) से सम्पन्न हैं। अश्विनौ न केवल युवा, स्वस्थ और सुन्दर हैं, अपितु विशेष रूप से शोभासम्पन्न और हिरण्यज्योति वाले होने से शुभस्पति और हिरण्यपेशसा भी कहे गये हैं।[१३] सुवर्ण के समान देदीप्यमान उनका रूप उन्हें एक प्रकाशदेव सिद्ध करता है।

अश्विनौ के प्राकृतिक परिवेश में **आविर्भाव** के काल के कतिपय संकेत मन्त्रों में उपलब्ध होते हैं। एक मन्त्र में कहा गया है -'जब रात्रि

अपनी बहिन उषा से दूर हटती है और लाल रंग वाले सूर्य के लिए मार्ग खुला कर देती है, तब अश्व और गो रूप वैभव देने वाले आप दोनों को हम बुलाते हैं।'[१४] कभी कहा गया है कि वे 'दिवो नपाता' उस समय पृथिवी पर आते हैं, जब अरुणवर्णा गाय रूपी सूर्यकिरणों से रात्रि का अन्धकार कुछ नष्ट होता है।[१५] अन्यत्र कहा गया है कि जब गुलाबी उषा दूर से पृथिवी पर आती है और क्रमशः श्वेत वर्ण वाली होती जाती है, तब अश्विनौ अपने पृथुपाजस् रथ से उषा के साथ-साथ चलने लगते हैं।[१६] उषा के साथ उनके सम्बन्ध को कई बार और अलग-अलग रूपों में दर्शाया गया है।[१७] इससे यह सुव्यक्त हो जाता है कि अश्विनौ का आविर्भाव-काल उषा के काल के आसपास ही है और अश्विनौ का प्रातःकाल और सूर्योदय से निश्चित सम्बन्ध है। इससे भी उषा के आगमन और सूर्योदय के बीच में आकाश में परिव्याप्त होने वाले प्रातःकालीन स्वर्णिम प्रकाश को अश्विनौ की धारणा का मूल रूप मानना उचित प्रतीत होता है। ऐतरेयब्राह्मण ने अश्विनौ को उषा और अग्नि की भांति प्रातःकाल का देवता बताया है।[१८] उषःकाल की सुनहरी किरणों से सम्बन्ध होने के कारण ही उन्हें **पुष्करस्रजौ** अर्थात् 'कमलपुष्पों की माला धारण करने वाले' कहना सर्वथा सुसंगत है।[१९]

अश्विनौ की एक प्रमुख विशेषता है—उनका **सूर्या का पति** होना और उसे अपने रथ पर बैठाना। कहा गया है कि सूर्या ने स्वयं 'अश्विनौ' को पति के रूप में वरण किया।[२०] यह सूर्या सूर्य की योषा दुहिता है, जो अश्विनौ के रथ पर बैठती है।[२१] मन्त्रों में कई बार सूर्य की युवती पुत्री सूर्या के अश्विनौ के रथ पर बैठने का उल्लेख हुआ है।[२२] दशम मण्डल का सूर्यासूक्त सोम को सूर्या का पति (वधूयु) और अश्विनौ को 'वर के परिचर' के रूप में चित्रित करता है।[२३] यहाँ सोम पवमान सोम से पर्याप्त भिन्न हैं; इसलिए सूर्या से उनका सम्बन्ध कदाचित् परवर्ती विकास-क्रम के अन्तर्गत विचारणीय है। प्रारम्भिक मण्डलों में सूर्या का सम्बन्ध अश्विनौ से दर्शाया गया है। सूर्य की यह दुहिता सूर्या अपने प्राकृतिक स्वरूप में उषा के समकक्ष मानी जा सकती है। अतः कह सकते हैं कि प्रातःकालीन प्रकाश के पुरुष देवता का रूप होने के कारण ही अश्विनौ से सूर्या के उक्त सम्बन्ध की परिकल्पना की गयी है।

जिस प्रकार अश्विनौ 'हिरण्यपेशसा' हैं, उसी प्रकार उनका **रथ** भी 'हिरण्यय' है।[२४] उनके रथ के चक्र, अक्ष, परिधि (पवयः), रश्मियाँ (अभीशुः) आदि सब अवयव स्वर्णिम हैं।[२५] प्रातः काल की सुनहरी किरणों से सम्बद्ध होने के कारण ही अश्विनौ के रथ को न केवल स्वर्णनिर्मित या हिरण्मय बताया गया है, अपितु एक सहस्र किरणों से अलङ्कृत भी कहा गया है।[२६] एक मात्र 'अश्विनौ' के रथ को ही 'त्रिचक्र' और 'त्रिवृत' अर्थात् तीन चक्र वाला और तीन छोर वाला कहा गया है। एक सम्पूर्ण सूक्त (१/३४) में अश्विनौ का 'त्रि' से बहुविध सम्बन्ध दिखाया गया है, यथा– तीन बार आओ, तीन बार जाओ, तीन बार शिक्षा दो, तीन बार ढ़ो, तीन बार धन दो इत्यादि। कदाचित् 'त्रि' से इस विलक्षण सम्बन्ध के आधार पर रथ को भी 'त्रिस्थ' या 'त्रिचक्र'[२७] अर्थात् तीन पहियों वाला कहा गया है। अश्विनौ के इस विशेष पक्ष की व्याख्या करना कठिन है। दिन के तीन कालों या तीन लोकों के रूप में इसकी व्याख्या सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होती है। सन्देह नहीं कि अश्विनौ का रथ आकाश में उड़ने वाला माना गया है, इसलिए उसमें बहुधा शीघ्रगामी पक्षी अश्वों के रूप में जोड़े जाते हैं।[२८] अथवा वे उड़ने वाली नौकाओं पर विचरण करते हैं।[२९] उनके रथ में पक्षीसदृश वाहकों की परिकल्पना द्वारा उनका आकाशीय परिभ्रमण सम्पुष्ट होता है।

अश्विनौ का रथ द्युलोक की परिक्रमा करता है।[३०] वे अपनी नावों के द्वारा दिव्य समुद्ररूप द्युलोक को लाँघ जाते हैं।[३१] ऐसे विवरण इस तथ्य को प्रकट करते हैं कि अश्विनौ दिव्य लोक में व्याप्त एवं शीघ्रगामी **प्रकाशतत्त्व के वाचक** हैं।

ऋग्वैदिक अश्विनौ का **मधु से सम्बन्ध** अन्य देवताओं की तुलना में अधिक वर्णित है। उनकी अपनी विशेषता 'मधुमती कशा' है।[३२] उनका रथ भी मधुवर्ण या मधुवाहन है।[३३] केवल उन्हें ही 'मधुपा' कहा गया है।[३४] उनके मधुसम्बन्ध की व्याख्या यद्यपि कठिन है, तथापि प्रातःकालीन मधुरिमा और मनोहर वातावरण के रूप में इसे ग्रहण करने पर अश्विनौ के उक्त स्वरूप की समीक्षा सम्भव है।

अश्विनूद्वय की प्रधानतम विशेषता उनका आरोग्यकर्ता और **दिव्य भिषज्** होना है; इसीलिए विपन्नों के सहायक, रक्षक और रोगनिवारक रूप

में उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है और इसके लिए अनेक उपाख्यान भी कहे गये हैं। अश्विनौ की इस चारित्रिक विशेषता का स्पष्टीकरण उनको दिव्य या आकाशीय प्रकाश का देवता मानने पर किया जा सकता है; क्योंकि स्वास्थ्य के लिए प्राकृतिक शक्तियों और तत्त्वों में सूर्य से उद्भूत प्रातःकालीन प्रकाश की उपादेयता सर्वाधिक है। अश्विनौ का भिषक् रूप उनके युग्म रूप को समझने में सहायक है। अश्विनौ के आविर्भाव-काल, द्यौस् और सूर्य से सम्बन्ध, उषा और सूर्या से सम्बन्ध, प्रकाशमय रूप, द्युलोक की परिक्रमा, पुष्करस्रज विशेषण, मधु से सम्बन्ध आदि तथ्यों द्वारा उन्हें केवल प्रातःकालीन आकाश में परिव्याप्त प्रकाश के प्रतिनिधि देवता के रूप में ही समझा जा सकता है। इससे उनका युगल रूप अव्याख्यात रह जाता है। विस्तारपूर्वक भिषजूरूप की प्रशस्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि 'अश्विनौ' वस्तुतः प्रातःकालीन और सायंकालीन दिव्य प्रकाश का युग्म रूप रहे होंगे, क्योंकि स्वास्थ्य और प्रकृति के लिए दोनों कालों का महत्त्व लगभग समान माना जाता है।

उक्त सम्भावना के अनुसार अश्विनौ दिव्यलोक के एक छोर से दूसरे छोर तक प्रातःकाल और सायंकाल फैलने वाले उस स्वर्णिम प्रकाश के प्रतिरूप हैं; जो सूर्योदय और सूर्यास्त के तुरन्त पहले द्युलोक में परिव्याप्त दीखता है। इसीलिए निरुक्त में 'अश्विनौ' नाम की व्युत्पत्ति व्याप्त्यर्थक √अश् से की गयी है - 'जो सबको व्याप्त कर लेते हैं'।[३५] इनमें एक के आने के बाद प्रकाश व्यापता है और दूसरे के आने के बाद अन्धकार। निरुक्त के अनुसार एक ज्योति से व्यापता है और दूसरा रस से। स्वरूपतः समरूप और समगुण होने पर भी ये अलग-अलग माने गये हैं। दोनों अश्विनौ का सहस्तवन है और नाम द्विवचनात्मक है। कुछेक मन्त्रों में इनके मूलतः पृथक्-पृथक्[३६] होने अथवा जन्म लेने के संकेत भी हैं। एक बार एक अश्विन् का उल्लेख हुआ है।[३७] दो में से एक अश्विन् को द्यौस् का पुत्र भी कहा गया है।[३८] स्पष्ट ही ऋग्वैदिक दृष्टि में वे युग्मरूप होकर भी अभिन्नरूप नहीं हैं।

यास्क के पूर्ववर्ती आचार्य और्णवाभ ने 'अश्विनौ' नाम की व्याख्या 'जिनके पास अश्व हों' इस रूप में की है।[३९] अश्विनौ का अश्वों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, अतः अश्वों को प्रतीक मानकर सूर्य-किरणों का

उपलक्षण समझना चाहिए। ऋग्वैदिक ऋषि ने स्वयं सूर्य की रस-हरण-शील रश्मियों को 'हरितः' नामक अश्व कहा है। इस दृष्टिकोण से भी 'अश्विनौ' **अश्वरूप किरणों से सम्पन्न** आकाशीय प्रकाश के प्रतिरूप प्रतीत होते हैं।

वेदोत्तर पुराणसाहित्य में देवताओं के विकसित और परिवर्तित रूपों का दिग्दर्शन होता है। वहाँ अश्विनौ अथवा जुड़वा अश्विन् कुमार सूर्य के यमल पुत्रों के रूप में वर्णित किये गये हैं। जब सूर्य के अतिशय तेज को सहन न कर सकने के कारण सूर्यपत्नी 'संज्ञा' अपनी सवर्णा 'छाया' को अपने स्थान पर छोड़कर अश्वी का रूप धारण कर तपस्या के निमित्त वन में चली गयी, तब अश्वरूप धारण कर सूर्य ने उसका अनुसरण किया। उन दोनों के संयोग से नासत्य और दस्र नामक दो अश्विनूकुमारों की उत्पत्ति हुई - इस प्रकार की कथा पुराणों में विस्तार से बहुशः कही गयी है।[४०] इस कथा का प्रारम्भिक स्वरूप निरुक्त और बृहद्देवता में भी मिलता है।[४१] कथा से स्पष्ट है कि 'अश्विनौ' नाम में उनके अश्व-सम्बन्ध को प्रमुखता दी जा रही है। वैदिक दृष्टि में 'अश्व' रश्मि या सूर्य का प्रतीक है, अतः उत्तरवर्ती विकासक्रम को ध्यान में रखने पर भी 'अश्विनौ' को आकाशीय दिव्यप्रकाश का प्रतिरूप मानना उपयुक्त है। इससे उनका सूर्य या विवस्वान् और उषा या सरण्यू (संज्ञा) का पुत्र होना भी सिद्ध होता है।

अतः ऋग्वैदिक अश्विनौ प्राकृतिक आधार पर आकाश में सूर्य से उद्भूत होने वाले प्रातःकालीन और सायंकालीन स्वर्णिम प्रकाश का युग्म रूप प्रतीत होते हैं। उनके स्वरूप की अत्यधिक व्यापकता और सुन्दरता इस अवधारणा का नियामक तथ्य है।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनाविमे हीदं सर्वमाश्नुवाताम्। शत. ब्रा. ४/१/५/१६ ; श्रोत्रे अश्विनौ। शत. ब्रा. १२/६/१/१३; नासिके अश्विनौ। शत. ब्रा. १२/६/१/१४ ; तद्यौ ह वाऽइमौ पुरुषाविवाक्ष्योः। एतावेवाश्विनौ।शत.ब्रा. १२/६/१/१२; अश्विनावध्वर्यू। ऐ. ब्रा. १/१८ ; अश्विनौ वै देवानां भिषजौ। ऐ. ब्रा. १/१८; कौ. ब्रा. १८/१.

२. नि. १२/१.

३. ऋ. १/१८२/१, १/१८४/१, १०/६१/४.
४. ऋ. १०/१७/२, १०/६१/४.
५. नि. १२/६.
६. भुजी हिरण्यपेशसा कवी गम्भीरचेतसा । ऋ. ८/८/२.
आ शुभ्रा यातमश्विना । ऋ. ७/६८/१,८/२२/१४,१०/६३/४.
७. रुद्रा हिरण्यवर्तनी । ऋ. ५/७५/३.
८. श्येत आश्विनो भवति । श्येताविव ह्यश्विनौ ।
लोहित अश्विनो भवति तद् यदेतया यजते ।। शत.ब्रा. ५/५/४/१.
९. ऋ. १/३/३, ८/२२/१, ८/२२/१४, १०/३९/११; यजु. ३३/५८.
१०. ऋ. १/६२/१८, ५/७५/२-३, ८/८/१, ८/५/११, ८/८७/५.
११. कुह त्या कुह नु श्रुता दिवि देवा नासत्या ।
कस्मिन्ना यतथो जने को वां नदीनां सचा ।।
कं याथः कं ह गच्छथः कमच्छा युञ्जाथे रथम् ।
कस्य ब्रह्माणि रण्यथो वयं वामुश्मसीष्टये ।। ऋ. ५/७४/२-३.
१२. ऋ. ८/८/७, ८/८/४, ८/८/३, ८/१०/१, ५/७३/१, ८/९/२
इत्यादि.
१३. भुजी हिरण्यपेशसा कवी गम्भीरचेतसा । ऋ. ८/८/२.
शुभ्रा । ऋ. ७/६८/१ ; शुभस्पती । ऋ. ८/२२/१४, १०/६३/६.
१४. अप स्वसुरुषसो नग्जिहाते रिणक्ति कृष्णीररुषाय पन्थाम् ।
अश्वामघा गोमघा वां हुवेम..... ।। ऋ. ७/७१/१.
१५. कृष्णा यद् गोष्वरुणीषु सीदद् दिवो नपाताश्विना हुवे वाम् ।
ऋ. १०/६१/४.
१६. दूरादिहेव यत् सत्यरुणप्सुरशिश्वितत् ।
नृवद् दस्रा मनोयुजा रथेन पृथुपाजसा ।
सचेथे अश्विनोषसम् ।। ऋ. ८/५/१-२.
१७. ऋ. १/३४/१०, १/१५७/१, ५/७६/३, ८/९/१७, ८/२२/१४.
१८. ऐत वाव देवाः प्रातर्यावाणो यदग्निरुषा अश्विनौ । ऐ. ब्रा. २/१५.
१९. ऋ. १०/१८४/२; अथर्व. ३/२२/४, ५/२५/३; शत.ब्रा. ४/१/५/१६;
वा.सं. २/३३, *श्रीमद्भागवतपुराण* ६/३/१५.
२०. आ वां पतित्वं सख्याय जग्मुषी योषावृणीत जेन्या दुवां पती ।

ऋ. १/११६/५, १/११७/१३.

येन पती भवथः सूर्यायाः । ऋ. ४/४३/६.

२१. युवोः श्रियं परि योषावृणीत सूरो दुहिता परितक्म्यायाम् । ऋ. ७/६६/४.

२२. ऋ. १/३४/५, १/११६/१७, १/११७/१३, १/११८/५, ४/४३/४. ५/७३/५, ६/६३/५, ८/८/१०.

२३. ऋ. १०/८५/६,१४.

२४. हिरण्ययेन पुरुभू रथेन ... । ऋ. ४/४४/४,५.

२५. ऋ. ८/५/२६, १/१८०/१, ८/२२/५.

२६. ऋ. १/११६/१, ८/८/११.

२७. त्रिष्ठं वां सूरे दुहिता रुहद् रथम् । ऋ. १/३४/५.
त्रिवृतो रथस्य । ऋ. १/३४/६,१२.

२८. ऋ. १/११२/१२, १/११८/४, १/१२०/१०, ६/६३/६,७, ८/५/७.

२९. ऋ. १/११६/२,३,४,५, १/१८२/५.

३०. ऋ. १/१८०/१०, ३/५८/८.

३१. ऋ. १/४७/६, ४/४३/५.

३२. ऋ. १/१५७/४, ६/१.

३३. ऋ. ८/२२/६.

३४. ऋ. ८/२२/१७.

३५. अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषान्यः । नि. १२/१.

३६. ऋ. १/१८१/४, ५/७३/४.

३७. परिज्मने नासत्याय क्षे ब्रवः । ऋ. ४/३/६.

३८. ऋ. १/१८१/४.

३९. अश्वैरश्विनौ इत्यौर्णवाभः । नि. १२/१.

४०. *मत्स्यपुराण* ११/५,६.

४१. नि. १२/१०; बृ. दे. ७/१-७.

[**संस्कृत-विमर्शः, दशम-विश्वसंस्कृत-सम्मेलन-विशेषाङ्कः**, सं. डॉ. कमलाकान्त मिश्र, राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थान, १९९९, पृ. ७५-८१ **में प्रकाशित ।**]

***

'विश्वेदेवाः' के सूक्तों में देवतानिर्धारण

निरुक्तकार का प्रतिपादन है कि 'जिस किसी पदार्थ की कामना करता हुआ ऋषि जिस देवता से अर्थपतित्व चाहता हुआ स्तुति करता है, वह मन्त्र उसी देवता का समझना चाहिए ।'[१] आचार्य शौनक ने इस सम्बन्ध में कहा है 'किसी पदार्थ को चाहता हुआ ऋषि जिस-जिस की प्रधानता से या गौण रूप से स्तुति करता हुआ कहता है 'यह हो'– वह मन्त्र उस देवता का है ।'[२] तात्पर्य है कि उस मन्त्र का देवता वही है । सामान्य रूप से कहा जाता है कि मन्त्रों का वर्ण्य-विषय 'देवता' है । यह व्याख्या सर्वप्रथम संकेत रूप में कात्यायन ने[३] और स्पष्ट रूप में षड्गुरुशिष्य ने[४] दी है । कात्यायन की ऋक्सर्वानुक्रमणी में ऋक्संहिता के जिन सूक्तों या मन्त्रों को 'विश्वेदेवाः' का बताया गया है, उनकी संख्या पर्याप्त बड़ी है । तदनुसार लगभग ६० सूक्त सम्पूर्ण रूप से और २० सूक्त आंशिक रूप से 'विश्वेदेवाः' को समर्पित हैं । 'विश्वेदेवाः' को नामित इन सूक्तों या मन्त्रों में देवता-निर्धारण का उपर्युक्त प्रकार से एक ही आधार रहा हो - ऐसा प्रतीत नहीं होता ।

ऋक्संहिता में 'विश्वेदेवाः' से कौन सा देवसमूह या देवता अभिप्रेत रहे हैं - यह प्रायः अस्पष्ट और धूमिल है । विश्वेदेवाः के ऋग्वेदीय सूक्तों के विवेचन से उनमें देवतानिर्धारण-विषयक जो तथ्य उभर कर सामने आते हैं, वे यहाँ अध्येय हैं ।

'विश्वेदेवाः' को प्रदत्त कतिपय मन्त्रों में उनका चित्रण एक देवगण की भाँति हुआ है । कहा गया है कि जो इस गण (**ईं गणम्**) की उत्तम स्तुतियों से उपासना करता है, वह सदैव धन से पूर्ण, यज्ञ करने वाला, कुटिल जनों का नाशक, ज्ञान-सम्पन्न, शक्तिशाली एवं शत्रुहन्ता होता है और दोनों वरों

के प्रति प्रगति करता है ।[५] विश्वेदेवाः का यज्ञार्थ स्तवन करते हुए उनकी संख्या ३३ बतायी गयी है ।[६] अन्यत्र भी महान् स्तुत्य, यज्ञिय, हिंसकों के नाशक और ज्ञानी विश्वेदेवों की संख्या ३३ कही गयी है ।[७] विश्वेदेवाः को समर्पित एक दूसरे मन्त्र में उनकी संख्या का निर्देश स्थानानुसार किया गया है– 'हे देवों ! द्युलोक में तुम अपनी शक्ति से ग्यारह हो, पृथिवी पर ग्यारह हो और अन्तरिक्ष में ग्यारह हो ।'[८] जब विश्वेदेवों का आवाहन आदित्याः, वसवः[९], या वसवः, रुद्राः, मरुतः[१०] इत्यादि सुनिश्चित देवगणों के साथ किया गया है, तब भी वे दूसरे देवगणों के समान ही एक विशेष देवगण प्रतीत होते हैं ।[११] मैकडॉनल और कीथ ने वैदिक देवताओं के वर्गीकरण में उन्हें देवगणों में ही आम्नात भी किया है ।[१२]

प्राचीन भारतीय परम्परा 'विश्वेदेवाः' को **सर्वे देवाः** अर्थात् सभी देवताओं का समूह मानने के पक्ष में है (विश्वे=सर्वे+देवाः) । यास्क ने विश्वेदेवाः को 'सर्वे देवाः' कहा है[१३] और कई ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी यही दृष्टिकोण दिखलायी देता है ।[१४] डॉ. सूर्यकान्त की मान्यता है कि सम्पूर्ण देवों को जहाँ एक साथ उद्दिष्ट करने की आवश्यकता समझी गयी है, वहाँ उन्हें 'विश्वेदेवाः' के नाम से अभिहित किया गया है ।[१५] डॉ. फतह सिंह ने भी इसे शाब्दिक अर्थ के आधार पर सभी देवताओं का समुदाय बताया है, जो अपने मूल रूप में सूर्य-रश्मियों का वाचक रहा होगा अथवा प्राणों का द्योतक रहा होगा, किन्तु वस्तुतः एक ही सत्य की अनेकता का प्रतीक है ।[१६] स्वामी दयानन्द ने 'विश्वे' के 'सर्वे' अर्थ के आधार पर 'विश्वेदेवाः' से यथास्थान सब विद्वान्, द्योतक वेदमन्त्र, इन्द्रियाँ, सूर्य-किरणें आदि अर्थ ग्रहण किये हैं।[१७]

'विश्वेदेवाः' को समर्पित कुछ सूक्तों और मन्त्रों में सर्वदेवों के उद्देश्य से किया गया आवाहन और स्तवन पर्याप्त सुस्पष्ट है। विशेषकर उन ऋचाओं में जहाँ देवाः[१८], देवासः[१९], विश्वेदेवाः[२०], विश्वेदेवासः[२१] अथवा विश्वे[२२] पदों का प्रयोग कर्ता या सम्बोधन के रूप में हुआ है, सभी देवताओं के स्तवन की भावना स्पष्टतया व्यञ्जित है । ऋ. १/३/७-९ सङ्ख्यक मन्त्रों में 'विश्वेदेवासः' की प्रत्यक्ष स्तुतियाँ हैं, क्योंकि इन तीन मन्त्रों में उनको नाम से सम्बोधित किया गया है; जबकि सूक्त के शेष मन्त्र अश्विनौ, इन्द्र और सरस्वती के हैं। दर्शनीय है कि विश्वेदेवाः के इन तीनों मन्त्रों में किसी अन्य

देवता का नाम तक नहीं आया है और 'अस्रिधः (अहिंसनीय), अद्रुहः (द्रोहरहित), अप्तुरः (कर्मकुशल) तूर्णयः (शीघ्रकर्मी), ओमासः (सर्वरक्षक), चर्षणीधृतः (मनुष्यों के धारक) आदि विशेषणों द्वारा विश्वेदेवों का स्वरूप वर्णित हुआ है। अतः यहाँ विश्वेदेवाः द्वारा सामान्य रूप से सभी देवताओं का अभिप्राय सरलता से ग्राह्य है। द्वितीय मण्डल के ४१ वें सूक्त में २१ मन्त्र हैं। सर्वानुक्रमणी के अनुसार इसमें १३ से १५ सङ्ख्यक मन्त्र 'विश्वेदेवाः' के हैं, और शेष वायु, इन्द्र, इन्द्रवायू, मित्रावरुणौ, अश्विनौ, सरस्वती, द्यावापृथिवी आदि के हैं। इन तीनों मन्त्रों में से दो में विश्वेदेवाः से यज्ञ में आने और प्रार्थना सुनने का नामतः अनुरोध किया गया है और किसी दूसरे देवता के नाम का प्रयोग नहीं है, अतः देवता-निर्धारण का आधार स्पष्ट ही उसमें प्रार्थनीय देव हैं।

७/५० सङ्ख्यक चार मन्त्रों के सूक्त में अनुक्रमणी के अनुसार तीसरा मन्त्र 'विश्वेदेवाः' का है, जिसमें उनसे वृक्षों, वनस्पतियों और जलों में होने वाले नाना प्रकार के विष को दूर करने की प्रार्थना है; 'विश्वेदेवाः' पद का भी व्यवहार हुआ है।[२३] ऋ. ८/३० सङ्ख्यक सूक्त में एक समूह के रूप में विश्वेदेवाः का स्तवन है, जिनकी संख्या ३३ है। इसमें किसी दूसरे देवता के नाम को लिए बिना विश्वेदेवासः, देवाः और देवासः पदों के प्रयोग के साथ विश्वेदेवों की विशेषताओं का चित्रण है। अठारह मन्त्रों के ८/६६ सङ्ख्यक सूक्त में सर्वानुक्रमणी के अनुसार ग्यारहवें मन्त्र का उत्तरार्ध 'विश्वेदेवाः' के निमित्त है, इसमें इन्द्र और अग्नि के सोम पीने और विश्वेदेवों के सोम पीकर आनन्दित होने की बात कही गयी है; परन्तु इस अर्धर्च के देवतानिर्धारण में विश्वेदेवाः के नामतः उल्लेख ने अवश्य ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। अन्यथा आधी ऋचा और एक अन्य ऋचा वरुण को और शेष ऋचाएँ इन्द्र को किस आधार पर दी गयी हैं ?

एक सम्पूर्ण सूक्त (१०/१६५) में सामान्य रूप से देवों को सम्बोधित करते हुए कपोत दूर भगाने की प्रार्थना है, जिसे 'विश्वेदेवाः' को अर्पित किया गया है। १०/११४ सङ्ख्यक सूक्त में देवयजन और देवस्तवन का विशद और विविधतया चित्रण है। देवताओं के अपने-अपने हविर्भाग पाने का वर्णन है।[२४] अतः देवसामान्य को विषय बनाने वाले सूक्त का देवता

'विश्वेदेवाः' को कहना उसके वर्ण्यविषय के अनुकूल बैठता है ।

विश्वेदेवाः के ३/५५ सङ्ख्यक सूक्त में २२ मन्त्र हैं, जिनमें उषा, अग्नि, विष्णु, रात्रि, सूर्य, विद्युत्, त्वष्टा, मेघ, सूर्य आदि अनेक दिव्य-शक्तियों के अद्भुत कार्यों का आलङ्कारिक शैली में गम्भीर आध्यात्मिक विवेचन हुआ है और प्रत्येक मन्त्र के अन्तिम पाद के रूप में **महद्देवानामसुरत्वमेकम्** कह कर देवों के अद्भुत कर्मों की अनुशंसा की गयी है, अतः अप्रत्यक्षतया सभी देवों के महान् कर्मों का स्तवन हो जाने से सूक्त का देवता 'विश्वेदेवाः' को बताना सुस्पष्ट है । विश्वेदेवाः को समर्पित एक सूक्त (८/२९) को श्री हरिदामोदर वेलणकर ने 'कूट सूक्त' की संज्ञा दी है । इसमें दस मन्त्र हैं। प्रत्येक में अलग-अलग देवता वर्णित अवश्य हैं, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से उनका नाम उन-उन मन्त्रों में नहीं आया है । श्री वेलणकर ने देवताओं के स्वरूप-वर्णन के आधार पर उनमें सोम, अग्नि, इन्द्र, रुद्र, पूषा, विष्णु, अश्विनौ, सूर्या, मित्रावरुणा, अङ्गिरस आदि का संकेत माना है ।[२५] श्री सातवलेकर ने भी इसी प्रकार से अभिप्राय लिया है ।[२६] स्पष्ट रूप में किसी देवता का नाम न होने पर भी बहुत देवताओं की चर्चा होने से सूक्त का देवता 'विश्वेदेवाः' को मानना सहज और युक्तियुक्त है । इस प्रकार के विश्वेदेवाः के ऋग्वेदीय सूक्त या मन्त्र अपेक्षाकृत कम ही हैं, जिनमें 'विश्वेदेवाः' को देवता मानने का आधार स्पष्ट रूप से उनमें चर्चित 'सर्वे देवाः' रहा है ।

ऋक्संहिता में प्राप्त और ऋक्सर्वानुक्रणी[२७] में निर्दिष्ट 'विश्वेदेवाः' के शेष सूक्तों या मन्त्रों (जो उपर्युक्त सूक्तों की तुलना में कहीं अधिक हैं) में प्रमुख और गौण सभी प्रकार के देवताओं की चर्चा या स्तुति पायी जाती है । इस ऋचाएँ को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है :-

(१) वे सूक्त या मन्त्र, जिनमें स्पष्ट रूप से किसी प्रसिद्ध देवता या देवताओं का स्तवन और वर्णन है; और 'विश्वेदेवाः' या इसके समकक्ष नाम भी यदा-कदा व्यवहृत हुए हैं ।

(२) वे सूक्त या मन्त्र, जिनमें केवल दूसरे देवताओं के ही वर्णन या सम्बोधन हैं और 'विश्वेदेवाः' पद के प्रयोग का अभाव है ।

प्रथम श्रेणी में आने वाली ऋचाएँ ही सर्वाधिक हैं । ऋ. १/१४ में ६ मन्त्रों

का देवता 'विश्वेदेवाः' बतलाया गया है; जब कि इनमें से पाँच मन्त्रों में स्पष्टतः 'अग्नि' को सम्बोधित करते हुए ऋषि की प्रार्थना है कि वे आऐं और प्रार्थना सुनें। यद्यपि विश्वेदेवों (विश्वान् देवान्) को साथ लाने का अनुरोध भी उनसे किया गया है। ऋ. १/२३/१०-१२ सङ्ख्यक तीन मन्त्रों का देवता 'विश्वेदेवाः' कहा गया है, परन्तु तीनों ही मन्त्रों में मरुतों से आने और रक्षा करने के लिए प्रार्थना है। यहाँ प्रयुक्त 'विश्वान् देवान्' पद 'मरुतः' के विशेषण प्रतीत होते हैं।[२८]

ऋ. १/८६/३-७ सङ्ख्यक पाँच मन्त्रों का देवता 'विश्वेदेवाः' निर्देशित है; यद्यपि इनमें भग, अदिति, मित्र, दक्ष, अर्यमन्, वरुण, सोम, अश्विनौ, सरस्वती, पृथिवी, द्यौ, ग्रावन्, पूषा, इन्द्र, तार्क्ष्य, बृहस्पति, वायु, मरुत् आदि अनेक देवताओं के साथ नामतः 'विश्वेदेवाः' का स्तवन किया गया है। ऋ. १/१२२ सङ्ख्यक विश्वेदेवाः के सूक्त में १५ मन्त्र हैं ; पर विश्वेदेवाः (३,१४) और विश्वे (१२) नाम से कुछ मन्त्रों में उनका साक्षात् स्तवन है, अन्यथा शेषमन्त्रों में रुद्र, उषा, सूर्य, वायु, इन्द्र, पूषा, मित्रावरुणा आदि देवों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। ग्यारह मन्त्रों के १/१८६ सूक्त में अलग-अलग मन्त्रों में एक या अनेक प्रसिद्ध देवताओं की स्तुतियाँ और प्रार्थनाएँ हैं, यथा-सविता, वरुण, मित्र, अर्यमन्, अग्नि, उषासानक्ता, अहिर्बुध्न्य, इन्द्र, मरुत्, रोदसी, मरुद्गण, अश्विनौ, पूषा इत्यादि ; केवल दूसरे मन्त्र के 'विश्वेदेवाः' और ग्यारहवें मन्त्र में 'यजत्रा' पदों द्वारा सामान्य देवों का स्मरण किया गया है। प्रथम मण्डल के ही १०५ वें सूक्त में रोदसी, चन्द्र, सूर्य, अर्यमन्, वरुण, अग्नि, मित्र, सिन्धु, पृथिवी आदि के स्तवन के साथ कभी-कभी देवों को सम्बोधित करते हुए शत्रु-पराभव काम्य रहा है।

'विश्वेदेवाः' को समर्पित १/१०६; २/२६; २/३१; ३/५४; ३/५७; ४/५५; ५/४१; ५/४२, १-१०, १२-१८; ५/४३; ५/४४; ५/४५; ५/४६/१-६; ५/५१/१-३, ८/१५; ६/२१/६, ११; ६/४६; ६/५०; ६/५१; ६/५२; ७/३४/१-१६, १८-२५; ७/३५; ७/३६; ७/४३; ८/२७; ८/८३; १०/३१; १०/३३/१; १०/३५; १०/३६; १०/५२; १०/६१; १०/६३/१-१४, १७; १०/६४; १०/६५; १०/६६; १०/९२; १०/९३; १०/१००; १०/१०१; १०/१०९; १०/१२६; १०/१२८; १०/१३७; १०/१४१; १०/१५५/५;

१०/१५७ सङ्ख्यक अनेक सूक्तों में भी इसी प्रकार अनेकानेक देवताओं के नामतः उल्लेख और स्तवन के साथ ही यदा-कदा एक या एक से अधिक मन्त्रों में विश्वेदेवाः, विश्वेदेवासः, देवाः या देवासः जैसे पदों के प्रयोग द्वारा विश्वेदेवों का भी आवाहन किया गया है। सूक्तों में जिन देवताओं के नाम आये हैं, वे हैं– आदित्याः, रुद्राः, वसवः, मरुतः, द्यावापृथिवी, मित्रावरुणा, उषासानक्ता, अश्विनौ, इन्द्र, अग्नि, वरुण, सोम, मित्र, अर्यमन्, भग, अदिति, पूषा, त्वष्टा, अहिर्बुध्न्य, सविता, सूर्य, पृथिवी, पर्वत, सिन्धु, नदियाँ, नदी, देवपत्नियाँ, पितर, ऋभु, आपः, चन्द्र, रुद्र, ऋक्षुभा, वात, वायु, उषा, बृहस्पति, सरस्वती, राका, अध्वर्यु, विष्णु, पर्जन्य, अजएकपात्, इन्द्रवायू, इन्द्रावरुणा, इन्द्रासोमा, वनस्पति, द्यौस्। कह सकते हैं कि लगभग सभी ऋग्वेदीय देव, देवयुग्म, देवियाँ एवं दिव्यगण इनमें उल्लिखित हुए हैं। इनकी विवेचना करने पर हम पाते हैं कि जिस प्रकार पवमान नामक नवम मण्डल में केवल एक ऋचा 'विश्वेदेवाः' को समर्पित है[२९], उसी प्रकार इन देवताओं में सोम देवता का नाम अपेक्षाकृत कम बार आया है। जिनके नाम अधिक बार आ रहे हैं, वे हैं-अश्विनौ, मरुत्, द्यावापृथिवी, सूर्य, सविता, मित्र, भग, वरुण, अर्यमन्, अग्नि, मित्रावरुणा, इन्द्र, अदिति और आदित्याः।

'विश्वेदेवाः' को समर्पित वे ऋग्वेदीय सूक्त या मन्त्र, जिनमें 'विश्वेदेवाः' पद अप्राप्त है और दूसरे देवताओं का नामतः स्तवन या वर्णन है, कई हैं, यथा - १/९० में ९ मन्त्र हैं, जिनमें वरुण, मित्र, अर्यमन्, इन्द्र, मरुत्, पूषा, भग, विष्णु, वात, उषा, रात्रि, द्यावापृथिवी, वनस्पति, सूर्य, बृहस्पति आदि से सर्वविध सुख और शान्ति काम्य है, अर्यमन् को देवों के साथ[३०] आने के लिए कहा गया है, अन्यथा 'विश्वेदेवाः' नाम तक अप्रयुक्त रहा है।[३१] विश्वेदेवाः का तीन मन्त्रों का छोटा सा सूक्त १/१०७ है, जिसमें आदित्याः, अदिति, इन्द्र, वरुण, अग्नि, अर्यमन्, सविता, मित्र, सिन्धु, पृथिवी, द्यौ आदि देवों से प्रार्थना है, परन्तु 'विश्वेदेवाः' नाम तक नहीं आया है।[३२] १/१३९/१ सङ्ख्यक ऋचा विशेष रूप से विश्वेदेवाः की कही गयी है, जिसमें देवों (देवान्) के साथ अग्नि और इन्द्रवायू से प्रार्थना की गयी है। ३/२० सङ्ख्यक सूक्त के दो मन्त्र (१,५) 'विश्वेदेवाः' को निर्दिष्ट हैं और शेष अग्नि को। प्रथम मन्त्र में अग्नि, उषा, दधिका, अश्विनौ के अतिरिक्त **सजोषसः**

देवाः से भी प्रार्थना की गयी है, परन्तु पञ्चम मन्त्र में कई देवताओं का नामतः यज्ञ में आवाहन है और 'विश्वेदेवाः' की कोई चर्चा नहीं है।[३३] ऋ. ३/५६ सङ्ख्यक सूक्त में आठ मन्त्र हैं, जिनमें से चार में सविता, आदित्य, भग और सिन्धु की सम्बोधनपूर्वक प्रार्थनाएँ हैं, सामान्य रूप से देवों का स्वरूप वर्णन मन्त्र ८ में किया गया है और देवताओं के प्रथम और ध्रुव नियमों की चर्चा है, [३४] परन्तु 'विश्वेदेवाः' पद कहीं भी नहीं आया है। ५/४७ से ५० सङ्ख्यक चार सूक्तों में भी 'विश्वेदेवाः' नाम से स्पष्टतया न तो उनका उल्लेख हुआ है और न ही स्तवन। ४७ और ४८ वें सूक्तों में सूर्य-किरण, उषा और सूर्य-तेज आदि का विवेचन, ४९वें सूक्त में अश्विनौ, पूषा, भग, अदिति आदि की स्तुति[३५] और ५०वें सूक्त में नेता देव अग्नि से प्रार्थनाएँ की गयी हैं। ७/३६ और ७/३७ सङ्ख्यक सूक्तों में मित्रावरुणा, इन्द्र, रुद्र, सरस्वती, मरुत्, विष्णु, ऋभु देवों और सविता को सम्बोधित करते हुए उनका गुणगान किया गया है, तो ७/४० और ७/४२ में भी सविता, मित्र, वरुण, द्यावापृथिवी, मरुत्, अर्यमन्, अदिति, रुद्र, अश्विनौ, विष्णु, अग्नि, पूषा, पर्जन्य आदि देवताओं का नामतः उल्लेख और स्तवन है- इन चारों सूक्तों में भी 'विश्वेदेवाः' पद अप्रयुक्त ही है। २४ मन्त्रों के ८/२५ सङ्ख्यक सूक्त में तीन ऋचाएँ (१० से १२) 'विश्वेदेवाः' की हैं और शेष 'मित्रावरुणौ' की– जबकि इन तीनों मन्त्रों में नामतः देवी अदिति, अश्विनौ, मरुत्, विष्णु, सिन्धु आदि से रक्षण और इच्छापूर्ति के लिए प्रार्थना सुनने का अनुरोध किया गया है, बिना 'विश्वेदेवाः' का नाम लिये। कूट-सूक्त (८/२९) में अलग-अलग देवों का सांकेतिक चित्रण अवश्य है, पर 'विश्वेदेवाः' नाम यहाँ भी नहीं लिया गया है। ८/५४ सङ्ख्यक सूक्त में आठ मन्त्र हैं, दो 'विश्वेदेवाः' के है और शेष इन्द्र के। 'विश्वेदेवाः' के एक मन्त्र में कई देवताओं को नाम लेकर यज्ञ की रक्षा करने और प्रार्थना सुनने के लिए बुलाया गया है।[३६] इसी प्रकार ८/५८ सङ्ख्यक सूक्त के जो दो मन्त्र (२,३) 'विश्वेदेवाः' के बताये गये हैं, उनमें से भी एक में तो स्पष्टतः अग्नि, सूर्य और उषा द्वारा सारे विश्व को प्रकाशित करने का वर्णन है। 'एक ही इस सबके रूप में प्रकट हो रहा है'– कथन द्वारा वस्तुतः एक ही प्रभु के विविध रूप 'विश्वेदेवाः' हैं- यह लाक्षणिक अर्थ आध्यात्मिक व्याख्या को

उपन्यस्त करता है।[३७] दशम मण्डल में विश्वेदेवाः के कई सूक्त हैं, परन्तु वहाँ भी एक सूक्त (५७) में इन्द्र, अग्नि, मन, सोम आदि दूसरे देवताओं का आवाहन किया गया है, परन्तु विश्वेदेवाः नाम का प्रयोग तक नही हुआ है।

दर्शनीय है कि ऋक्सर्वानुक्रमणी में कुछ सूक्त या मन्त्र **देवाः** को भी दिये गये हैं।[३८] इनमें सामान्य रूप से देवताओं की स्तुतियाँ हैं।[३९] कई बार 'विश्वेदेवाः' के सूक्तों में भी मात्र 'देवाः' या 'देवासः' सम्बोधनपूर्वक देवसामान्य का स्तवन किया गया है।[४०] निश्चय ही 'देवाः' और 'विश्वेदेवाः' के सूक्तों को स्वरूपतः पृथक् कर पाना कठिन है। इसी लिए कुछ सूक्त जैसे १०/७२, जिनको ऋक्सर्वानुक्रमणी और अनुवर्ती सायण आदि भाष्यकारों ने 'देवाः' का माना है, आधुनिक वेदविद् श्री वेलणकर के विचार में 'विश्वेदेवाः' के हैं।[४१]

'विश्वेदेवाः' की बहुचर्चित विशेषताएँ अधिकांशतः ऋत और यज्ञ से सम्बद्ध है। वे यज्ञियाः[४२], यज्ञियासः[४३], यजत्राः[४४], ऋतावृधः[४५], ऋतज्ञाः[४६] ऋतस्य रथ्याः[४७], ऋतधीतयः, सत्यधर्माणः[४८], विश्ववेदसः[४९], अमृताः[५०] और इन्द्रज्येष्ठाः[५१] बार-बार बतलाये गये हैं। इससे उनका यज्ञीय सम्पर्क ध्वनित होता है। मैकडॉनल के विचार में तो इस गण की रचना के पीछे याज्ञिक प्रयोजन ही निहित है। वह यह कि ये देवता सभी देवताओं के प्रतिनिधि बनकर बुलाये जाते हैं।[५२] विश्वेदेवों के नाम नमस्कार और स्तुति करने के योग्य हैं, और वे यज्ञार्ह भी हैं; वे आकाश, अन्तरिक्ष और पृथिवी तीनों स्थानों में उत्पन्न हुए हैं और यज्ञ में आकर आह्वान सुनने के लिए प्रार्थनीय हैं।[५३] वे कर्तव्य-पालन में सदा तत्पर, बलवान्, यज्ञ को पूर्ण रूप से अलंकृत करने वाले, महान् तेजस्वी, यज्ञों के सेवक, अग्नि को बुलाने वाले और द्रोहरहित हैं।[५४] 'विश्वेदेवाः' **त्रिः रोचनानि** से सम्बद्ध होने के कारण तीन प्रकार से प्रकाशित होते हैं, वे तो असुरस्वरूप, परमेश्वर के सत्यनिष्ठ, उत्साहपूर्वक काम करने वाले और कभी न दबने वाले वीर हैं।[५५] 'असुरस्य वीराः' कहकर ऋचा ने विश्वेदेवों के अधिष्ठाता के रूप में परमात्मा को प्रतिपादित किया है। अन्यत्र भी अक्षर परम में विश्वेदेवों का निवास निर्दिष्ट है।[५६] अत एव वैदिक दृष्टि में अनेक होकर भी 'विश्वेदेवाः' अपने वास्तविक स्वरूप में एक परम तत्त्व के ही अङ्गस्थानीय हैं।

ऋग्वेद के 'विश्वेदेवाः' सूक्तों में इन देवताओं का स्वरूप जितना स्पष्ट और निश्चित है, ये सूक्त देवता के विषय में स्वरूपतः उतने ही उलझे हुए और कई प्रश्न उपस्थित करने वाले हैं । विश्वेदेवाः के ६/५१/१ सङ्ख्यक मन्त्र में सूर्य देव के स्तवन में उन्हें चक्षु, मित्र और वरुण का प्रिय, अहिंसित, निर्मल, दर्शनीय, ऋत का अनीक और द्युलोक का रुक्म बताते हुए आकाश पर उदित होने वाला कहा गया है।[५७] जबकि लगभग इसी विषय का प्रतिपादन करने वाली एक दूसरी ऋचा का देवता 'सूर्य' कहा गया है।[५८] ६/२१ सङ्ख्यक सूक्त में दो ऋचाएँ 'विश्वेदेवाः' की हैं और शेष इन्द्र की । विश्वेदेवाः का स्तवन करने वाली नवीं ऋचा में ऋषि से कहा गया है कि 'आज वरुण, मित्र, इन्द्र, मरुत्, पूषा, विष्णु, अग्नि, पुरंधि अग्नि, सविता, ओषधि, पर्वत आदि देवों को हमारी सुरक्षा और प्रगति के लिए अभिमुख करो ।' 'विश्वेदेवाः' को प्रदत्त ग्यारहवीं ऋचा में 'सहसः सूनु' इन्द्र को सम्बोधित करते हुए देवों के साथ (विश्वेभिः यजत्रैः) आने की प्रार्थना है और मन्त्र के उत्तरार्ध में विश्वेदेवों का स्वरूप वर्णित है । इन दोनों ऋचाओं को विश्वेदेवाः के लिए निर्धारित देखकर यह प्रश्न उठता है कि क्या (१) जहाँ अनेक देवताओं का एक साथ एक मन्त्र में नाम लिया जाये (२) और जहाँ विश्वेदेवाः का नामतः गुणगान किया जाये - वे विश्वेदेवाः के मन्त्र हैं ? परन्तु सम्बद्ध निष्कर्ष खण्डित हो जाता है, जब हम ५/४२ सङ्ख्यक सूक्त पर ध्यान देते हैं । इस सूक्त में अठारह मन्त्र हैं, ग्यारहवें को रुद्र का और शेष को विश्वेदेवाः का बताया गया है । यहाँ सविता (३), इन्द्र (४), बृहस्पति (७), मरुत् (१०), अश्विनौ (१८) आदि कुछ देवताओं का स्वतन्त्ररूप से एक-एक मन्त्र में वर्णन है - उसी प्रकार जैसे रुद्र का ग्यारहवें में । जब शेष मन्त्र विश्वेदेवाः के हैं, तो ग्यारहवाँ रुद्र का क्यों है ? क्या कई देवताओं का एक साथ एक सूक्त में स्तवन 'विश्वेदेवाः' का सूक्त कहलाने का आधार है ? पर स्वयं रुद्रमन्त्र इन निर्णय तक पहुंचने में बाधक है । २५ मन्त्रों के ७/३४ सङ्ख्यक सूक्त में दो मन्त्रों (१६ अहिः, १७ अहिर्बुध्न्य) को छोड़कर शेष 'विश्वेदेवाः' के कहे गये हैं, जबकि यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार से अलग-अलग देवों का स्तवन अलग-अलग मन्त्रों में किया गया है, यथा, अग्नि (८), वरुण (१०), अग्नि (१४), अपां नपात् (१५), त्वष्टा (२१);

और एक मन्त्र (२५) में कई देवों का वर्णन भी प्राप्त हैं ।

'विश्वेदेवाः' के कुछ सूक्तों में न विशेष-देवों का स्तवन किया गया है और न देव-सामान्य का ही । उनके विषय किञ्चित् बिखरे हुए और कदाचित् देवयजन और पूजन से सम्बद्ध हैं– जैसे १०/६२ वें सूक्त के प्रारम्भिक ६ मन्त्र अंगिरसों के हैं और शेष पांच विश्वेदेवों के, परन्तु इनमें गोधन की मुक्ति और दान तथा सावर्णि मनु की चर्चा है; १०/६१ वें सूक्त के २७ मन्त्र 'विश्वेदेवाः' के बताये गये हैं, पर अश्विनौ, मित्र, वरुण आदि को सम्बोधित कर कुछ स्तुतियों के अतिरिक्त इसमें स्तोता-स्तोत्र सम्बन्ध आदि की भी विवेचना है; १०/५६ वें सूक्त में 'विश्वेदेवाः' देवता की संस्तुति न होकर बृहदुक्थ ऋषि के अपने मृत पुत्र वाजि के लिए अन्तिम आशीर्वचन और देवलोक-प्राप्ति तथा तत्सम्बद्ध विवरण हैं; 'विश्वेदेवाः' के १०/१८१ सङ्ख्यक सूक्त में धाता, सविता, विष्णु आदि के 'देवयान धर्म' आदि की चर्चा है ; १/१६४ सङ्ख्यक सूक्त के ४१ मन्त्र 'विश्वेदेवाः' को अर्पित हैं, परन्तु इनमें प्रधानतया सृष्टि की पूर्वावस्था, सूर्य के चक्र-रश्मि आदि, पृथिवी और आकाश का सम्बन्ध, समय और सृष्टिचक्र, गाय रूपी महाप्रकृति, आत्मा और वाक् इत्यादि का विवेचन है। १/११४ सङ्ख्यक सूक्त में देवयजन और देवस्तवन तथा ३/५५ सङ्ख्यक सूक्त में देवों के अद्भुत कर्मों की अनुशंसा की गयी है। अतः देवता से सम्बद्ध दूसरे विषयों को प्रतिपादित करने वाले कतिपय सूक्त भी 'विश्वेदेवाः' को समर्पित हैं ।

संक्षेप में 'विश्वेदेवाः' के ऋग्वेदीय सूक्तों और मन्त्रों को विवेच्य विषय की दृष्टि से पाँच भागों में रखा जा सकता है :–

(१) जहाँ वह एक गण प्रतीत होता है ।

(२) जहाँ उससे सभी देवता अभिप्रेत हैं ।

(३) जहाँ किसी प्रसिद्ध एक देवता या अनेक देवताओं का स्तवन है और साथ ही 'विश्वेदेवाः' या 'देवाः' भी बुलाये गये हैं ।

(४) जहाँ दूसरे देवताओं का आवाहन है, पर विश्वेदेवाः का नहीं ।

(५) जहाँ कोई स्पष्ट देवता स्तवनीय न होकर, देवपरक कोई अन्य विषय वर्णित है ।

अतः ऋग्वेद में 'विश्वेदेवाः' के सूक्तों और मन्त्रों के निर्धारण के अनेक आधार दिखायी देते हैं । परन्तु यास्क-मत की शौनकीय व्याख्या कि -'कोई भी मन्त्र जिसमें अनेक देवताओं का सन्निवेश हो, विश्वेदेवों को सम्बोधित होता है, बहुदैवत ही 'वैश्वदेव' होना चाहिए -'[५६] 'विश्वेदेवाः' के सूक्तों में देवतानिर्धारण का मूल आधार है ।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति । नि. ७/१/४.

२. अर्थमिच्छनृषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति ।
प्राधान्येन स्तुवन्भक्त्या मन्त्रस्तद्दैव एव सः ।। बृ.दे. १/६.

३. यस्य वाक्यं स ऋषिः । या तेनोच्यते सा देवता । *सर्वानुक्रमणी* २/४-५.

४. तेन वाक्येन यत्प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता । *वेदार्थदीपिका* २/५.

५. उभा स वरा प्रत्येति भाति च यदीं गणं भजते सुप्रयावभिः ।
ऋ. ५/४४/१२.

६. ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन् । ऋ. ८/२८/१.

७. इति स्तुतासो असथा रिसादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च । ऋ. ८/३०/२.

८. ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ।।
ऋ. १/१३६/११.

९. ऋ. २/३/४.

१०. ऋ. ८/५४/३.

११. मैकडॉनल, *वैदिक देवशास्त्र* (अनूदित), दिल्ली, १९८२, पृ. ३३९.

१२. वही; कीथ, *वैदिक धर्म एवं दर्शन* (अनूदित), प्रथम भाग, वाराणसी, १९६३, पृ. २७४.

१३. विश्वेदेवाः सर्वे देवाः । नि. १२/४०.

१४. एते वै सर्वे देवा यद् विश्वेदेवाः । कौ.ब्रा. ४/१४,५/२; गो.ब्रा. २/१/२०; सर्वं वै विश्वेदेवाः । शत.ब्रा. १/७/४/२२.

१५. सूर्यकान्त, *वैदिककोश*, बनारस, १६६३, पृ. ४८७.

१६. तस्य ये रश्मयस्ते विश्वे देवाः । शत. ब्रा. ४/३/१/२६;
प्राणा वै विश्वेदेवाः । शत. ब्रा. १४/२/२/३७; अनन्ता विश्वेदेवाः। शत.ब्रा. १४/६/१/११; Fateh Singh, *The Vedic Etymology* , Delhi, p. 217.

१७. राजवीर शास्त्री, *दयानन्द-वैदिक-कोष*, दिल्ली, १६७५, पृ. ८८६.

१८. ऋ. १/१०५/३;२/२६.

१६. ऋ. २/३१/२.

२०. ऋ. १/८६/७ ; ६/५०/१४ ; ६/५१/७.

२१. ऋ. १/३/७ ; ८/५४/३ ; १०/३३/१.

२२. ऋ. १/१२२/१२.

२३. विश्वेदेवा निरितस्तत् सुवन्तु । ऋ. ७/५०/३.

२४. यत्र देवा दधिरे भागधेयम् । ऋ. १०/११४/३.

२५. प्रा. हरिदामोदर वेलणकर, *ऋक्सूक्तवैजयन्ती*, पृ. २८१.

२६. श्रीपाददामोदर सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य*, तीसरा भाग, पारडी, पृ. १३३.

२७. रमेशचन्द्र शर्मा, *कात्यायनविरचिता ऋग्वेदसर्वानुक्रमणी*, अलीगढ़, १६७७, पृ. १०४.

२८. विश्वान् देवान् हवामहे मरुतः सोमपीतये । ऋ. १/२३/१०.

२६. ऋ. ६/६७/२७.

३०. अर्यमा देवैः सजोषाः । ऋ. १/६०/१.

३१. शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ।। ऋ. १/६०/६.

३२. तन्न इन्द्रस्तद् वरुणस्तदग्निस्तदर्यमा तत् सविता चनो धात् ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ।।
ऋ. १/१०७/३.

३३. दधिक्रामग्निमुषसं च देवीं बृहस्पतिं सवितारं च देवम् ।

अश्विना मित्रावरुणा भगं च वसून् रुद्राँ आदित्याँ इह हुवे ।।
ऋ. ३/२०/५.

३४. व्रता देवानां प्रथमा ध्रुवाणि । ऋ. ३/५६/१.

३५. अदत्रया दयते वीर्याणि पूषा भगो अदितिर्वस्त उस्रः ।
इन्द्रो विष्णुर्वरुणो मित्रो अग्निरहानि भद्रा जनयन्त दस्माः ।।
ऋ. ५/४९/३.

३६. पूषा विष्णुर्हवनं मे सरस्वत्यवन्तु सप्त सिन्धवः ।
आपो वातः पर्वतासो वनस्पतिः शृणोतु पृथिवी हवम् ।। ऋ. ८/५४/४.

३७. एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ।।
ऋ. ८/५८/२.

३८. ऋ. १/८९/१-२, ८-९ इत्यादि.

३९. देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम् । ऋ. १/८९/२.

४०. ऋ. २/२९,२/३१/२ इत्यादि.

४१. हरिदामोदर वेलणकर, *ऋक्सूक्तवैजयन्ती*, पृ. ३५५.

४२. ऋ. ६/५२/१४.

४३. ऋ. ७/३५/१४.

४४. ऋ. २/२९/६, २/३१/७.

४५. ऋ. ६/५०/१४, ६/५२/१०, १०/६६/१.

४६. ऋ. ७/३५/१५.

४७. ऋ. ८/८३/३.

४८. ऋ. ५/५१/२.

४९. ऋ. ८/२७/१९,२१.

५०. ऋ. १०/६६/५.

५१. ऋ. २/४१/१५,६/५१/१५.

५२. मैकडॉनल, *वैदिक देवशास्त्र* (अनूदित), पृ. ३३९.

५३. विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवा उत यज्ञियानि वः ।

ये स्थ जाता अदितेरद्भ्यस्परि ये पृथिव्यास्ते म इह श्रुता हवम् ।।

ऋ. १०/६३/२.

५४. धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतो बृहद्दिवा अध्वराणामभिश्रियः ।
अग्निहोतार ऋतसापो अद्रुहोऽपो असृजन्ननु वृत्रतूर्ये ।।

ऋ. १०/६६/८.

५५. त्रयो राजन्त्यसुरस्य वीराः, ऋतावान इषिरा दूळभासः । ऋ. ३/५६/८.

५६. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।

ऋ. १/१६४/३६.

५७. उदु त्यच्चक्षुर्महि मित्रयोराँ एति प्रियं वरुणयोरदब्धम् ।
ऋतस्य शुचि दर्शतमनीकं रुक्मो न दिव उदिता व्यद्यौत् ।।

ऋ. ६/५१/१.

५८. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।।

ऋ. १/११५/१.

५९. बहूवीनां संनिपातस्तु यस्मिन्मन्त्रे प्रदृश्यते ।
आचार्यौ यास्कशाण्डिल्यौ वैश्वदेवं तदाहतुः ।।
वैश्वदेवं वदेत्सर्वं यत्किञ्चिद् बहुदैवतम् ।। बृ.दे. २/१३२-३३.

[Journal of the Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, Allahabad, Vol. 47, 1991, pp. 247-256 में प्रकाशित ।]

* * *

पृश्निमातृ मरुत्

किसी एक ही देवता के लिए प्रयुक्त होने वाले वैदिक विशेषण-पदों में 'पृश्निमातरः' विशेषतया उल्लेखनीय है, क्योंकि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में इसका प्रयोग प्रायः 'मरुतः' के लिए ही हुआ है। 'पृश्निमातरः' पद का विच्छेद है–'पृश्निः माता येषां ते पृश्निमातरः' अर्थात् मरुत् वे हैं, जिनकी माता 'पृश्नि' है। 'पृश्नि' शब्द स्वतन्त्र रूप से भी वैदिक ग्रन्थों में व्यवहृत हुआ है। स्वाभाविक है कि विशेषण रूप में प्रयुक्त होने से 'पृश्नि' का अर्थ किसी एक तत्त्व के बोध तक सीमित नहीं है। आचार्यों और विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से 'पृश्निमातरः' पद के व्याख्यान का आधार 'पृश्नि' की अनेकार्थकता है। मरुतों का यह विशेषण और नाम उनके जटिल एवं व्यापक स्वरूप को किस रूप में प्रकाशित तथा उद्घाटित करता है - यह विश्लेषण ही प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य है।

१. 'पृश्निमातरः' पद का प्रयोग

ऋक्संहिता में 'पृश्निमातरः' पद का प्रयोग दस बार हुआ है[१]– तीन बार सम्बोधन रूप में, छह बार विशेषण रूप में और एक बार सोम पवमान के मन्त्र में नामरूप में। ऋग्वेदखिलानि में भी एक बार यह पद प्राप्त होता है।[२] शुक्लयजुर्वेदसंहिता में केवल एक बार यह पद आया है और वह मन्त्र ऋग्वेद का ही है।[३] यजुर्वेद की काण्व, काठक और मैत्रायणी संहिताओं में कुल छह बार इस शब्द का प्रयोग हुआ है,[४] तो अथर्ववेद की शौनकीय संहिता में पाँच बार[५] और पैप्पलाद संहिता में तीन बार।[६] अतः समस्त वैदिक संहिताओं में छब्बीस बार यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में कुल चार बार[७] और श्रौतसूत्रों में तीन बार[८] 'पृश्निमातरः' पद आया

है। यह निरुक्त में अप्रयुक्त है और बृहद्देवता में एक बार प्रयुक्त है।[९] अतः यह शब्द वेद में अपेक्षाकृत कम प्रचलित है।

२. 'पृश्नि' के पुत्र मरुत्

'पृश्निमातर' विशेषण से यदि 'पृश्नि' मरुतों की जननी सिद्ध होती है, तो कई वैदिक उद्धरण ऐसे भी हैं, जिनमें स्पष्टतया मरुतों को पृश्नि के पुत्र या पृश्नि से उत्पन्न बताया गया है। ऋक्संहिता में कहा गया है- मरुत् समान, प्रकृष्ट वेग वाले और पृश्नि के पुत्र हैं।[१०] पृश्नि ने महान् संग्राम के लिए गतिमान् मरुतों का समूह (अनीकम्) उत्पन्न किया।[११] हे वक्ष पर रुक्म पहनने वाले मरुतों! तुम्हें रुद्र ने पृश्नि के पवित्र उदर में से उत्पन्न किया है।[१२] लोग तो पृश्नि को मरुतों की माता कहते हैं।[१३] रुद्रपुत्र मरुतों की माता तो मही पृश्नि जानी जाती हैं।[१४]

दूसरी संहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों में भी इसी प्रकार पृश्नि को मरुतों की माता या जननी कहा गया है।[१५]

३. 'पृश्नि' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ

'पृश्नि शब्द √स्पृश् (संस्पर्शने) में 'घृणिपृश्नि०' सूत्र से 'नि' प्रत्यय और सलोप द्वारा निष्पन्न हुआ है।[१६] निघण्टु और निरुक्त के अनुसार 'पृश्नि' शब्द द्युलोक और आदित्य का नाम है।[१७] यास्क ने इसकी द्विविध निरुक्ति की है-(१) प्र उपसर्गपूर्वक √अश् से, (शुभ्र) वर्ण इसको व्याप्त किये हुए हैं, इसलिए 'आदित्य' पृश्नि है; अथवा (२) √स्पृश् से, रसों को स्पर्श करने वाला है, चन्द्रादिकों की कान्ति को छूने वाला है अथवा यह कान्ति से सब ओर से स्पृष्ट है, इसलिए 'आदित्य' पृश्नि है। इसी तरह द्युलोक भी 'पृश्नि' शब्द से जाना जाता है। वह नक्षत्रादि ज्योतियों और पुण्यकर्मियों से स्पृष्ट है।[१८] 'प्राश्नुते एनं 'वर्णः' व्युत्पत्ति के आधार पर प्रायः 'पृश्नि' विशेषण नानावर्ण, धब्बेदार या चितकबरा अर्थों में ग्रहण किया गया है।[१९] मण्डूकसूक्त में यह शब्द 'पृश्निवर्ण' अर्थ में मण्डूक का विशेषण है।[२०] 'पृश्नि' का यह अर्थ ही उसे विविध रूपों में व्याख्यात करने का आधार है। स्वयं वेद ने उससे अलग-अलग तत्त्वों का अधिग्रहण किया है। कई स्थलों पर धेनु को पृश्नि कहा गया है।[२१] इस सन्दर्भ में उनका **सुदुघा** विशेषण महत्त्वपूर्ण है।[२२] सोम को पृश्नि बताया गया है।[२३] द्युलोक, आदित्य तथा

अन्तरिक्ष आदि के लिए भी यह शब्द आया है।[२४] एक मन्त्र में स्पष्ट रूप से 'गोः' को 'पृश्निः' कहा गया है, किन्तु वहाँ इन दोनों को ही सूर्य का विशेषण मानना सर्वाधिक उपयुक्त है।[२५] मरुतों के लिए एकमात्र प्रयुक्त 'गोमातरः' विशेषण पद ऋग्वेद में केवल एक बार आया है[२६] और वह भी 'पृश्निमातरः' से युक्त मन्त्र[२७] के तुरन्त बाद वाले दूसरे मन्त्र में। इसे 'पृश्नि' के 'गो' अर्थ का वैदिक सङ्केत माना जा सकता है। 'गो' से वेदों में वाणी और पृथिवी का अभिप्राय यत्र-तत्र लिया ही जाता है और फिर पृश्नि को 'वाणी' और 'पृथिवी' बताने वाले ब्राह्मणवाक्य भी उपलब्ध होते हैं।[२८] यही नहीं, पृश्नि को 'व्याघ्ररूप'[२९] और 'अन्न'[३०] भी बताया गया है। अतः श्रुति में पृश्नि शब्द एक अर्थ तक ही सीमित नहीं रहा है। वैदिक भाष्यकारों और विद्वानों ने भी इसके भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं।

४. 'पृश्निमातरः' से अभिप्राय

'मरुतः' का विशेषण 'पृश्निमातरः' शुक्लयजुर्वेदसंहिता में एक बार प्रयुक्त हुआ है,[३१] जहाँ भाष्यकार उवट ने द्यौ को मरुतों की माता कहा है,[३२] और महीधर ने द्यौ, गौ या दिति को मरुतों की जननी बताया है।[३३] ऋग्वेद के भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने संहिता में दस स्थानों पर प्रयुक्त 'पृश्निमातरः' को लगभग सर्वत्र 'जिनकी माता द्यौ' अर्थ में लिया है, क्योंकि उनके अनुसार 'पृश्नि' द्युनाम है।[३४] केवल एक बार उन्होंने पृश्निवर्णा गौ को मरुतों की माता कहा है,[३५] क्योंकि एक बार वे 'गोमातरः' बताये गये हैं,[३६] परन्तु साथ ही यह प्रतिपादन भी किया है कि 'पृश्नि' और 'गौ' दोनों ही द्युनाम हैं। अतः स्कन्दस्वामी के अनुसार पृश्निमातृ मरुत् 'दिवः पुत्राः' अर्थात् द्यौ रूप माता के पुत्र हैं। भाष्यकार मुद्गल ने ऋग्वेद में केवल चार स्थानों पर 'पृश्निमातरः' की व्याख्या की है, तदनुसार मरुत् या तो नानारूपा भूमि के पुत्र हैं या नानावर्णा 'गौ' या पृश्नि नामक धेनु के पुत्र।[३७] अतः सायणभाष्यानुसारी मुद्गल के मत में पृश्निमातृ मरुतों की जननी भूमि है अथवा धेनु।

वेङ्कटमाधव ने ऋक्संहिता के केवल छह स्थानों पर 'पृश्निमातरः' का अर्थ किया है और वह भी सर्वत्र एक ही अर्थ 'गोमातरः'। निश्चय ही इसका आधार ऋग्वैदिक मन्त्र है[३८], जहाँ उन्होंने 'गोमातरः' पद के

व्याख्यान में तैत्तिरीय संहिता की श्रुति को उद्‌धृत कर 'गौ' और 'पृश्नि' को समानार्थक मान लिया है।[३९] वेङ्कटमाधव का अभिप्राय फिर भी अस्पष्ट ही रहता है। सम्भवतः इन विशेषणपदों से उन्हें 'दिवस्पुत्राः' का भावार्थ अभिप्रेत है। इसका सङ्केत तब मिलता है जब वे 'पृश्निमातरो दिवो मर्याः' का अर्थ करते हैं –'गोमातरः दिवस्पुत्राः।[४०]

आचार्य सायण ने 'पृश्नि' को 'नानावर्णा' अर्थ में लेते हुए अन्तरिक्षदेवता,[४१] द्युदेवता अथवा पृश्निवर्णा गो[४२], आदित्य[४३], गोरूपा माध्यमिक वाच् अथवा अन्तरिक्ष,[४४] सूर्य[४५], गोदेवता[४६] और सोम[४७] का वाचक माना है, परन्तु 'पृश्निमातरः' पद के सायणकृत अर्थों की विवेचना करें, तो हम देखते हैं कि सायण ने ब्राह्मण-प्रामाण्य पर सभी रूपों से व्याप्त भूमि को 'पृश्नि' मानते हुए 'पृश्निमातृ' मरुतों को नाना रूपों वाली भूमि का पुत्र बताया है[४८] अथवा वैदिकमन्त्रों के आधार पर 'पृश्नि' को धेनु या गो का नाम मानकर उन्हें धेनुपुत्र कहा है[४९] अथवा फिर ब्राह्मणवाक्य के अनुसार 'पृश्नि' से माध्यमिका वाक् का ग्रहण करके उसे मरुतों की माता माना है।[५०] उक्त तीनों अर्थ ऋग्वेद और अथर्ववेद की संहिताओं में छह स्थानों पर किये गये हैं और अन्यत्र प्रयुक्त 'पृश्निमातरः' लगभग अव्याख्यात ही है। अतः स्पष्ट है कि सायण ने 'पृश्नि' शब्द के अर्थनिर्धारण के लिए निरुक्त को प्रमाण माना है, किन्तु 'पृश्निमातरः' की व्याख्या के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों को महत्त्व दिया है।

√स्पृश् से व्युत्पन्न मानते हुए 'पृश्नि' को स्वामी दयानन्द ने धेनु, किरण, गौ तथा वाणी आदि अर्थों में ग्रहण किया है[५१] और ऋचाओं की व्याख्या में अवसरानुसार उसे सूर्य, अन्तरिक्ष अथवा आकाश के रूप में ग्रहण किया है।[५२] उन्होंने इसी अर्थगत धरातल पर 'पृश्निमातरः' की विवेचना में मरुत् को आकाश से उत्पद्यमान वायु या अन्तरिक्ष से उत्पन्न होने वाली वायु या आकाश और अन्तरिक्ष से उत्पत्ति लेने वाली वायु कहा है।[५३] 'गोमातरः' विशेषण से भिन्नतया गौ अर्थात् पृथिवी को मान देने वाले (माता मानने वाले) वीरों का अभिप्राय लिया है। यदि 'गो' को पृश्निवाची माना जाये, तो स्वामी दयानन्द के अनुसार पृथिवी, अन्तरिक्ष और आकाश– तीनों ही जिसकी उत्पत्ति के निमित्त हैं, वे पृश्निमातृ मरुत् हैं। ऋग्वेद के एक सूक्त की व्याख्या में वेलणकर ने मरुतों के विशेषण 'पृश्निमातरः' और 'गोमातरः'

को समानार्थक मानकर कहा है – पृश्नि गाय है, अतः 'पृश्नि' नामक धेनु मरुतों की माता है।[५४] सातवलेकर ने ऋग्वेदभाष्य में सर्वत्र 'पृश्निमातरः' मरुतों से उन वीरों का तात्पर्य लिया है– जो भूमि अर्थात् मातृभूमि को माता मानते हैं। अथर्ववेदसंहिता में भी उन्हें यही अर्थ अभिप्रेत रहा है। उन्होंने 'गोमातरः' पद की व्याख्या भी समान रूप में की है– गोरूपा भूमि जिनकी माता है, वे वीर (मरुत्)।[५५] अतः सातवलेकर की दृष्टि में पृश्नि भूमि है, जिसके पुत्र उसकी सेवा करने वाले वीर मनुष्य हैं।

पाश्चात्य विद्वान् ग्रिफिथ ने 'पृश्निमातरः' से उन मरुतों का अभिप्राय लिया है, जो नानावर्णा पृथिवी या चितकबरे मेघों से उत्पन्न होते हैं।[५६] विलसन की दृष्टि में ये वे मरुत् हैं, जिनकी माता नानारूपा भूमि या धेनु 'पृश्नि' हैं।[५७] मैक्डॉनल और रॉथ के अनुसार ऋग्वेद में मरुत् तूफान के देवता हैं और 'पृश्नि' अथवा 'गौ' सम्भवतया विचित्रवर्ण के तूफान-मेघ का ही प्रतिरूप है।[५८] कीथ के अनुसार मरुत् प्रलयंकर मेघ को धारण करने वाले पवन के देवता हैं, जिनकी माता पृश्नि या गौ है।[५९] हिलेब्राण्ट का प्रतिपादन है कि अथर्ववेदसंहिता (१०/१०/६) के अनुसार पर्जन्य की पत्नी 'वशा' है; वशा ही पृश्नि है– रुद्र की पत्नी और मरुतों की माता। यह वर्षाकाल के प्रारम्भ का प्रतीक है।[६०] गयाचरण त्रिपाठी ने 'पृश्निमातरः' के समकक्ष 'गोमातरः' के आधार पर माना है कि मरुतों की माता 'पृश्नि' है, जो 'अनेक वर्णों वाली गाय' का नाम है।[६१]

इस प्रकार 'पृश्नि' नाम के अनेकार्थक होने के कारण विद्वानों द्वारा मरुतों का पृश्निमातृत्व भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिपादित है।

५. 'पृश्नि' और 'गो' का सम्बन्ध

निश्चित रूप से 'पृश्निमातरः' पद का वैदिक अभिप्राय 'गोमातरः' पद में निहित है। इनका समान सूक्त में क्रमगत प्रयोग भी यही प्रकट करता है। वेद में 'गो' शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत हुआ है, जिनमें गाय, धेनु, तारे, किरण, पृथिवी, दूध, सोम, पर्जन्य, श्लेष्मचर्म आदि अर्थ प्रमुख हैं।[६२] ब्राह्मणों में 'गो' की व्याख्या अन्तरिक्ष, आदित्य, अन्न, यज्ञ, प्राण, इन्द्रियवीर्य, धेनु, वाणी आदि अर्थों में की गयी है।[६३] 'गौर्वा इदं सर्वं बिभर्ति' के अनुसार जो सबका पालन-धारण करती है, वह 'गो' है।[६४] इसी प्रकार जो नानारूपा

है या जो सब ओर से स्पृष्ट है, वह 'पृश्नि' है। अतएव गो और पृश्नि एक ही हैं। 'गौ' भी मही है और पृश्नि भी।[६५] दोनों के साथ 'पयस्' और √दुह् के रूपों का बहुतायत से प्रयोग हुआ है।[६६]

६. पृश्निमातृ मरुत्

पृश्नि के 'चितकबरे तूफानी मेघ' अर्थ का खण्डन करते हुए हिलेब्राण्ट की गवेषणा है कि भारतीय दृष्टिकोण में[६७] वायु को मेघों को लाने वाला माना जाता है, अतः पृश्निमातृ मरुत् मेघों से उत्पन्न होने वाली वायुएँ नहीं हो सकते हैं।[६८] पृश्नि के 'धेनु' या 'गो' अर्थ यदि समानार्थक होने से छोड़ दिये जाये, तो ध्यातव्य है कि पृश्नि से मुख्यतया तीन अर्थ ही मन्त्रों में अभिप्रेत रहे हैं– आकाश (निरुक्त, स्कन्दस्वामी, उवट, महीधर, स्वा. दयानन्द); अन्तरिक्ष या माध्यमिक वाच् (स्वा.दयानन्द, सायण) और भूमि (सायण, मुद्गल, विलसन, सातवलेकर)। काठकसंहिता में तीन पृश्नियों की बात कही भी गयी है।[६९] ऋचाओं में मरुतों का सम्बन्ध तीनों लोकों से दिखाया गया है–'वे पृथिवी, द्युलोक और अन्तरिक्ष के पथों पर एक साथ ही फैल जाते हैं।[७०] उनका आवास उत्तम, मध्यम और अवर द्युलोकों में बताया गया है।[७१] वे न केवल 'दिवस्पुत्रासः' हैं,[७२] अपितु 'दिवो नरः' और 'दिवो मर्याः'[७३] भी हैं। उनका विशेष सम्बन्ध विद्युत्, स्तनयित्नु, वायु और वर्षा से है।[७४] अतः आकाश, अन्तरिक्ष और पृथिवी में समान रूप से परिव्याप्त और उनसे उत्पन्न अनेकानेक स्पर्श-गुणसम्पन्न वायुएँ ही मरुत् देवताओं की वैदिक अवधारणा का प्राकृतिक और अधिदैविक आधार हैं। मरुतों का उल्लेख केवल बहुवचन में होना, उनकी संख्या का निश्चित न होना, उन सबका बिना भेदभाव के समान होना– इत्यादि कई तथ्यों से भी 'मरुतः' का 'वायवः' अभिप्राय सङ्गत बैठता है। 'पृश्निमातरः विशेषण से 'पृश्नि' अर्थात् आकाश, मध्यमस्थान और पृथिवी मरुत्रूप सर्वविध वायुओं की उत्पत्तिनिमित्त उपन्यस्त होती है।

आध्यात्मिक आधार पर यदि 'पृश्नि' अथवा 'गो' नानारूपा या गतिशील इन्द्रियों की वाचक है, जो उनके अधिष्ठाता और उत्पादक व्यापक एवं अनेक प्राण मरुत् देवता हैं। एक ऋचा में इस आधार का सङ्केत उपलब्ध होता है, जहाँ कहा गया है– पूजनीय देव (जीवात्मा) की उपासना

करते हुए और इन्द्रिय को उत्पन्न करते हुए पृश्निमातृ मरुत् अपनी शोभा को बढ़ाते हैं ।[७५]

अतः 'पृश्निमातरः' विशेषण न केवल मरुतों की व्यापकता, नानारूपता और पारस्परिक समानता को व्यक्त करता है, अपितु उन्हें विश्व में सर्वत्र व्याप्त सर्वविध वायुओं के प्रतीक के रूप में भी उद्घाटित करता है।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. (१) मरुतः सोमपीतये । उग्रा हि पृश्निमातरः । ऋ. १/२३/१०.
(२) यद् यूयं पृश्निमातरो मर्तासः स्यातन । ऋ. १/३८/४.
(३) अधि श्रियो दधिरे पृश्निमातरः । ऋ. १/८५/२.
(४) पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः । ऋ. १/८९/७.
(५) स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतः । ऋ. ५/५७/२.
(६) कोपयथ पृथिवीं पृश्निमातरः शुभे यदुग्राः । ऋ. ५/५७/३.
(७) सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्याः । ऋ. ५/५९/६.
(८) उदीरयन्त वायुभिर्वाश्रासः पृश्निमातर । ऋ. ८/७/३.
(९) उद् रथैरुदु वायुभिः । उत् स्तोमैः पृश्निमातरः । ऋ. ८/७/१७.
(१०) अभीमृतस्य विष्टपं दुहते पृश्निमातरः । ऋ. ९/३४/५.

२. ऋ. ५/५/९.

३. यजु. २५/२०; ऋ. १/८९/७.

४. का.सं. २७/११/७; मै.सं. २/५/७, ३/३१/१, १६/१३/११, १८/१५/३; का सं. ३५/१; *वैदिकपदानुक्रमकोष, संहिताखण्ड ।*

५. अथर्व. १३/३/२३, ५/२१/११, ८/७/२१, १३/१/३, ४/२७/२.

६. पै. सं. १/७८/१, ५/३७/८, ४/३५/२; *वैदिकपदानुक्रमकोष* ।

७. जै. उ. ब्रा. २/१७६; ऐ. आ. ५/१/१; तै. ब्रा. २/४/४/३, ५/२/३; *वैदिकपदानुक्रमकोष, ब्राह्मणखण्ड* ।

८. शा.श्रौ.सू. ८/२३/१; आ.श्रौ.सू. १४/१६/१; हि.श्रौ.सू. १५/५/१; *वैदिकपदानुक्रमकोष, वेदाङ्गखण्ड* ।

९. बृ. दे. ५/७१.

१०. पृश्नेः पुत्रा उपमासो रभिष्ठाः । ऋ. ५/५८/५.

११. असूत पृश्निर्महते रणाय त्वेषमयासां मरुतामनीकम् । ऋ. १/१६८/६.

१२. रुदो यद् वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि ।
ऋ. २/३४/२.

१३. सूरयः पृश्निं वोचन्त मातरम् । ऋ. ५/५२/१६.

१४. विदे हि माता महो मही षा सेत्पृश्निः । ऋ. ६/६६/३.

१५. (१) पृश्नयो मारुताः । मै. सं. ३/१३/१२.
(२) पृश्नियैर् वै पयसो मरुतो जाताः । तै. सं. २/२/११/४.
(३) पृश्न्या वै मरुतो जाताः । का. सं. १०/११.
(४) मारुती पृश्निः पष्ठौही गर्भिणी । मै. सं. २/६/१३.
(५) मारुतीं पृश्निं पष्ठौहीम् । तै. सं. १/८/६/१.
(६) यत् पृश्निस्तेन मारुतः । तै. सं. २/१/३/३.
(७) पृश्निमातरो हि मरुतः । मै. सं. २/५/७.
(८) मरुतः पृश्निमातर इति वा आहु । जै.उ.ब्रा. २/१७६.

१६. उ. सू. ४/५२.

१७. निघ. १/४; नि. २/१४.

१८. पृश्निरादित्यो भवति-प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः, संस्प्रष्टा रसान्, संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषाम्, संस्पृष्टो भासेति वा । अथ द्यौः संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च । नि. २/१४.

१९. Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, Delhi, 1981, p. 443; सूर्यकान्त, *वैदिक कोष*, पृ. ३०७.

२०. ऋ. ७/१०३/६,१०.

२१. धेनुं च पृश्निं वृषभं सुरेतसम् । ऋ. १/१६०/३, ४/५/१०, १०/१०५/१०; वा. सं. २/१६; अथर्व. ७/१०४/१; का.श्रौ.सू. १४/२/११.

२२. ऋ. ५/६०/५; अथर्व. ७/१०४/६.

२३. उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीराः । ऋ. १/१६४/४३;
वल्लीरूपः सोमः । ऋ.सा.भा. १/१६४/४३.

२४. ऋ. ४/५/७, ५/४७/३, ६/६६/१.

२५. आयं गौः पृश्निरक्रमीत् । ऋ. १०/१८९/१; अथर्व. ६/३१/१,

२०/४८/४.

२६. ऋ. १/८५/३.

२७. ऋ. १/८५/२.

२८. वाग्वै पृश्निः । का.सं. ३४/१;
वाग्वै पृश्निः । जै.उ.ब्रा. ३/७५;
इयं (पृथिवी) वै पृश्निः । तै.ब्रा. १/४/१/५.

२६. व्याघ्ररूपं वै पृश्निः । मै.सं. ४/२/२४.

३०. अन्नं वै देवा पृश्नीति वदन्ति । ता. ब्रा. १२/१०/२४;
अन्नं वै पृश्निः । शत. ब्रा. ८/७/३/२१.

३१. यजु. २५/२०.

३२. पृश्निः द्यौर्माता येषां ते (मरुतः) एवमुच्यन्ते । यजु. *उवटभाष्य* २५/२०.

३३. पृश्निर्द्यौर्गौर्दितिर्वा माता जननी येषां ते पृश्निमातरः । वही; *महीधरभाष्य*; २५/२०.

३४. पृश्निरिति द्युनाम । द्यौर्माता येषां मरुतां ते पृश्निमातरः । दिवः पुत्रा इत्यर्थः । ऋ.स्क.भा. १/२३/१०.

३५. पृश्निवर्णा गौः पृश्निः, सा माता येषां ते पृश्निमातरः । कुत एतत्। गोमातरो यच्छुभयन्ते (ऋ. १/८५/३) इति दर्शनात् अथवा पृश्निर्गौ इति उभे अपि द्युनामनी । ऋ.स्क.भा. १/३८/४.

३६. ऋ. १/८५/३.

३७. नानावर्णयुक्तायाः भूमेः पुत्राः । ऋ. १/२३/१०; पृश्निनामकधेनु-पुत्राः। ऋ. १/३८/४; नानारूपाया भूमेः पुत्राः । ऋ. १/८५/२, नानावर्णा गौः माता येषां ते । ऋ. १/८६/७- *मुद्गलभाष्य*, *Rigveda with Commentaries*, VVRI, Hoshiarpur.

३८. ऋ. १/८५/३.

३६. तै. सं. २/२/११/३.

४०. ऋ. ५/५६/६.

४१. ऋ. १/१६/६.

४२. ऋ. ५/५२/१६.

४३. ऋ. ५/४७/३, ६/८३/३.

४४. ऋ. ५/५८/५, ६/६६/१.

४५. ऋ. ४/३/१०.

४६. ऋ. ५/६०/५, १०/१०५/१०.

४७. ऋ. १/१६४/४३.

४८. प्राश्नुते सर्वाणि रूपाणीति पृश्निर्भूमिः । इयं वै पृश्निः । तै. ब्रा. १/४/१/५; नानारूपाया भूमेः पुत्रा मरुतः । ऋ.सा.भा. १/८५/२; नानावर्णयुक्ताया भूमेः पुत्राः । ऋ.सा.भा. १/२३/१०.

४६. पृश्निनामकधेनुपुत्राः मरुतः । ऋ. सा. भा. १/३८/४; नानावर्णा गौर्माता येषां ते । ऋ.सा.भा. १/८६/७.

५०. पृश्निर्माध्यमिका वाक्, सा माता जननी येषां ते । ऋ. सा. भा.८/७/३; अथर्व.सा.भा. ४/२७/२.

५१. या स्पृशन्ति ताः पृश्नयः (धेनवः-किरणाः गावो वाचो वा । ऋ.दया.भा. १/८५/११.

५२. ऋ. १/१६०/३, ५/५२/१६, १/१६४/४३.

५३. आकाशादुत्पद्यमानाः मरुतः (वायवः) । ऋ.दया.भा. १/८६/७; पृश्निरन्तरिक्षं माता येषां वायूनां त इव । ऋ.दया.भा. १/८५/२; अन्तरिक्षमातरः (वायवः) । ऋ.दया.भा. ५/५७/३; पृश्निराकाशमन्तरिक्षं मातोत्पत्तिनिमित्तं येषां ते । ऋ. दया.भा. १/२३/१०.

५४. ऋ. १/८५; वेलणकर, *ऋक्सूक्तवैजयन्ती*, पुणें, १६६५, पृ. ३३.

५५. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य*, पञ्चम भाग ।

५६. R.T.H. Griffith, *Hymns of the Rigveda*, Vol. I, Varanasi, 1963, (ऋ. १/२३/१०).

५७. H.H. Wilson, *Rigveda Samhita*, Vol. I, Delhi, (ऋ. १/२३/१०, १/३८/४).

५८. ए. ए. मैकडॉनल, *वैदिक देवशास्त्र*, अनु. सूर्यकान्त, दिल्ली, १६८२, पृ. १६०, २०३; *Roth, Illustrations of the Nirukta*, 10/37, p.145.

५६. कीथ, *वैदिक धर्म एवं दर्शन*, प्रथम भाग, अनु. सूर्यकान्त, वाराणसी, १६६३, पृ. १८७, १८८.

६०. A. Hillebrandt, *Vedic Mythology*, Vol. I, (Tr.), Varanasi, 1981, pp. 264-65; Vol. II, p. 175.

६१. गयाचरण त्रिपाठी, *वैदिक देवताः उद्भव और विकास*, द्वितीय खण्ड, वाराणसी, १६८२, पृ. ४४८.

६२. Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, p. 275.

६३. अन्तरिक्षं गौः । ऐ. ब्रा. ४/१५; गावो वा आदित्याः । ऐ. ब्रा. ४/१७, अन्नमु गौः । शत. ब्रा. ७/५/२/१६; तै. ब्रा. ३/६/८/३; यज्ञो वै गौः । तै. ब्रा. ३/६/८/३; प्राणो हि गौः । शत. ब्रा. ४/३/४/२५; इन्द्रियं वै वीर्यं गावः । शत. ब्रा. ५/४/३/१०; गावो धेनवः । ऋ. ६/४५/२८; वैश्वदेवी वै गौः । गो ब्रा. २/३/१६; विराड् वै गौः । शत.ब्रा. ७/५/२/१६.

६४. शत. ब्रा. ३/१/२/१४.

६५. ऋ. ४/४१/५, ६/६६/३, ७/५६/४.

६६. ऋ. ४/३/१०, ६/६६/१; अथर्व. २/१/१ इत्यादि.

६७. ऋ. १/११६/१, १०/६८/५; अथर्व. ४/१५/१ इत्यादि.

६८. Hillebrandt, *Vedic Mythology*, Vol. II, p. 175.

६६. त्रयः पृश्नयः सर्वदेवत्याः । का. सं. ४६/१०.

७०. प्रवत्वतीयं पृथिवी मरुद्भ्यः प्रवत्वती द्यौर्भवति प्रयद्भ्यः ।
प्रवत्वतीः पथ्या अन्तरिक्ष्याः प्रवत्वन्तः पर्वता जीरदानवः ।।
ऋ. ५/५४/६. और ऋ. १०/७७/३७.

७१. यदुत्तमे मरुतो मध्यमे वा यद् वावमे सुभगासो दिवि ष्ठ । ऋ. ५/६०/६.

७२. ऋ. १०/७७/२.

७३. ऋ. १/३८/४, १/६४/४, ५/५४/१०, ३/५४/१३, ५/५६/६.

७४. ऋ. १/१६५/१, ५/५६/६, ५/६०/५, ८/२०/१, ८/२०/२१.

७५. अर्चन्तो अर्कं जनयन्त इन्द्रियमधि श्रियो दधिरे पृश्निमातरः ।
ऋ. १/८५/२.

[**वैदिक मरुत्,** सं. डॉ. उर्मिला रुस्तगी, दिल्ली, १६६३, पृ. १७१-१८० **में प्रकाशित ।**]

❋ ❋ ❋

६

मरणोत्तर जीवन

देवताओं के माहात्म्य का प्रधानतया गुणगान करने वाली ऋक्संहिता में स्पष्ट रूप से निश्चित कोई दर्शन अथवा चिन्तनधारा नहीं है, परन्तु इसमें उत्तरवर्ती दार्शनिक चिन्तन के बीज अवश्यमेव पाये जाते हैं । शत्रु के विरुद्ध सहायता, विजय, वैभव, सम्पत्ति, रत्न, सुवर्ण, पशु, वर्षा, सुखी परिवार, दीर्घायु आदि अभीप्सित भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के प्रति सावधान और अत्यन्त उत्सुक होते हुए भी ऋग्वैदिक आर्य जीवन की क्षणभङ्गुरता से परिचित थे और इसीलिए उन्होंने जन्म-मरण और मरणोत्तर जीवन के विविध पक्षों पर यथावसर विचार किया था। ऋचाओं के समीक्षात्मक विवेचन द्वारा मरणोत्तर जीवन और उससे सम्बद्ध विषयों पर ऋग्वैदिक आर्यों के जो अनेक विचार प्रकाश में आते हैं, निस्सन्देह उनमें से अधिकांश विचार उत्तरवर्ती विकसित विचारधाराओं के प्रारम्भिक रूप प्रतीत होते हैं । विचारणीय है कि मरणोत्तर जीवन से सम्बद्ध अधिकतर उल्लेख ऋग्वेद के प्रथम और दशम मण्डलों में उपलब्ध हैं, जिनको कई पाश्चात्य विद्वानों ने अपेक्षाकृत परवर्ती माना है। ये उल्लेख विशेषतया सोम[१], विष्णु[२] और यम[३] से सम्बद्ध दिखायी देते हैं ।

१. मर्त्य और अमृत

मनोयोगपूर्वक एक सुखद, लौकिक जीवन व्यतीत करते हुए और निराशावाद तथा भावी जीवन के प्रति चिन्ता से पर्याप्त दूर होते हुए भी ऋग्वैदिक आर्यों ने लोकोत्तर जीवन की परिकल्पना की थी। मन्त्रों में देवताओं की दिव्यता उनके द्वारा बहुचर्चित ही नहीं, स्पृहणीय भी रही है। 'मृत्यु' की विपरीत अवस्था है 'अमरता' । ये दोनों ही सृष्टि से पूर्व अवस्थित नहीं

थीं - सृष्टि के अन्तर्गत ही इनका विस्तार हुआ है।[४] सामान्यतया मनुष्य को 'मर्त्य' माना गया है[५] और देवों को 'अमृत'।[६] सभी देव अमर्त्य हैं और विशेषकर उषस्।[७] अग्नि अमृतों में प्रथम हैं।[८] अमृत अविनाशी देवता मर्त्य मनुष्यों से उत्कृष्ट हैं, तभी तो वे मनुष्यों के स्थानों पर दृष्टि रखते हैं।[९] इन्द्र-प्रभृति देवता मनुष्यों और पशुओं के जन्म के अधिष्ठाता हैं।[१०] अविनाशी अग्नि से मरणधर्मा मनुष्यों की रक्षा की सामान्य प्रार्थना की गयी है।[११] पुरुषसूक्त में देवताओं द्वारा किये गये सृष्टियज्ञ से हुई विविध उत्पत्तियों के अन्तर्गत चार वर्णों में विभक्त मानवीय समाज का परिगणन[१२] मनुष्यों पर देवताओं की प्रभुता का प्रमाण है। ऋग्वैदिक मन्त्रों में देवताओं की जितनी भी सहज विशेषताएँ वर्णित हैं, उनमें उनके 'अमृतत्व' का विशेष स्थान है। माना गया है कि अमरता और मृत्यु-दोनों ही हिरण्यगर्भ की छायामात्र हैं।[१३]

देवों की अमरता मनुष्य-जीवन की अपेक्षा अधिक नित्य और शाश्वत है, इसलिए वह 'परम काम्य' है। तत्कालीन समाज में अमृतत्व की प्राप्ति को जीवन का महान् उद्देश्य समझा जाता था। **शरदः शतम्** तक जीने की बहुशः व्यक्त की गयी इच्छा अमृतत्व की इसी कामना का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है। मन्त्रों में देवताओं को जानने और अमृत तथा अमर्त्य होने की अभिलाषाएँ हैं। ऋषि ने अग्नि से प्रार्थना की है-'हे अग्ने! मैं मरणधर्मा मनुष्य तुम्हारी उपासना करता हुआ तुम्हारे समान ही अमरत्व प्राप्त करूँ।'[१४] इसी प्रकार सोम से याचना की गयी है- 'हे सोम! तुम अमृतत्व वाले हो। हम तुम्हारा पान करके ही अमर होंगे। तदन्तर हम स्वर्ग में जाकर देवताओं को जानेंगे।'[१५] चरम ध्येय के रूप में मोक्ष की सुव्यक्त कल्पना का ऋचाओं में अभाव है, परन्तु उत्तरवर्ती भारतीय चिन्तन में निर्धारित मुक्तिरूप चरम लक्ष्य मन्त्रों में प्रकट हुई अमरत्व-प्राप्ति की इस प्रबल आकाङ्क्षा का ही विकसित रूप प्रतीत होता है।

२. पितर

ऋग्वैदिक आर्यों का विश्वास था कि उनके मृत पूर्वज देवताओं के लोक में विराजमान हैं। वे देवों की भांति पितरों की भी पूजा-उपासना करते थे। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में पितरों का स्तवन किया गया है।[१६] सोमपायी पितरों की तीन कोटियाँ बतायी गयी हैं– उत्तम, मध्यम और अधम।[१७] ग्रिसवोल्ड

के मत में इसका अभिप्राय सम्भवतः पृथिवी, आकाश और अन्तरिक्ष-स्थानीय पितरों से है।[१८] एक मन्त्र के अनुसार मृत व्यक्ति पितर-रूप को प्राप्त कर लेते हैं, जो देवाश्रय में रहते हैं।[१९] पितर वे आदिम पूर्वज हैं, जो यम द्वारा सर्वप्रथम खोजे गये मार्ग द्वारा पृथिवी से स्वर्ग को जाते हैं।[२०] उनमें अङ्गिरा, अथर्वा, भृगु इत्यादि उल्लेखनीय रहे हैं।[२१] पूर्वकाल में या उसके भी पश्चात् मरने वाले पितर मनुष्यों से ऊपर हैं और लोकोत्तर जीवनयापन करते हैं। पितृसूक्त में देवरूपों में इनका स्तवन किया गया है।[२२] मृत्यु को प्राप्त कर ये अब स्वर्गीय जीवन (**असु**) को प्राप्त कर चुके हैं।[२३] जिस प्रकार देवताओं को स्वाहा और आहुतियों द्वारा तृप्त किया जाता है, उसी प्रकार इनको स्वधा द्वारा। कहा गया है कि ये तो स्वर्ग में स्वधा से तृप्त होते हैं।[२४] स्वधा को ग्रहण करने के लिए इनका यज्ञ में आह्वान किया जाता है।[२५] ये देवताओं के समान कल्याण, मङ्गल, पुत्र, धन आदि प्रदान करने और पाप-निवारण के लिए प्रार्थनीय हैं। पितरों का देवताओं से सम्बन्ध है और प्रायः इनका साथ-साथ उल्लेख भी हुआ है।[२६] पितरों ने श्रेष्ठ, परम्परागत और सत्यरूप यज्ञ-कर्मों को करके दीप्त स्थान और तेज को प्राप्त किया था।[२७] एक मन्त्र में कहा गया है कि पितरों को देवताओं के समान महिमा मिली है।[२८]

मैकडॉनल का प्रतिपादन है कि पितर प्रायः दिव्य सम्मान के भागी हुए हैं। देवताओं की सी जीवन-यात्रा करते हुए वे अलौकिक प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं।[२९] उन्हें आकाश को नक्षत्रों से सुसज्जित करना, रात्रि में अन्धकार और दिन में प्रकाश को नियत करना, जैसे-दिव्य महान् प्राकृतिक कार्यों के कर्तृत्व का श्रेय भी यदा-कदा दिया गया है।[३०] इस प्रकार ऋग्वैदिक आर्यों द्वारा मरणोत्तर जीवन में पितरों की विशेष शक्ति और महत्ता को स्वीकार किया गया था। इस पृष्ठभूमि में ग्रिसवोल्ड द्वारा पितरों को देवताओं का ही एक विशेष गण या अर्द्धदेवता (demi-gods) मानना उपयुक्त प्रतीत होता है।[३१]

३. पितृलोक और यम

कुछ ऋचाओं में तीन लोकों का उल्लेख है,[३२] परन्तु उनका स्वरूप पर्याप्त स्पष्ट नहीं है। तीन द्युलोकों में से एक लोक यम का बताया गया है, जिसमें प्रेत मनुष्य जाते हैं।[३३] मन्त्रों में पितृलोक या यमलोक का वर्णन है। यमलोक यम का लोक है, जहाँ पितर रहते हैं। मरने के बाद जीव

वहीं पर पितरों के साथ रहता है । यम पितरों या पुण्यात्मा मृतपूर्वजों के मुखिया हैं । यम का वरुण[३४], बृहस्पति[३५], अग्नि[३६] आदि देवताओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । तीन सम्पूर्ण सूक्तों[३७] में देवरूप में इनका स्तवन किया गया है और यम-यमी-संवाद सूक्त[३८] में यमी के साथ यम के वार्तालाप का विस्तृत वर्णन है, तथापि यम के लिए 'देव' शब्द के स्थान पर **राजा** शब्द ही प्रयुक्त है ।[३९]

ऋग्वैदिक विवरणों से व्यक्त होता है कि यम एक विशेष देवता हैं, जिन्हें मृतक व्यक्ति स्वर्ग में पहुंचने पर वरुण के साथ देखते हैं ।[४०] उन्हें हविष् दिया जाता है,[४१] यज्ञ में बुलाया जाता है,[४२] और दीर्घायु करने के लिए उनकी प्रार्थना की जाती है ।[४३] ग्रिसवोल्ड के मत में प्रथम मानव के रूप में मान्य 'मनु' यम का ही दूसरा रूप रहे हैं, क्योंकि दोनों 'विवस्वत्' के पुत्र हैं ।[४४] उनकी मान्यता है कि मनु-यम ही प्रथम मानव, प्रथम यजनकर्ता, प्रथम शासक, मृत्यु के प्रथम द्रष्टा, पृथिवी से स्वर्ग तक के मार्ग के प्रथम अन्वेषक और प्रकाश के लोक में सुकर्मा मृतकों के प्रथम राजा थे ।[४५] ब्लूमफील्ड ने अपना मत दिया है कि यम प्रथम दिव्य मानव था, जिसने आकाश की उँचाईयों तक जाकर अपने पूर्वजों के लिए पितृलोक का मार्ग खोजा था ।[४६] सब प्राणी मरने के बाद यम के पास ही पहुंचते हैं, जिन्हें वे आश्रय और निवास देते हैं ।[४७] यम का सदन देवमान (सायण-देवों द्वारा निर्मित) है, वह संगीत और गीत से मुखरित होता रहता है ।[४८]

ऋग्वेद के मन्त्रों में यमलोक अथवा मृत्यु की भयानकता का उल्लेख प्रायः नहीं है, परन्तु यम के दूतरूप दो कुत्तों के वर्णन में इसका कुछ आभास माना जा सकता है । यमलोक के मार्ग में यमलोक के रक्षक और यम के दूत सरमापुत्र दो कुत्ते मिलते हैं, जिन्हें चार नेत्र वाला, अद्भुत और महान् बलशाली तथा लम्बी नाक वाला बतलाया गया है ।[४९] ब्लूमफील्ड ने इन दोनों दिव्य कुत्तों को मूलतः सूर्य और चन्द्र माना है, जबकि ग्रिसवोल्ड के विचार में यह मत अनिश्चित सा है । कुछ विद्वानों ने इससे क्रमशः आकाशगंगा तथा श्वन् और प्रश्वन् तारों का संकेत लिया है ।[५०]

जैसे पितर मनुष्यों से उत्कृष्ट हैं, वैसे ही पितृलोक या यमलोक के सुख पार्थिव लोक की तुलना में उत्कृष्ट माने गये हैं ।

४. पितृयान और देवयान

ऋग्वेदसंहिता में मृत्यु और अन्त्येष्टि[५१] के उल्लेख हुए हैं, पर वे अत्यल्प हैं। ऋग्वेद में दाह के द्वारा अथवा गाड़ने के द्वारा[५२] शव-संस्कार का विधान किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मृतात्मा के लोकान्तर में पहुंचने के लिए दाह-पद्धति को अधिक श्रेयस्कर समझा जाता था। ऋग्वेद में देवयान और देवयान से इतर मार्ग (पितृयान) का उल्लेख प्राप्त होता है। जिस प्रकार क्रव्याद् अग्नि को हव्यवाट् अग्नि से विविक्त किया गया है,[५३] उसी प्रकार पितृयान को देवयान से अलग दिखाया गया है।[५४] देवयान और पितृयान मार्गों का उल्लेख करते हुए ऋषि का कथन है -"मैंने पितरों, देवताओं और मनुष्यों के दो मार्गों के सम्बन्ध में सुना है, यह सम्पूर्ण जगत् आगे बढ़ता हुआ इन मार्गों पर चलता है।"[५५] पृथक् रूप से पितृयान और देवयान[५६] के उल्लेख भी प्राप्त है, परन्तु उनसे इनके किसी विशेष रूप पर प्रकाश नहीं पड़ता है। उपनिषदों में बहुचर्चित दोनों मार्गों की कल्पना का सूत्रपात ऋग्वेद से ही हुआ है- यह निष्कर्ष सहज सम्भाव्य है।

५. स्वर्ग और नरक

ऋग्वेद के मन्त्रों में मरणोत्तर जीवन के अन्तर्गत स्वर्ग को विशेष महत्त्व दिया गया है। इसका प्रसिद्ध नाम **नाक** है, क्योंकि यह वह लोक है जो दुःखरहित है अर्थात् शोक से परे है।[५७] कभी स्वर्ग तीन कहे गये हैं।[५८] कभी पितृलोक और स्वर्गलोक समान प्रतीत होते हैं। सुस्पष्ट न होते हुए भी मन्त्रों में ऋग्वैदिक आर्यों का यह विश्वास ही अधिक व्यक्त हुआ है कि साधारण मनुष्य मरने के पश्चात् यमलोक में जाते हैं, जबकि दिव्य पुण्यात्मा मनुष्य स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं। स्वर्गलोक आकाश के मध्य में स्थित है।[५९] वह परम व्योम में है।[६०] वह आकाश के अन्तरतम में है, वह ज्योतिष्मान् है, अमृत है, वहाँ पर शाश्वत प्रकाश रहता है।[६१] स्वर्ग का जीवन उल्लास और आनन्द-प्रमोद से परिपूर्ण है, जहाँ प्राणियों की सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं।[६२] स्वर्ग में जीव देवों के मध्य सुखपूर्वक निवास करते हैं।[६३] यहाँ जीवन की सम्पूर्णता है। अतः ऋग्वेद के अनुसार स्वर्ग वह स्थान है, जहाँ उत्तम आत्मा पृथिवी से जाकर दिव्य देवताओं के साथ सान्निध्य प्राप्त करता है। यह 'सुकृताम् लोक' है अर्थात् सुकर्मा का लोक।[६४]

ऋग्वेद में मधु के उत्स से युक्त विष्णु के परम पद[६५] और वरुण के महान् और सहस्रद्वार वाले गृह[६६] के उल्लेख सम्भवतः इस स्वर्गलोक के ही बोधक हैं । ऋचाओं में मृत्यु के अनन्तर इसी अखण्ड प्रकाश वाले अविनाशी 'अमृत लोक' में जाने की आकाङ्क्षा व्यक्त की गयी है ।[६७]

सुकर्मा मृतक इष्टापूर्त (सायण-श्रौतस्मार्तदानफल) के द्वारा परम व्योम में पहुंचते हैं ।[६८] स्वर्ग उन मनुष्यों को मिलता है, जो तपस्या में अजेय हैं और ज्वलन्त तपस्याओं में रत रहते हैं अथवा जो वीर युद्धों में लड़ते-लड़ते शरीर का परित्याग कर देते हैं । दानी भी स्वर्ग को प्राप्त करते हैं ।[६९] जिन्होंने देवों को हविरादि से तृप्त किया है[७०] तथा जिन्होंने विधिवत् कर्मों का अनुष्ठान किया है - वे भी स्वर्ग में जाते हैं ।[७१] निस्सन्देह महिमावान् ही स्वर्ग को प्राप्त करते हैं ।[७२] अच्छे कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग-प्राप्ति के इन विचारों में उत्तरवर्ती 'कर्मवाद' के सिद्धान्त का मूल निहित है ।[७३]

ऋग्वेदीय विश्वास के अनुसार परलोकीय जीवन में मृत व्यक्ति का आत्मा देदीप्यमान नवीन शरीर का लाभ करता है ।[७४] वहाँ वैभव-सम्पन्न शरीर से युक्त होकर वह देवताओं और पितरों का प्रेम-भाजन बनता है ।[७५] अथर्ववेद में इसी प्रकार का वर्णन है कि वहाँ उत्तम मृतक अपने माता, पिता और पुत्रों से मिल जाते हैं ।[७६] पारलौकिक शरीर में पार्थिव शरीर की अपूर्णताएँ नहीं रहती हैं ।[७७] 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति' का सिद्धान्त ऋग्वेद में सम्भवतः विचारों से परे था, इसलिए उत्तम आत्माओं के स्वर्ग में जाने के बाद उनके लौटने की बात यहाँ नहीं कही गयी है ।

ऋचाओं में पापमुक्ति की प्रार्थनाएँ अनेकधा की गयी हैं । पापनाशन की प्रार्थना का आधार प्रधानतया नैतिक है और यही नरक की कल्पना का आधार भी है । यदि पुण्यात्मा भावी जीवन में पुण्य फल का उपभोग करने के लिए स्वर्ग को जाता है तो यह विचार स्वाभाविक है कि अनैतिक आचरण करने वाला पापाचारी आत्मा पाप के फल-भोग के लिए उससे भिन्न और विपरीत लोक में जाता है । ऋग्वेद में स्पष्टतः 'नरक' नाम से किसी लोक का वर्णन नहीं है, जबकि अथर्ववेदसंहिता और वाजसनेयिसंहिता[७८] में 'नारक लोक' का उल्लेख है । यद्यपि ऋग्वेद में नरक के सिद्धान्त के द्योतक सङ्केत कम हैं,[७९] तथापि ऋग्वैदिक आर्यों को नरक का ज्ञान नहीं था– रॉथ प्रभृति

विद्वानों का यह कथन उपयुक्त नहीं है। जो सङ्केत मिलते हैं, वे स्पष्ट रूप से यह तथ्य सिद्ध कर देते हैं। कहा गया है कि कुपथगामिनी, पतिद्वेषिणी, मिथ्याचारिणी स्त्री और पापी, ऋतविरोधी और असत्यात्मा पुरुष 'गभीर पद' को प्राप्त होते हैं।[८०] सायणाचार्य ने **गभीरं पदम्** को 'अगाधं नरकस्थानम्' कहा है। इन्द्रासोमा से प्रार्थना की गयी है कि दुष्कर्म करने वाले पापाचारी को गर्त (वव्रे) के मध्य आलम्बनरहित घने अन्धकार में ढकेल दें, जिससे कि उनमें से एक भी न बचने पाएँ।[८१] इसी प्रकार कामनाएँ हैं कि राक्षस फैले हुए तीनों लोकों के नीचे गिरे[८२] और रात्रि के समय अपने शरीर को उलूकी की भाँति छिपाकर इधर-उधर भटकने वाली राक्षसी घोर गर्त में गिरे,[८३] जिससे व्यक्त होता है कि पापाचारियों के लिए जिस लोक की कल्पना की गयी थी, वह पृथिवी के नीचे और सघन अन्धकार से आच्छादित था। अन्यत्र इन्द्र से शत्रुओं अथवा पापाचारियों को अन्धकारमय लोक (अधरं तमः) में ढकेलने की प्रार्थना की गयी है।[८४] ऋग्वेद में नरक का भीषण और पौराणिक रूप अस्तित्व में नहीं आया है। सम्भवतः ऋग्वैदिक आर्यों का जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण ही इसका कारण रहा है। यदि यह मानें कि अपराध के लिए दण्ड की भावना से ही पापियों के लिए नरक नामक लोक की प्राप्ति की कल्पना उत्तरकाल में की गयी, तो यह मत निश्चित है कि कुकर्मी के लिए दण्ड की विचारधारा का सूत्रपात ऋग्वेद से ही हुआ है।

६. परमतत्त्व – सत्

ऋग्वैदिक मन्त्रों मे परमतत्त्व का निर्देश 'सत्' या 'पुरुष' के रूप में है। परमतत्त्व को समझने का प्रयत्न करते हुए कहा गया है कि वैदिक ऋचाएँ वह परम अक्षर धाम हैं, जहाँ सब देवताओं का वास है। जो इस बात को नहीं जानता, उसे ऋचा से कोई लाभ नहीं हो सकता है। जो इसे जानता है वही प्रसन्न रह सकता है।[८५] सूक्त के अन्तिम भाग में उस परमतत्त्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि **सत्** एक है, विद्वान् लोग अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि विविध नामों से उसकी विवेचना करते हैं।[८६] इस प्रकार जगत् के आदिकारण के रूप में एक परमतत्त्व निश्चित किया गया था। अद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त में उसे **पुरुष** नाम से

सम्बोधित किया गया है, तो हिरण्यगर्भसूक्त में उसे 'हिरण्यगर्भ' नाम दिया गया है। द्वैतवाद का मूलभूत मन्त्र 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि, जो मुण्डक और श्वेताश्वतर उपनिषदों में भी प्राप्त है, मूलतः ऋग्वेद में मिलता है, जिससे जीव और ब्रह्म के स्वरूप तथा सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है।[८७] आत्मज्ञान ही आत्मप्राप्ति अथवा मोक्ष का आधार है– इस सिद्धान्त का प्राचीनतम सङ्केत ऋचाओं में मिलता है, जहाँ कहा गया है कि जो उसे जानता है, वही अमृतत्व को प्राप्त करता है।[८८] ऋग्वैदिक आर्यों ने आन्तरिक जगत् की एकता आत्मा अथवा पुरुष के रूप में स्थापित की थी। ऋग्वेद के कितने ही प्रसङ्ग एकेश्वरवाद के प्रतिपादक हैं।[८९] सृष्टि की उत्पत्ति और उससे पूर्व की स्थिति का उद्भावक है– नासदीय सूक्त। हिरण्यगर्भसूक्त और पुरुषसूक्त भी इसी दर्शनपरम्परा में रखे जा सकते हैं। इस प्रकार परमतत्त्व और जगत् से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर ऋग्वैदिक आर्यों ने जो चिन्तन किया था, वह इस निष्कर्ष तक पहुंचने में अश्वयमेव सहायक है कि मरणोत्तर जीवन की गुत्थियों को सुलझाने के लिए जगत् की पूर्व स्थिति और उसके मूल कारण जैसे अत्यन्त आवश्यक पक्ष उनके चिन्तन से उपेक्षित नहीं रह सके। यह सत्य है कि यह अवस्था दार्शनिक चिन्तन की प्रारम्भिक अवस्था है।

ऋग्वैदिक आर्यों का विश्वास था कि जीवात्मा शरीर से पृथक् है। शरीर के नष्ट हो जाने के पश्चात् भी उसका अस्तित्व बना रहता है। एक सकल सूक्त[९०] में की गयी **मनःआवर्तन** की प्रार्थना का औचित्य इसी दृष्टि से सम्भव है। ऋग्वेद में आत्मा अथवा चैतन्य की अभिव्यक्ति अधिकतर 'असुः' या 'मनस्' शब्द के रूपों से हुई है। ऋग्वेद के अनुसार 'मन' हृदय में अधिष्ठित है।[९१] 'असुः' शारीरिक जीवनी-शक्ति का सूचक है।[९२] असु को ग्रिसवोल्ड ने Spirit और Breath कहा है,[९३] तो रानाडे और बेलवेलकर ने 'Breath or energising principle in man.'।[९४] 'मनस्' को ग्रिसवोल्ड ने 'Soul, the seat of thought and emotion' के रूप में व्याख्यात किया है, तो रानाडे और बेलवेलकर ने 'Mind or thinking and feeling principle in man' के रूप में। कई उद्धरणों से प्रतीत होता है कि जीवन और मरण 'असु' अथवा 'मनस्' के प्रवर्तन और निवर्तन पर निर्भर माने गये थे। मृतक को 'गतासु'[९५] कहने से ज्ञात होता है कि असु प्राणवाचक है। 'असुनीति'[९६] जैसे

शब्द अग्नि के द्वारा मृतात्माओं के इहलोक से परलोक ले जाये जाने का सङ्केत करते हैं । अतः मनुष्य की सम्पूर्णता के लिए शरीर के साथ 'असु' और 'मनस्' आवश्यक अङ्ग समझे गये थे ।

७. पुनर्जन्म का विचार

कीथ, मैकडॉनल, के. एस. मैकडॉनल्ड, राहुल सांकृत्यायन, घाटे, राधाकृष्णन् इत्यादि कई विद्वानों ने माना है[९७] कि ऋग्वेद में आर्य पुनर्जन्म के सिद्धान्त से अपरिचित थे और वेद के प्रारम्भिक दर्शन अथवा ऋग्वेद में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का निर्देश नहीं हुआ है । ब्लूमफील्ड ने निर्दिष्ट किया है कि भारत में पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्रायः उपनिषदों से ही दिखायी देता है ।[९८] यह सत्य है कि जीवन-मरण की गुत्थी को सुलझाने वाला, भारतीय संस्कृति का सुदृढ़ विचार 'पुनर्जन्म' ऋग्वेद के मन्त्रों में एक सिद्धान्त के रूप में विशद और विकसित नहीं है, तथापि निश्चय ही यहाँ ऐसे कुछ विवरण उपलब्ध हैं, जहाँ इस कल्पना तक पहुंचने का संकेत दिया गया है । यह मानते हुए कि पुनर्जन्म के सिद्धान्त के आदि उद्भव का प्रश्न विवाद का विषय है, रानाडे और बेलवेलकर ने कुछ विद्वानों के इस मत का उल्लेख किया है कि ऋग्वेद और प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थों में यह सिद्धान्त विद्यमान था, यद्यपि उन अंशों की व्याख्या कठिन है, जहाँ इसका निर्देश दिया जाता है ।[९९]

ऋग्वैदिक मन्त्रों में **देवताओं के जन्म** का स्पष्ट उल्लेख है ।[१००] साथ ही उत्पन्न हुए और होने वाले की अनेकशः चर्चा है ।[१०१] पुनर्जन्म की कल्पना की प्राचीनतम सत्ता के द्योतक मन्त्रों को दो भागों में बांटा जा सकता है । कुछ में पुनर्जन्म के सीधे प्रसङ्ग हैं - यद्यपि ऐसे मन्त्र कम हैं, और कुछ में वे विचार प्राप्त होते हैं, जो इस धारणा का आधार रहे हैं ।

मुख्य रूप से ऋग्वेद के जिन मन्त्रों में पश्चवैदिक युग में पूर्णतया विकसित हुए पुनर्जन्म-सिद्धान्त का बीज सन्निहित दिखायी देता है,[१०२] उनमें से प्रथम में मृत व्यक्ति से कहा गया है-'तेरा नेत्र सूर्य से सङ्गति करे, तेरा प्राण (आत्मा) वायु में मिले, तुम अपने धर्म (कर्मफलभोग) के अनुसार द्युलोक या पृथिवी को प्राप्त करो अथवा तुम्हें उचित जान पड़े तो जल अथवा वनस्पतियों में विहार करो ।'[१०३] इस कथन से शरीर के भिन्न-भिन्न तत्त्वों से बनने और मृत्यु पर आत्मा के शरीर से सङ्क्रमण करने की धारणा व्यक्त

होती है। रानाडे के अनुसार यहाँ पुनर्जन्म की कल्पना का प्रथम चरण–जगत् की सब वस्तुओं को सजीव मानना दिखायी देता है। इसमें कर्मसिद्धान्त का प्राचीनतम स्वरूप मिलता है, जब आत्मा को अपने धर्म अर्थात् गुण के अनुसार, स्वर्ग अथवा संसार में जाने का आदेश दिया गया है।[१०४] द्वितीय सङ्केत 'मनः आवर्तनम्' नामक सम्पूर्ण सूक्त में है, जहाँ अचेतन मनुष्य के मन (आत्मा) को सम्बोधित किया गया है और पुनः आने और जीवन धारण करने के लिए उसका आह्वान किया गया है। ऋषि कहते हैं - 'हम तुम्हारे मन (आत्मा) को विवस्वान्-पुत्र यम के पास से पुनः बुलाकर यहाँ इस लोक में जीवन धारण कराएँगे। आत्मा जो स्वर्ग अथवा पृथिवी अथवा चतुष्कोण नभोमण्डल में जा सकता है, अथवा दिशाओं में व्याप्त हो सकता है, अथवा जल की लहरों, सूर्य की किरणों में आश्रय ग्रहण कर सकता है अथवा जल और वनस्पति को अनुप्राणित कर सकता है, अथवा सूर्य या उषा में विलीन हो सकता है, अथवा पर्वत पर विश्राम कर सकता है, अथवा समस्त जगत् में फैल सकता है, अथवा भूत और भविष्य से एक रूप हो सकता है, हम मन्त्रों द्वारा उसी आत्मा का आह्वान करेंगे और उसे एक निवास ग्रहण करने पर बाध्य करेंगे।'[१०५] इससे विशेष परिस्थितियों में आत्मा के शरीर से बाहर निकल कर फिर जीवन धारण करने की मान्यता का सङ्केत मिलता है।

सायण के अनुसार बन्धु, श्रुतबन्धु और विप्रबन्धु गौपायन ऋषियों ने सुबन्धु के देह से इन्द्रियवर्ग सहित निकले हुए मन को पुनः उसमें प्रवेश कराने के लिए इस सूक्त का दर्शन एवं जाप किया है। ग्रिफिथ के अनुसार यह सूक्त मानव की आत्मा को मृत्यु के पास से पुनः बुलाने के निमित्त कहा गया है। जे. म्यूर ने भी यहाँ **मनस्** शब्द से आत्मा का अभिप्राय लिया है, जिसका अस्तित्व मृत्यु के बाद रहता है।[१०६] अतः इस सूक्त के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक ऋषि जानते थे कि शरीर से निकलने के बाद मानव का आत्मा आकाश, पृथिवी, सूर्य, जल, ओषधि, समुद्र, पर्वत तथा अन्य समस्त अगम्य स्थानों में चला जाता है और वह फिर वापस भी आ सकता है। एक अन्य मन्त्र में ऋषि ने कहा है, 'मैंने सुबन्धु के मन को विवस्वान् के पुत्र यम से जीवन तथा विनाशरहित होने के लिए छुड़ाया है, मृत्यु या विनाश के लिए नहीं।'[१०७] अन्यत्र जातवेदस् अग्नि से प्रेत पुरुष को शरीर से सङ्गत करने की प्रार्थना में यही धारणा निहित है।[१०८]

ऋग्वेद के मन्त्रों में यत्र-तत्र पुनर्जन्म के सङ्केत हैं । वामदेव ऋषि ने स्वयं के मनु होने और सूर्य होने का वर्णन किया है ।[१०९] परमतत्त्व और आत्मज्ञान जैसे गहन विषयों पर विचार करने वाले सूक्त में दीर्घतमस् ने पुनर्जन्म के कई विपुल सङ्केत दिये हैं । ऋषि का प्रश्न है -'प्रथम जन्म वाले को किसने देखा है, जो अन्तर्जीवन-सार अस्थिविहीन ने अस्थिमय शरीर धारण किया है ?'[११०] आत्मज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए मन्त्र का प्रतिपादन कि 'जो यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह पिता का भी पिता हो जाता है',[१११] अप्रत्यक्षतया पुनर्जन्म का द्योतक माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में वह ऋचा विशेषतया उल्लेखनीय है, जिसमें कहा गया है कि शरीर या इन्द्रियों के पालनकर्ता जीव का कभी नाश नहीं होता है, वह कभी पास, कभी दूर और कभी विभिन्न मार्गों में विचरण करता रहता है। उसका इस जगत् में (नाना योनियों में) आवागमन बार-बार लगा रहता है ।[११२] मन्त्रार्थ की दृष्टि से यह ऋचा दुर्बोध और अति गूढ़ है। सायण ने इसे मुख्य रूप से 'आदित्य' के अर्थ में लिया है और विकल्प से 'प्राण' के अर्थ में। परन्तु इससे पुनर्जन्म की धारणा का ग्रहण करना सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि इससे पूर्व की ऋचा में प्राण-युक्त, प्रगतियुक्त, चैतन्ययुक्त, अमर जीव का वर्णन है, जिसे शरीर में प्रतिष्ठित बताया गया है।[११३] इसके अतिरिक्त 'वरीवर्ति' क्रियापद पुनः पुनः आगमन का बोधक है। जीवन अमर है और शरीर नाशवान् । संसार शरीर को पहचानता है, जीव को नहीं । कहा गया है -'अमर्त्य यह आत्मा मर्त्य देह के साथ रहता है। अन्नमय शरीर पाकर वह कभी ऊपर, कभी नीचे जाता है। ये दोनों एक साथ रहकर भी विरुद्ध गति वाले हैं। संसार इनमें से एक को देख पाता है और दूसरे को नहीं देख पाता है ।'[११४] ऋग्वेद की उक्त दो ऋचाओं को रॉथ, बोथलिंक और गेल्डनर ने ऋग्वेद में पुनर्जन्म की कल्पना का पर्याप्त प्रमाण माना है ।[११५]

निश्चय ही उपर्युक्त विवरण ऋग्वेद में पुनर्जन्म की कल्पना के सूत्रपात के बोधक होने के साथ-साथ उपनिषदों में स्पष्टतया आविष्कृत और भारतीय दर्शन में बहुचर्चित पुनर्जन्म-सिद्धान्त के आदिस्रोत भी हैं । पुनर्जन्म की विचारधारा मरणोत्तर-जीवन-सम्बन्धी चिन्तन की चरम परिणति है। अतः इससे ऋग्वेद में मरणोत्तर जीवन परक चिन्तन की व्यापकता सिद्ध होती है।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. ऋ. ६/११३/७-११.
२. ऋ. १/१५४/५-६.
३. ऋ. १०/१४.
४. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि । ऋ. १०/१२६/२.
५. ऋ. १/१८/३,५.
६. देवासो अमृतासो अस्थुः । ऋ. १/१२३/१; और भी १/५६/१ इत्यादि .
७. ऋ. १/३०/२०, ३/६१/२.
८. अग्नेः वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे । ऋ. १/२४/२.
९. ते धामान्यमृता मर्त्यानामदब्धा अभि चक्षते । ऋ. ८/१०१/६.
१०. द्विपाच्च यच्चतुष्पात्संसृजानि । ऋ. १०/२७/१०.
११. जरिम्णेऽग्ने मर्ता अमर्त्यस्त्वं नः । ऋ. १०/८७/२१.
१२. ऋ. १०/६०/१२.
१३. यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः । ऋ. १०/१२१/२.
१४. यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो अमर्त्यः । ऋ. ८/१६/२५.
१५. अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् । ऋ. ८/४८/३.
१६. ऋ. १०/१४, १०/१५, १०/५६ इत्यादि.
१७. उदीरतामवर उत् परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः । ऋ.१०/१५/१.
१८. H. D. Griswold, *The Religion of the Rigveda*, Varanasi, 1971, p. ३२२; तु.- अथर्व. १८/२/४६.
१९. ऋ. १०/१६/२.
२०. ऋ. १०/१४/१-२.
२१. ऋ. १०/१४/६.
२२. ऋ. १०/१५.
२३. ऋ. १०/१५/१; Griswold, *The Religion of the Rigveda*, p. 321.
२४. मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते । ऋ. १०/१५/१४, १०/१४/३.
२५. ऋ. १०/१५/२, १३.
२६. मो षृ णो अत्र जुहुरन्त देवा मा पूर्वे अग्ने पितरः पदज्ञाः ।
ऋ. ३/५५/२, ७/७६/४.

२७. अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः ।
ऋ. ४/२/१६.

२८. महिम्न एषां पितरश्च नेशिरे । ऋ. १०/५६/४.

२९. A.A. Macdonell, *Vedic Mythology*, Delhi, 1981, p. 170.

३०. ऋ. १०/६८/११, ७/७६/४.

३१. Griswold, *The Religion of the Rigveda*, p. 321.

३२. ऋ. १/३५/६, १/१०५/५, २/३/२.

३३. तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट् ।
ऋ. १/३५/६.

३४. ऋ. १०/१४/७.

३५. ऋ. १०/१३/४.

३६. ऋ. ११/२१/५.

३७. ऋ. १०/१४, १०/१३५, १०/१५४.

३८. ऋ. १०/१०.

३९. यमं राजानं हविषा दुवस्य । ऋ. १०/१४/१.

४०. यमं पश्यासि वरुणं च देवम् । ऋ. १०/१४/७.

४१. यमाय जुहुता हविः । ऋ. १०/१४/१३.

४२. ऋ. १०/१४/४.

४३. स नो देवेष्वा यमद् दीर्घमायुः प्र जीवसे । ऋ. १०/१४/१४.

४४. Griswold, *The Religion of the Rigveda*, p. 325.

४५. वही, p. 327.

४६. M. Bloomfield, *The Religion of the Veda*, Delhi, 1972, p. 250; ऋ. १०/१४/१-२.

४७. तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु । ऋ. १०/१८/१३.

४८. इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते ।
इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ।। ऋ.१०/१३५/७.

४९. सारमेयौ श्वानौ । ऋ. १०/१४/१०;
श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरथौ। ऋ. १०/१४/११.
उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ । ऋ. १०/१४/१२.

५०. विश्वेश्वरनाथ रेउ, *ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि*, मोतीलाल बनारसीदास, १९६७, पृ. २०७ पर उद्धृत ।

५१. ऋ. १०/१८, १०/१६.

५२. ऋ. १०/१६/१, १०/१८/१०-१३.

५३. क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः ।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ।।
ऋ. १०/१६/६.

५४. परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात् ।
ऋ. १०/१८/१.

५५. द्वे स्रुती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ।।
ऋ. १०/८८/१५.

५६. पन्थामनु प्रविद्वान् पितृयाणम् । ऋ. १०/२/७;
अन्तर्विद्वाँ अध्वनो देवयानान् । ऋ. १/७२/७;
एह यातं पथिभिर्देवयानैः । ऋ. १/१८३/६;
प्र मे पन्था देवयानाः । ऋ. ७/७६/२.

५७. कमिति सुखनाम तत् प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत् । नि. २/१४/३.

५८. यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः । ऋ. ९/११३/९.

५९. मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते । ऋ. १०/१५/१४.

६०. सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् । ऋ. १०/१४/८.

६१. यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन्मां धेहि पवमानाऽमृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ।।
ऋ. ९/११३/७.

लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्रं मामृतमं कृधि । ऋ. ९/११३/९.

६२. यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम् । ऋ. ९/११३/१०.
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्द्रो परि स्रव ।।
ऋ. ९/११३/११.

६३. स नो देवष्वा यमद् दीर्घमायुः प्र जीवसे । ऋ. १०/१४/१४,

१/१२५/५.

६४. ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् । ऋ. १०/१६/४.

६५. विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः । ऋ. १/१५४/५.

६६. बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते । ऋ. ७/८८/५.

६७. ऋ. ६/१३३/७, ८,६.

६८. ऋ. १०/१४/८.

६६. तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ।। ऋ. १०/१५४/२.
ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ।। ऋ. १०/१५४/३;
१०/१०७/२, १/१२५/५.

७०. नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यः पृणाति सह देवेषु गच्छति ।
ऋ. १/१२५/५.

७१. ऋ. १०/१५४/४-५.

७२. ते ह नाकं महिमानः सचन्त । ऋ. १०/६०/१६.

७३. Griswold, *The Religion of the Rigveda*, p. 318.

७४. हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ।ऋ. १०/१४/८.

७५. संवेशने तन्वश्चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जरित्रे । ऋ. १०/५६/१.

७६. अथर्व. ६/१२०/३ ; १२/३/१७.

७७. ऋ. १०/१४/८; अथर्व. ३/२८/५.

७८. अथर्व. १२/४/३६; वा. सं. ३०/५.

७६. Oldenberg, *Die religion des Veda*, Berlin, 1894, pp. 536-542; Macdonell, *Vedic Mythology*, p. 169; Griswold, *The religion of the Rigveda*, p. 319.

८०. अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः ।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम् ।।
ऋ. ४/५/५.

८१. इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम् ।

यथा नातः पुनरेकश्चनोदयत् तद् वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः ।।
ऋ. ७/१०४/३ .

८२. तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः । ऋ. ७/१०४/११.

८३. प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप दुहा तन्वं गूहमाना ।
वव्राँ अनन्ताँ अव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः ।।
ऋ. ७/१०४/१७.

८४. यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः । ऋ. १०/१५२/४.

८५. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद्विदुस्ते इमे समासते ।।
ऋ. १/१६४/३६.

८६. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।
ऋ. १/१६४/४६.

८७. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ।।
ऋ. १/१६४/२०

८८. यद् वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत् तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशुः ।
ऋ. १/१६४/२३.

८९. ऋ. १/१०१/३-६, ३/४६/२, २/२७/१०, १०/१२१/१-५.

९०. ऋ. १०/५८.

९१. मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोचत् । ऋ. ८/१००/५.

९२. ऋ. १/११३/१६, १/१४०/८; Macdonell, *Vedic Mythology*, p. 165.

९३. *Griswold, The Religion of the Rigveda*, p. 313.

९४. S. K. Belvalkar & R.D. Ranade, *History of Indian Philosophy, The Creative Period*, New Delhi, 1974, p. 25.

९५. गतासुमेतमुप शेष एहि । ऋ. १०/१८/८.

९६. यदा गच्छात्यसुनीतिमेताम् । ऋ. १०/१६/२.

९७. कीथ, *वैदिक धर्म एवं दर्शन* (अनूदित), द्वितीय भाग, दिल्ली १९६५, पृ० ७०८; Macdonell, *History of Sanskrit Literature*, London, 1900, p. 387; Macdonall, *Vedic Mythology*, p. 165; K. S. Macdonald, *The Vedic Religion*, Calcutta, 1982, p. 19; राहुल

सांकृत्यायन, *ऋग्वेदिक आर्य*, किताबमहल, १६५७, पृ. २११; घाटे, *ऋग्वेद पर व्याख्यान* (अनूदित), दिल्ली १६७६, पृ. १३६; एस. राधाकृष्णन्, *भारतीय दर्शन* (अनूदित), प्रथम भाग, दिल्ली, १६६६, पृ. १०६.

६८. M. Bloomfield, *The Religion of the Veda*, Delhi, 1972, p. 211, 257.

६६. S.K. Belvalkar & R.D. Ranade, *History of Indian Philosophy, The Creative period*, p. 81.

१००. नकिर्ह्येषां जनूषिं वेद । ऋ.७/५६/२.

१०१. न ते विष्णो जायमानो न जातः । ऋ. ७/६६/२;
न जातो न जनिष्यति। ऋ. १/८१/५.

१०२. Macdonell, *Vedic Mythology*, p. 166;
Griswold, *The Religion of the Rigveda*, p. 313.

१०३. सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा ।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ।।
ऋ. १०/१६/३.

१०४. रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, *उपनिषद-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण* (अनूदित), जयपुर, १६७१, पृ. १०४-५.

१०५. यत् ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम् ।
तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ।। ऋ. १०/५८/१-१२.

१०६. J. Muir, *Original Sanskrit Texts*, Vol. V, London, 1872, p. 313.

१०७. यमादहं वैवस्वतात् सुबन्धोर्मन आभरम् ।
जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ।। ऋ. १०/६०/१०.

१०८. आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः ।
ऋ. १०/१६/५.

१०६. अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहम् । ऋ. ४/२६/१.

११०. को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
ऋ. १/१६४/४.

१११. कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत् ।

ऋ. १/१६४/१६.

११२. अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ।।

ऋ. १/१६४/३१; १०/१७७/३.

११३. अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।

ऋ. १/१६४/३०.

११४. अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ।।

ऋ. १/१६४/३८.

११५. ऋ. १/१६४/३०, ३८; *उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण*, पृ. १०७ पर उद्धृत; *वैदिक धर्म एवं दर्शन* (अनूदित), द्वितीय भाग, पृ. ७०६ पर उद्धृत ।

[RTAM, Shri Gopal Chandra Sinha Commemoration Volume, Journal of Akhila Bharatiya Sanskrit Parisad, ed. Dr. J.P. Sinha, Lucknow, 1984-86, Vol. XVI - XVIII, pp. 377- 389 **में प्रकाशित ।]**

* * *

७

कर्मपरक चिन्तन

ऋग्वैदिक आर्यों का जीवन सुखी और आशापूर्ण था। निराशावाद और भावी जीवन के प्रति चिन्ता से विमुख होकर भी वे जीवन की क्षणभङ्गुरता से अपरिचित न थे। उन्होंने मरणोत्तर जीवन की परिकल्पना के अन्तर्गत परलोक की अवधारणा की थी। ऋग्वेद में शरीर-क्षय के बाद मानव-आत्मा के उस लोक में जाने का वर्णन हुआ है, जहाँ पहले पितर गये हुए हैं और यम के साथ आनन्द मना रहे हैं।[१] इसे सुकर्मा अथवा पुण्यात्मा का लोक कहा गया है।[२] एक मन्त्र के अनुसार मृत व्यक्ति पितर रूप को प्राप्त कर लेते हैं और देवाश्रय में रहते हैं।[३] मन्त्रों में मृत्यु के अनन्तर अखण्ड प्रकाश वाले अविनाशी 'अमृतलोक' में जाने की आकांक्षा है। महिमावान् के लिए 'नाक' की प्राप्ति का निर्देश है।[४] पापाचारी को गर्त के मध्य घने अन्धकार में ढकेलने की प्रार्थना है।[५] ऋग्वेद में मरणोत्तर जीवन के अन्तर्गत परलोक के दो पक्ष दिखायी देते हैं - पुण्यात्माओं के लिए स्वर्ग अथवा आनन्दमय, प्रकाशमय लोक और दुरात्माओं के लिए गहन अन्धकारमय लोक। इस धारणा में भारतीय दार्शनिक चिन्तन के उत्तरवर्ती कर्मवाद के सिद्धान्त का मूल निहित है। वह कितना और किस रूप में ऋग्वेद से उद्भूत और विकसित हुआ है, इस जिज्ञासा से ऋक्संहिता में प्राप्त कर्मसम्बन्धी विचार यहाँ अध्येय हैं।

(१) कर्म और क्रतु

ऋग्वेद की संहिता में 'कर्म' शब्द अनेक विभक्ति-रूपों में ५० से कुछ अधिक बार प्रयुक्त हुआ है। 'अकर्म' और 'सुकर्म' समस्त रूप भी

प्रयोग में आये हैं । 'क्रतु' शब्द ऋग्वेद में यज्ञार्थक होने के अतिरिक्त भाष्यकारों द्वारा अनेक बार कर्मवाचक या प्रज्ञावाचक माना गया है । इसके भी अनेक समस्तरूप मिलते हैं । निरुक्त के अनुसार करणार्थक √कृ से व्युत्पन्न 'कर्म' शब्द क्रिया का वाची है ।[६] 'क्रतु' शब्द निघण्टु में कर्मनामों और प्रज्ञानामों में आम्नात है ।[७]

(२) कर्म की महत्ता

ऋग्वैदिक मन्त्रों में जीवन में लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न, परिश्रम, पुरुषार्थ और कर्म की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है । कहा गया है कि बिना परिश्रम के देवताओं से मित्रता नहीं मिलती है ।[८] तात्पर्य है कि देवगण उसी की सहायता करते हैं, जो परिश्रम और तप करता है। अच्छे कर्मों में तपस्या और दान-भावना के साथ-साथ युद्ध में वीरत्व-प्रदर्शन भी गिनाया गया है ।[९] सामान्य रूप से कर्म की प्रशंसा में कहा गया है कि 'जहाँ कर्म है, वहीं पर सुख है ।[१०] देवता भी कर्म द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं । इन्द्र उत्तम कर्तृत्वशक्ति से युक्त होकर ही जन्में थे ।[११] सोम देवता की सहायता से प्राचीनकाल में बुद्धिमान् पितरों ने कार्य किये थे ।[१२] विशेष रूप से श्रेष्ठ और उत्तम कर्मों को कर्तव्य और दुष्कर्मों को अकर्तव्य निर्धारित किया गया है। दोनों के ही परिणामों का पृथक्-पृथक् निर्देश है । अच्छे कर्मों की प्रशंसा और दुष्कर्मों की निन्दा की गयी है।

(३) सुकृत् और सुक्रतु

ऋग्वैदिक धारणा है कि मनुष्य अपने श्रेष्ठ और महान् कर्मों से ही प्रसिद्ध होता है ।[१३] ऋभुगण अपने उत्तम कर्मों के कारण ही देव बने[१४] और इन्द्र ने उन्हें अपना मित्र बनाया ।[१५] ऋभुओं ने अपने 'सुकृत्य' के कारण ही सर्वत्र व्याप्त होकर अमृतत्व को प्राप्त किया था ।[१६] शोभन दान देने वाले और अग्निदेव के अनुग्रह की इच्छा रखने वाले सभी मनुष्य शुभकर्म करते हैं ।[१७] इन्द्र ने श्रेष्ठ कर्मों को प्रथम किया, इसलिए वे प्रशंसनीय हुए ।[१८] कर्मण्य और सुकृत् कर्ता पुत्र की कामना की गयी है ।[१९] ऋचाओं में उत्तम और श्रेष्ठ कर्म करने वाले देवों के लिए सुकृत् और 'सुक्रतु' विशेषण प्रयुक्त हुए हैं ।[२०] एक मन्त्र में एक साथ इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, भग, द्यावापृथिवी

और मरुतों को **सुकृतं दैव्यं जनम्** कहकर रक्षा के लिए बुलाया गया है।[२१] पितरों को पुण्यात्मा होने के कारण 'सुकृतः' कहा गया है।[२२] अनेक विशेषणों से 'सिन्धु' का स्तवन करते हुए उसे 'सुकृता' भी बताया गया है।[२३] उरु और पृथु इन्द्र अपनी कर्तृत्व-शक्ति के कारण 'सुकृत' है, तो निर्माण करने के कार्य में कुशल होने से अग्नि 'सुक्रतु' देव है।[२४] वे सुक्रतु वैश्वानर रूप में लोकों का निर्माण करते हैं।[२५] इन्द्र को सैकड़ों कर्म उत्तम रीति से करने के कारण 'शतक्रतुः' उपाधि दी गयी है। उनके अनेक कर्म जनता के संरक्षण के लिए होते हैं या लोगों को सुख देने के लिए होते हैं।[२६] इन्द्र को प्रदत्त 'शतक्रतु' उपाधि उस पौराणिक मान्यता का आधार मानी जा सकती है, जिसके अनुसार सौ यज्ञ (क्रतु) करने वाला व्यक्ति इन्द्र-पद को प्राप्त करता था। तात्पर्य है कि उत्तम और प्रभूत कर्म ही सुख और प्रभुता को जन्म देते हैं। स्पष्ट शब्दों में 'सुकृत्' के परिणामस्वरूप मनुष्य को प्राप्त होने वाले अन्न आदि का उल्लेख किया गया है- अश्विनौ अच्छे कर्म करने वाले दानी मनुष्य को अन्न प्रदान करते हैं,[२७] तो उषा सुकृत् और सुदानी व्यक्ति के लिए अन्न धारण करती हैं।[२८] दान, यज्ञ आदि उत्तम कर्मों के कर्ताओं को देवताओं से मिलने वाले धन, सुख, सन्तान आदि के उल्लेख मन्त्रों में यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। वास्तव में 'सुकृत्' को ही कल्याण का आधार माना गया है –'सत्कर्म करने वालों के सत्कर्म हमारी शान्ति बढ़ाने वाले हों।'[२९]

ऋग्वेद में 'सुकृत्' यदि पुण्यकर्मा है, तो उससे अपेक्षाकृत अधिक पुण्यकर्मा 'सुकृत्तरः' और सर्वाधिक पुण्यकर्मा 'सुकृत्तमः' है। ये शब्द क्रमशः तीन और एक बार ही प्रयुक्त हुए हैं। अग्नि[३०] और विष्णु[३१] 'सुकृत्तरः' कहे गये हैं। समस्त आनन्द के अधिकारी होने के कारण सर्वाधिक पुण्यशाली व्यक्ति के लिए कहा गया है कि 'सुकृत्तम जन मधु का भोग प्राप्त करते हैं।[३२] इस प्रकार ऋग्वैदिक मन्त्रों में न केवल शुभ और उत्तम कर्मों की प्रशंसा है, अपितु वहाँ उनसे परलोक या इस लोक में मिलने वाले अच्छे फलों का सामान्य या विशेष रूप से प्रतिपादन भी है। स्वर्ग को तो 'सुकृतों का लोक' कहा ही गया है; क्योंकि वह पुण्य और उत्तम कर्म करने वालों के द्वारा ही

प्राप्तव्य है ।

(४) अकर्मा और दुष्कृत्

ऋचाओं में 'अकर्मा' और 'अक्रतु' शब्दों का प्रयोग करके निष्कर्मण्यता या कर्म न करने वाले की निन्दा की गयी है; यद्यपि इन शब्दों का प्रयोग एक-एक बार ही हुआ है । इन्द्र को सम्बोधित करते हुए उनसे 'अकर्मा' अमानुष, दस्यु के विनाश की प्रार्थना की गयी है ।[३३] अन्यत्र 'मन्यु' को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि 'मैं कर्मशक्ति से दूर हुआ हूँ, इसलिए कर्महीन (अक्रतु) सा तुम्हारे पास आया हूँ, तुम बल प्रदान करते हुए मुझे प्राप्त हो ।'[३४] अकर्मा से भी अधिक निन्दनीय दुष्कृत् है, क्योंकि दुष्कर्म अच्छे जीवन में बाधक होने से त्याज्य माने गये हैं। दुष्कर्मकारी तो राक्षस होते है, क्योंकि इन्द्रासोमा उन्हें अगाध अन्धकार में डाल देते हैं ।[३५] उनसे प्रार्थना है कि 'दुष्कर्म करने वालों के लिए सुख से गमन करने की सुविधा न हो।'[३६] इसी प्रकार इन्द्राणी ने घोषणा की है कि 'मैं दुष्ट कर्म करने वाले को सुखकारी नहीं हो सकती ।'[३७] अग्नि से प्रार्थना है कि वे दुष्कृत् को अपनी तीक्ष्ण जिह्वारूपी ज्वाला से नष्ट कर दें ।[३८] पर्जन्य देव न केवल राक्षसों को मारते हैं, अपितु दुष्कृत् जनों को भी मारते हैं और जब वे ऐसा करते हैं तब विश्व प्रसन्न हो जाता है।[३९] दुष्कर्म करने वाले पापाचारियों के लिए अन्धकारमय लोक की चर्चा पहले की जा चुकी है । झूठ, व्यभिचार, दुर्वचन, देव-अवमानना, अदानशीलता, द्यूतक्रीड़ा आदि दुष्कर्म निन्दनीय हैं ।[४०] पापनिवृत्ति की प्रार्थनाओं का भी यही औचित्य है कि अशुभ कर्म अशुभ फल प्रदान करते हैं, अत एव अकरणीय हैं। 'दुष्कृत् व्यक्ति ऋत के पथ को पार नहीं कर सकते'– ऋषि अङ्गिरा की यह उक्ति[४१] ऋग्वैदिक दृष्टिकोण का वह बिन्दु है, जहाँ से कर्मवाद का सिद्धान्त जन्म लेता है ।

(५) कर्मफल और भोग

ऋग्वेद में जहाँ शुभ कर्मों के शुभ फल और दुष्ट कर्मों के अशुभ फल की चर्चा पर्याप्त स्पष्ट रूप में की गयी है, वही कर्मफल सम्बन्धी विचार अत्यल्प रूप में प्राप्त होते हैं । अश्विनौ से एक मन्त्र में कहा गया है कि

'तुम्हारे पहले किये गये कर्म कभी जीर्ण नहीं होते हैं ।'[४२] इन्द्र ने एक ऋचा में कहा है कि 'लोग मुझे 'कृत' और 'कर्त्व' से प्राप्त करते हैं ।[४३] वरुण देवता की स्तुति में बताया गया है कि सब अद्भुत कर्मों को जानने वाले वे 'कृत' और 'कर्त्व' को पूर्णता से देखते हैं ।[४४] 'कृत' से 'किये जा चुके कर्म' और 'कर्त्व' से 'किये जाने वाले कर्म' का अभिप्राय लेने पर कदाचित् इनसे सञ्चित और प्रारब्ध कर्मों का सङ्केत लिया जा सकता है ।[४५] जबकि निर्विवाद रूप से ये शब्द कर्मसामान्य के द्योतक हैं ।

पाप के प्रति सचेत होना–ऋग्वैदिक धर्म की प्रधान विशेषता है । अनेक बार पाप, द्रोह या अपराध की स्वीकृति की गयी है । ऋग्वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य में पाप की अवस्थिति अति सहज है । प्रायश्चित्त और देवकृपा द्वारा उनका परिमार्जन सम्भव है । पापमुक्ति एक नैतिक अपेक्षा है । देवकृपा-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है । मन्त्रों में स्थान-स्थान पर वरुण से प्रार्थना है कि वे पापों से मुक्त कर दें । पाप के लिए अनेक बार वरुण देव से क्षमा की याचना की गयी है । ऋषियों की दृष्टि में कुछ पाप स्वयंकृत हैं, तो कुछ अन्यकृत[४६] कुछ स्थानान्तरित होकर पूर्वज, पिता आदि से प्राप्त हो जाते हैं । तभी वरुण से प्रार्थना है कि पितृजन्य अपराधों से हमें मुक्त कर दो ।[४७] देवस्तुति, यजन और हवि द्वारा वरुण से पापों को शिथिल करने की प्रार्थना की गयी है ।[४८] पाप सम्बन्धी उक्त मान्यताओं से ऋचाओं में कर्मफल-विषयक दो तथ्य प्रकाश में आते हैं –व्यक्ति दूसरे के पापों को भोग सकता है और देवकृपा से पापकर्मों के फल शिथिल हो सकते हैं । ये तथ्य उत्तरवर्ती कर्म-सिद्धान्त के प्रतिकूल है, क्योंकि उसके अन्तर्गत दूसरे के पापों को भोगना या अपने पापों को न भोगना सर्वथा असम्भव है ।

(६) सकाम और निष्काम कर्म

स्पष्ट रूप से ऋग्वैदिक स्तुतियों में सकाम कर्म की प्रधानता दिखलायी देती है । सुख और शान्ति ऋग्वैदिक जीवन का मुख्य ध्येय था और तन्निमित्त ही अधिकांश धार्मिक, याज्ञिक या नैतिक क्रियाएँ होती थीं । देवों का अनुग्रह अभिलषित-प्राप्ति का आधार माना गया है । उपासक देवता को हवि और स्तोत्र प्रदान करता है, उसके आगे अपनी कामना रखता है और देवता उपासक की कामनाएँ पूर्ण करते हैं । जो यजमान यज्ञ में आहुतियाँ प्रदान

करता है, उसके प्रति अग्नि कल्याणकर होता है।[४९] प्राप्ति का इच्छुक जो मनुष्य विष्णु के लिए हवि अर्पित करता है, उनका नमस्कारपूर्वक यजन करता है और उनकी पूजा करता है, वह अवश्य ही प्राप्त करता है।[५०] अग्नीषोमा स्तुतिरूप वाक्य से पूजा करने वाले यजमान को गायें और अश्व प्रदान करते हैं।[५१] वे आहुति अर्पित करने वाले को सन्तान और आयु प्रदान करते हैं।[५२] इन्द्र सोमपान के प्रत्येक आनन्द में गौओं के झुण्ड प्रदान करते हैं।[५३] इस प्रकार के मन्त्रों से प्रकट होता है कि ऋग्वैदिक दृष्टि में कामनाओं को ध्यान में रखकर कर्मों में प्रवृत्ति को स्वाभाविक और दोषरहित माना गया है। ऋग्वेद में कहीं भी निष्काम भाव से कर्म करने की बात नहीं की गयी है। राहुल सांकृत्यायन का मत है कि ऋग्वेद के ऋषियों और उनके प्राचीन वंशजों को निष्काम कर्म से कोई वास्ता नहीं था।[५४] यज्ञ और कर्म के अर्थ में 'क्रतु' शब्द का प्रयोग ऋचाओं में हुआ है, जबकि आगे चलकर 'यज्ञ' को ही सर्वश्रेष्ठ कर्म माना जाने लगा है।[५५] यज्ञ और कर्म का तादात्म्य इसलिए भी सम्भव हो सका, क्योंकि दोनों में व्यवस्थामूलक समानताएँ हैं यथा, दोनों के फल होते हैं और किन्हीं कामनाओं की पूर्ति के लिए इनको किया जाता है।[५६]

(७) ऋत की धारणा और कर्म-सिद्धान्त

ऋत की धारणा ऋग्वैदिक ऋषियों के अद्भुत और अलौकिक चिन्तन की देन है। ऋत से ही देवताओं का जन्म होता है। देवता ही ऋत को जानते हैं (ऋतज्ञाः)।[५७] देवता ऋत की सहायता से ही सब कुछ करते हैं। विश्व में सुव्यवस्था का मूल कारणतत्त्व यही है। समस्त प्रकृति ऋत का विस्तार है।[५८] मन्त्रों में ऋत विश्वशक्ति या परमतत्त्व के सारूप्य को प्राप्त करता हुआ सा दिखायी देता है। दैवी अथवा प्राकृतिक जगत् की भाँति 'ऋत' मानव-जगत् का भी आधार है। द्रष्टा ऋषि वामदेव ने 'ऋत' की महिमा गायी है।[५९]

वैदिक विद्वानों ने 'ऋत' के अभिप्राय को अनेक प्रकार से समझने का प्रयास किया है। भाष्यकारों ने उसे उदक, सत्य और यज्ञ के अर्थ में ग्रहण किया है। अधिकांश मतों के अनुसार 'ऋत' उस अनन्त और अटल विधान का वाचक है, जिसके अधीन सृष्टिचक्र में सब अपने-अपने कार्य में

संलग्न हैं । वस्तुतः जगत् में व्यवस्था का सिद्धान्त ही ऋत का सिद्धान्त प्रतीत होता है ।

गाडगिल महोदय ने ऋत के स्वरूप और अर्थ पर ऋग्वैदिक सन्दर्भों के आधार पर विचार करते हुए प्रतिपादित किया है– ऋग्वेद में पुरोहितों में प्रचलित इस विशेष धारणा का पता लगता है कि विश्व किसी निश्चित नियम द्वारा बना हुआ है, जो ईश्वर तथा मनुष्य को समान रूप से बाँधता है और जिसके आधार पर ही मनुष्य और प्रकृति के कार्य क्रमपूर्वक होते हैं । इसीलिए ऋत यज्ञरूप में था, जो जगत् की व्यवस्था का कारण था । वैदिक आर्य विश्वासपूर्वक देवताओं को यज्ञकर्म में अपनी स्तुतियाँ समर्पित करते थे और उनके द्वारा अपनी इच्छापूर्ति की अभिलाषा करते थे । इस प्रकार वैदिक काल का यज्ञ 'अविनाशी नियम' के स्थान को प्राप्त कर लेता है और 'ऋत' यज्ञ के साथ उस अर्थ का भी सूचक बन जाता है ।[६०]

बी. एस. घाटे ने ऋत के अर्थ के विकास की तीन अवस्थाएँ मानी हैं । पहली अवस्था में 'ऋत' ब्रह्माण्ड की व्यवस्था का प्रतिरूप है। दूसरी अवस्था में वह देवपूजा अथवा यज्ञ की नियमितता का सूचक है और तीसरी दशा में वह नैतिक विधान है, जिसका पालन प्रत्येक सदाचारी के लिए आवश्यक है ।[६१] मैकडॉनल का ऋत को यज्ञ से जोड़ने वाला विचार उल्लेखनीय है - 'प्रकृति में व्याप्त सृष्टिनियम को ऋत के नाम से स्वीकार किया गया है, जो कि उच्चतम देवों के संरक्षकत्व के अधीन चल रहा है। यही शब्द नैतिक क्षेत्र में 'सत्य' एवं यथार्थ के रूप में व्यवस्था का निर्देश करता है और धार्मिक जगत् में यह 'यज्ञ' अथवा यागादि पद्धतियों का वाचक बन गया है ।[६२]

वैदिक वाङ्मय में 'ऋत' शब्द के अर्थ विकसित होते गये हैं । ऋग्वेद में उससे अधिकतर शाश्वत नियम, यज्ञ और सत्य अर्थ ही अभिप्रेत हैं । प्रकृति में पायी जाने वाली नियमितता को 'यज्ञ' में देखकर उसे भी 'ऋत' संज्ञा दी गयी । जब 'यज्ञ' कर्म का अभिधायक हो गया, तब ऋतसिद्धान्त से कर्मसम्बन्धी विचार भी अछूते नहीं रहे । फलतः सायण आदि कुछ भाष्यकारों ने ऋत को 'क र्मफल' का वाचक माना– 'कर्मफल अवश्यम्भावी होने से 'सत्य' अर्थात् 'ऋत' हैं ।[६३] कई विद्वानों ने ऋग्वैदिक 'ऋत' की अवधारणा

को भारतीय दर्शन में स्वीकृत कर्म-सिद्धान्त का पूर्व रूप बतलाया है।[६४]

ऋग्वेद में वरुण **ऋत के रक्षक** हैं। ग्रिसवोल्ड ने लिखा है कि ऋक्संहिता के प्रतिष्ठित देव 'वरुण' धीरे-धीरे झीलों और तालाबों के देवता हो गये और इसके साथ-साथ 'ऋत' का नियम तिरोहित हो गया और कर्म की धारणा में समा गया।[६५] ऋग्वेद के अनन्तर 'ऋत' शब्द का यज्ञात्मक अनुष्ठान का पर्यायवाची हो जाना, ऋत-रक्षक वरुण का महत्त्व घटना, ऋत के विपरीत 'अनृत' से सदाचार के स्तर पर असत्य का अर्थ लेना– ऋग्वैदिक 'ऋत' के परिवर्तित स्वरूप के वाचक तथ्य हैं।

जिस प्रकार उत्तरवर्ती दार्शनिक चिन्तन में कर्म-सिद्धान्त जीवन में सुव्यवस्था और नैतिकता का प्रतिष्ठापक है, उसी प्रकार ऋग्वैदिक ऋत का सिद्धान्त भी। इसीलिए अन्यान्य पक्षों की समानता के अभाव में भी ऋग्वैदिक ऋत के सिद्धान्त को कर्म-सिद्धान्त का मूलाधार मानना समीचीन प्रतीत होता है। कर्मफल और उसके भोग का सम्बन्ध मनुष्य से इसी जीवन में है या मृत्यु के बाद भी रहता है ? इन प्रश्नों का उत्तर पुनर्जन्म के सिद्धान्त से जुड़ा हुआ है। इस सिद्धान्त के निर्माण में सहायक प्रारम्भिक विचार भी ऋचाओं में उपलब्ध होते हैं, जिनकी चर्चा मरणोत्तर जीवन के विवेचन में की जा चुकी है।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा न पूर्वे पितरः परेयुः। ऋ. १०/१४/७.
अथा पितॄन् त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति।
ऋ. १०/१४/१०.

२. ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्। ऋ. १०/१६/४.

३. यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति। ऋ. १०/१६/२.

४. ते ह नाकं महिमानः सचन्त। ऋ. १०/९०/१६.

५. ऋ. ७/१०४/३, ११,१७.

६. कर्म कस्मात् क्रियत इति सतः। नि. ३/१.

७. निघ. २/१, ३/६; नि. १०/१०.

८. न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। ऋ. ४/३३/११.

९. ऋ. १०/१५४/२-३.
१०. अपांसि यस्मिन्नधि संदधुर्गिरस्तस्मिन्त्सुम्नानि यजमान आ चके ।
ऋ. ३/३/३.
११. साकं जातः क्रतुना । ऋ. २/२२/३.
१२. त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः ।
ऋ. ९/९६/११.
१३. कर्मभिर्महद्भिः सुश्रुतो भूत् । ऋ. ३/३६/१.
सुकृतः कर्तृभिर्भूत् । ऋ. ६/१६/१; क्रत्वा यशस्वतः । ऋ. ८/१०२/८.
१४. ये देवासो अभवता सुकृत्या । ऋ. ४/३५/८.
१५. सखीयाँ इन्द्र चकृषे सुकृत्या । ऋ. ४/३५/७.
१६. ऋ. ३/६०/३.
१७. उत क्रतुं सुदानवः । विश्वे जुषन्त कामिनः ।। ऋ. ६/१६/८.
१८. यस्ताकृणोः प्रथमं सास्युक्थ्यः । ऋ. २/१३/२.
१९. ऋ. ३/४/६, ३/३१/२.
२०. ऋ. १/१८२/१, ३/५४/१२, ६/७०/२, ७/६२/१, ९/१२/४, १०/४६/६.
२१. ऋ. १०/६३/६.
२२. ऋ. १०/१७/४.
२३. ऋ. १०/७५/८.
२४. उरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत् । ऋ. ६/१६/१.
वेत्था हि वेधो अध्वनः पथश्च देवाञ्जसा ।
अग्ने यज्ञेषु सुक्रतो ।। ऋ. ६/१६/३.
२५. वि यो रजांस्यमिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरः । ऋ. ६/७/७.
२६. ऋ. ८/९८/११; सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य*, अष्टम मण्डल, पृ. ३४३.
२७. इषं पृञ्चन्ता सुकृते सुदानवे । ऋ. १/४७/८.
२८. इषं वहन्तीः सुकृते सुदानवे । ऋ. १/९२/३.
२९. शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु । ऋ. ७/३५/४.
३०. ऋ. १/३१/४.

३१. ऋ. १/१५६/५.
३२. सुकृत्तमा मधुनो भक्षमाशत । ऋ. ६/८३/४.
३३. अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुर् .....। ऋ. १०/२२/८.
३४. तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीळाहं स्वा तनूर्बलदेयाय मेहि । ऋ. १०/८३/५.
३५. इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम् ।
ऋ. ७/१०४/३.
३६. इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूत् । ऋ. ७/१०४/७.
३७. न सुगं दुष्कृते भुवम् । ऋ. १०/८६/५.
३८. त्वं तं देव जिह्वया परि बाधस्व दुष्कृतम् । ऋ. ६/१६/३२.
३६. ऋ. ५/८३/२,६.
४०. द्र.- अध्याय ८, नीतिविश्लेषण ।
४१. ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः । ऋ. ६/७३/६.
४२. न वां जूर्यन्ति पूर्व्या कृतानि । ऋ. १/११७/४.
४३. मामार्यन्ति कृतेन कर्त्वेन च । ऋ. १०/४८/३.
४४. अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति ।
कृतानि या च कर्त्वा ।। ऋ. १/२५/११.
४५. गणेशदत्त शर्मा, *ऋग्वेद के दार्शनिक तत्त्व*, गाजियाबाद, १६७७, पृ. १३८.
४६. मा व एनो अन्यकृतं भुजेम । ऋ. ६/५१/७.
मा वो भुजेमान्यजातमेनः । ऋ. ७/५२/२.
४७. अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नः । ऋ. ७/८६/५, २/२८/६.
४८. अव ते हेळो वरुण नमोभिरव यज्ञेभिरीमहे हविर्भिः ।
क्षयन्नस्मभ्यमसुर प्रचेता राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि ।।
ऋ. १/२४/१४.
४६. यदङ्ग दाशुषे त्वम् अग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ।। ऋ. १/१/६.
५०. नू मर्तो दयते सनिष्यन् यो विष्णव उरुगायाय दाशत् । ऋ. ७/१००/१.
५१. ऋ. १/६३/२.
५२. ऋ. १/६३/३.
५३. ऋ. १/८१/७.

५४. राहुल सांकृत्यायन, *ऋग्वेदिक आर्य*, इलाहाबाद, १९५७, पृ. २०४-५.
५५. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म । शत. ब्रा. १/७/३/५.
५६. सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः । ऋ. १०/११६/८.
५७. ऋ. ७/३५/१५, १०/६४/१६.
५८. ऋ. १०/६२/४.
५९. ऋ. ४/२३.
६०. 'Rta and the Law of Karma', V.A. Gadgil, In– *Proceedings and Transactions of the All India Oriental Conference*, Session X, 1940, p. 18.
६१. Sukthankar, *Ghate's Lectures on Rigveda*, Poona, 1966, p.144.
६२. Macdonell, *Vedic Mythology*, Delhi, 1981, p. 11.
६३. ऋ.सा.भा., ऋ. स्क.भा. १/१/८, १/२३/५, १०/५/७.
६४. नन्दकिशोर देवराज, *भारतीय दर्शन*, लखनऊ, १९७८, पृ. ५६.
६५. H- D.Griswold, *The Religion of the Rigveda*, Varanasi, 1971, pp. 347-48.

* * *

नीति-विश्लेषण

शुक्रनीति के अनुसार सम्पूर्ण लोकव्यवहार की स्थिति का आधार 'नीति' है।[१] मनु के द्वारा बताये गये धर्म के चार लक्षणों में 'वेद' प्रथम है[२], इसीलिए वेद को नीति-ज्ञान का चरम प्रमाण माना जाता है। महाभारत में वेद, स्मृति और रूढ़ आचार को धर्म का त्रिविध लक्षण कहा गया है।[३] पुरुषार्थानुशासन का उद्‌घोष है कि धर्म और ब्रह्म एकमात्र वेद द्वारा ही जाने जाते हैं।[४] वेद स्पष्ट रूप से नीतिशास्त्रविषयक ग्रन्थ नहीं हैं। इनमें न विशेष रूप से 'नीति' की व्याख्या की गयी है और न ही नैतिक सिद्धान्तों का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। नीतिशास्त्र की व्याख्या में कहा गया है-'नीतिशास्त्र दर्शन का वह पक्ष है, जिसमें मानवीय व्यवहार का मूल्यात्मक विवेचन किया जाता है। इस विवेचन में औचित्य, अनौचित्य तथा शुभाशुभ का विचार विशेष रूप से होता है और यथासम्भव नैतिक व्यवहार को नियमबद्ध करने का प्रयास भी किया जाता है।'[५] नीतिशास्त्रीय दृष्टि से वेदों में नीतिविषयक सिद्धान्तों– यथा आचरण क्या है? व्यवहार किसे कहते हैं ? सत्कर्म क्या है ? – इत्यादि का विवेचन नहीं किया गया है; परन्तु यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि तत्कालीन आर्यों के नीतिसम्बन्धी विचारों और उनके द्वारा निर्धारित नैतिक आदर्शों को जानने का मूलाधार एकमात्र ये ग्रन्थ ही हैं। भारत में सदा से धर्म, दर्शन और नीति एक दूसरे से अपृथक् रहे हैं, इसलिए ऋग्वेद के नीतिपरक विचारों और ऋग्वैदिक आर्यों के नैतिक दृष्टिकोण की मीमांसा के लिए सम्पूर्ण ऋग्वेदसंहिता का नीतिशास्त्रीय दृष्टि से परिशीलन अपेक्षित हो जाता है।

प्रापणार्थक √नी से व्युत्पन्न 'नीति' शब्द का अर्थ है- ले जाने की पद्धति अर्थात् जीवन को लक्ष्य की ओर किन-किन नियमों का पालन करके

ले जाया जा सकता है ।[६] अतः नीति का सामान्य उद्देश्य 'अभ्युदय' है । जो नीति मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी हो, वह 'सामान्य नीति' कहलाती है । सामान्य नीति के विवेचन के अन्तर्गत साधारण रूप से तीन पक्षों पर विचार किया जाता है- मानव-जीवन के लक्ष्य क्या होने चाहिए ? मनुष्य के कर्त्तव्य क्या होने चाहिए ? तथा उसका आचरण और व्यवहार कैसा होना चाहिए?

(१) जीवन का लक्ष्य

किसी समाज या व्यक्ति के जीवन का निर्धारित लक्ष्य क्या है,- इसका ज्ञान उस समाज या व्यक्ति की नीति के अध्ययन का प्रथम चरण है । नीतिशास्त्र के अनुसार–सत्य, शिव और सुन्दर मानवजीवन के तीन लक्ष्य माने गये हैं[७] अथवा नैतिकता का चरम लक्ष्य सुख है ।[८] किसी भी समाज या व्यक्ति की विविध कामनाएँ और प्रार्थनाएँ उसके द्वारा अभिलषित लक्ष्य या मान्य सुख को केन्द्रित करके ही पल्लवित-पुष्पित होती हैं, अतः उनके विवेचन द्वारा उसके जीवन के लक्ष्य का अनुमान किया जा सकता है । प्रायः इष्टभूत सुख के लिए आवश्यक वस्तुएँ अथवा परिस्थितियाँ ही मनुष्य द्वारा प्रार्थनीय होती हैं। ऋग्वैदिक आर्यों की कितनी ही प्रार्थनाएँ सामान्य सुख या शान्ति के लिए हैं । उन्होंने **सुख** और **शान्ति** को जीवन का प्रमुख ध्येय माना था और तन्निमित्त ही उनकी अधिकांश धार्मिक, याज्ञिक और नैतिक क्रियाएँ होती थीं । ऋग्वेद में शिव,[९] स्वस्ति,[१०] भद्र,[११] शम्,[१२] सौभग,[१३] कल्याण,[१४] श्रेयस्,[१५] शर्म,[१६] मय[१७] इत्यादि शब्दों द्वारा सुख, कल्याण, प्रसन्नता और शान्ति काम्य रहे हैं । विविध देवताओं से 'स्वस्ति' की प्रार्थना है-यशस्वी इन्द्र कल्याणकारी हों, धनयुक्त पूषा मंगल करें, अरिष्टनेमि तार्क्ष्य और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ।[१८] सब देवों से स्वस्ति चाहा गया है।[१९] सभी देवताओं से 'भद्र' याचनीय है ।[२०] अभिलाषा है कि मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु आदि सभी देवता हमारे लिए 'शम्' अर्थात् सुखकारी, मङ्गलकारी और शान्तिप्रद हों ।[२१] सुख और कल्याण की देवी माता अदिति से मित्रता-प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गयी है ।[२२] अतः ऋक्संहिता में एक सुखमय और शान्तिपूर्ण जीवन-यापन आर्यों के जीवन का प्रधान लक्ष्य दिखायी देता है ।

कितनी ही प्रार्थनाएँ सुवीर्य, अभय[२३], वाज[२४], धन[२५], गाय[२६], पशु[२७], ज्योति[२८], धी[२९], यश[३०], दीर्घ आयु[३१], दर्शनशक्ति[३२], अजरता[३३], रक्षा[३४], वर,[३५]

पुत्र[३६], सौभाग्य[३७], पोष[३८], सुदिनत्व[३९], वीर सन्तान[४०], निवास और जीवन[४१] तथा सौन्दर्य[४२] इत्यादि के निमित्त हैं, जो जीवन में सुखार्थ भौतिक उपलब्धियों की आवश्यकता, सुखभोगार्थ दीर्घ और निरोगी जीवन की अपेक्षा और सुख की उत्तमता के हेतु बुद्धि, यश इत्यादि अमूर्त तत्त्वों एवं भावों की महत्ता की ही पूरक हैं। जीवन में बहुविध सम्पन्नता के लिए विधेयात्मक कामनाओं की तरह ही कुछ निषेधात्मक कामनाएँ भी व्यक्त की गयी हैं; जैसे - रोगों की शान्ति और पापराहित्य[४३], पापबुद्धि शत्रुओं को बाधित करना[४४], दरिद्रता से मुक्ति[४५], संकटों से सुरक्षा और द्वेष करने वाले से त्राण[४६], दुष्टों से रक्षा[४७] इत्यादि। सम्पूर्णतया सुख तभी सम्भव है; जब देवों की कृपा प्राप्त हो, अतः उनकी 'सुमति' बहुशः प्रार्थनीय है।[४८]

सांसारिक सुखमय जीवन को महत्त्व देते हुए भी ऋग्वैदिक आर्यों की दृष्टि में जीवन का महान् उद्देश्य **अमरता** या **स्वर्ग-प्राप्ति** ही रहा। इसे अलौकिक सुख से सम्बद्ध आकाङ्क्षा का एक रूप माना जा सकता है। देवों की अमरता मनुष्य-जीवन की तुलना में अधिक नित्य और शाश्वत है। 'शरदः शतम्' तक जीने की अनेकशः व्यक्त की गयी इच्छा में अमृतत्व-प्राप्ति की कामना का प्रारम्भिक रूप दिखायी देता है। अनेक मन्त्रों में देवताओं के समान अमृत और अमर्त्य होने की कामना है। ऋषि ने अग्निदेव से प्रार्थना की है-'हे अग्ने ! मैं मरण-धर्मा मनुष्य तुम्हारी उपासना करता हुआ तुम्हारे समान ही अमरत्व प्राप्त करूँ।'[४९] इसी प्रकार सोम से याचना है-'हे सोम ! तुम अमृतत्व वाले हो। हम तुम्हारा पान करके ही अमर होंगे; फिर हम स्वर्ग में जाकर देवताओं को जानेंगे।'[५०] ऋग्वेद के अनुसार स्वर्ग का जीवन उल्लास और आनन्दप्रमोद से परिपूर्ण है। वहाँ प्राणियों की सभी इच्छाएँ पूर्ण होती हैं।[५१] स्वर्ग में जीव देवताओं के मध्य में सुखपूर्वक निवास करते हैं।[५२] वहाँ जीवन की सम्पूर्णता है। इसे ही 'अमृत लोक' कहते हैं। यह वह स्थान है, जहाँ उत्तम आत्मा पृथिवी से जाकर दिव्य देवताओं का सान्निध्य प्राप्त करता है। ऋचाओं में मृत्यु के अनन्तर इसी अखण्ड प्रकाश वाले अविनाशी अमृत लोक में जाने की आकाङ्क्षा व्यक्त की गयी है।[५३] अतः देवत्व या अमृतत्व प्राप्त करना ऋग्वैदिक आर्यों द्वारा चाहा गया 'परम काम्य' था। चरम ध्येय के रूप में 'मोक्ष' की उत्तरवर्ती कल्पना का ऋचाओं में प्रायः अभाव है।

(२) लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक–कर्त्तव्याकर्त्तव्य

जीवन में लक्ष्यों की सिद्धि के लिए मनुष्य क्या करें और क्या नहीं- इस सम्बन्ध में ऋग्वेद-संहिता से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद में लौकिक और पारलौकिक सुख-सुविधाओं के लिए **देवानुग्रह** और **देवकृपा** अति आवश्यक माने गये हैं । देवों की कृपा ही सर्वविध भोगों का आधार है, क्योंकि अमर देवों की कृपा से ही मनुष्य ऐश्वर्यवान् होते हैं ।[५४] इसीलिए ऋग्वैदिक आर्यों ने एक ओर देवों की आत्मीयता और अनुकूलता को चाहा, तो दूसरी ओर उनके क्रोध और विरोध से बचने की मनोकामनाएँ कीं। वसु अग्नि अभिमुख होकर हमें व्याप्त करें[५५]; तुम्हारे अन्तिकतम होकर हम तुम्हारे द्वारा दिये गये सुखों में वर्तमान होकर आनन्दित हों[५६]; देव-आशीः मुझे प्राप्त हो[५७]; देवों के साथ, तथा हे अग्ने ! तुम्हारे साथ हम लोगों की मैत्री और भ्रातृभाव मंगलजनक हो[५८] ; हे वास्तोष्पते ! हम तुम्हारी मित्रता में रहें[५९]; हे इन्द्र ! हम तुम्हारी महती अनुग्रहबुद्धि प्राप्त करें;[६०] हे इन्द्र ! तुम्हारी उत्तममति में रहकर हम बड़े बलवान् या अन्नादि से युक्त हो–[६१] इत्यादि प्रार्थनाएँ प्रकट करती हैं कि देवों का अनुग्रह ही अभिलषित-प्राप्ति का आधार है। माना गया है कि इन्द्र की 'सुमति' भूरिदायिनी[६२] और मित्रता कल्याणकारी[६३] होती है। देवताओं की प्रसन्नता ही उपासक के सुख का प्रमुख हेतु है, क्योंकि (अग्नि) देवता जिस मनुष्य के पास जाते हैं, वही सम्पूर्ण धन को धारण करता है।[६४] देवकृपा की अभिलाषा से ही यह चाहा गया है कि देवताओं का क्रोध हमारे प्रति न हो।[६५] अतः ऋग्वेद के अनुसार देवकृपा प्राप्त करना मनुष्य का प्रमुख नैतिक कर्तव्य है।

देवानुग्रह देवों की प्रसन्नता पर आश्रित है और देवों को प्रसन्न कर उनका वर या साहाय्य प्राप्त करने के लिए मन्त्रों में **यज्ञानुष्ठान** तथा **प्रार्थना** का निर्देश है। यज्ञों में देवताओं को दूध, घी, यव, सोमरस आदि अर्पण किया जाता था। यज्ञ में बुलाना [६६], हवि देना[६७], सोमरस अर्पित करना[६८], उनके कर्मों तथा गुणों का संकीर्तन करना[६९], स्तोत्र गाना, नमस्कार करना[७०] इत्यादि सभी कृत्य यज्ञ-विधान के ही अङ्ग हैं । उपासक का संकल्प है कि 'मैं सदा ही देवता के नामों और गुणों का कीर्तन करूँगा, उससे विमुख नहीं होऊँगा' ।[७१] मान्यता है कि श्रेष्ठ स्तोत्र और हवि द्वारा देवों का बल और

मद बढ़ता हैं और प्रसन्न देव दानशील यजमान को हर प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं । अतः देवोपासना, देवयजन और स्तवन आदि मनुष्यों के लिए शुभप्राप्ति में सहायक होने से कर्तव्य के विधेयात्मक पक्ष के अन्तर्गत हैं ।

देवताओं के प्रति मनुष्यों के कर्त्तव्यों के साथ ऋक्संहिता मनुष्य के प्रति मनुष्य के कर्त्तव्य को भी बतलाती है । उनमें भूखे को दान,[७२] अतिथि का सत्कार, दया-प्रदर्शन और दुःखी का कष्टनिवारण विशेषतया उल्लेखनीय हैं ।

नैतिक जीवन के लिए **प्रयत्न** और **परिश्रम** के महत्त्व को स्वीकार करने के कारण एक मन्त्र में कहा गया है - कि बिना परिश्रम के देवताओं से मित्रता नहीं मिलती है ।[७३] तात्पर्य है कि देवगण उसी की सहायता करते हैं, जो परिश्रम और तप करता है । अच्छे कर्मों में तपस्या और दान-पुण्य के साथ युद्ध में वीरत्व-प्रदर्शन भी गिनाया गया है ।[७४] सामान्य रूप से कर्म की प्रशंसा की गयी है; जैसे कहा गया है - 'जहाँ कर्म है, वहीं पर सुख है ।'[७५] विशेषरूप से श्रेष्ठ और उत्तम कर्मों को प्रशंसनीय और शुभप्राप्ति में साधक माना गया है । कर्मण्य और उत्तम कर्मों को करने वाला पुत्र काम्य है ।[७६] धारणा है कि मनुष्य अपने श्रेष्ठ और महान् कर्मों से ही प्रसिद्ध होता है ।[७७] ऋभुगण अपने उत्तम कर्मों के कारण देव बने और इसीलिए इन्द्र ने उन्हें अपना मित्र बनाया ।[७८] ऋभुओं ने अपने 'सुकृत्य' के कारण सर्वत्र व्याप्त होकर अमृतत्व को प्राप्त किया था ।[७९] शोभन दान देने वाले और अग्निदेव के अनुग्रह की इच्छा रखने वाले सभी मनुष्य शुभ कर्म करते हैं ।[८०] इन्द्र उत्तम कर्तृत्वशक्ति से युक्त होकर जन्मे थे ।[८१] उन्होंने श्रेष्ठ कर्मों को प्रथम किया, इसलिए वे प्रशंसनीय हुए ।[८२] जिस प्रकार इन्द्र आदि देवता उत्तम कर्मों के कारण श्रेष्ठ हुए, उसी प्रकार उत्तम और शुभ कर्म मनुष्यों के लिए भी लक्ष्यप्राप्ति-हेतु कर्तव्य हैं - यही ऋक्संहिता का सन्देश है । **दुष्कर्म** अच्छे जीवन के लिए बाधक हैं अत एव त्याज्य हैं, अकर्तव्य हैं । दुष्कर्मकारी तो राक्षस होते हैं क्योंकि इन्द्रासोमा उन्हें अगाध अन्धकार में डाल देते हैं ।[८३] जो प्रजा का हित करता है, वह 'मानुष' है और जो प्रजा का अहित करता है, वह 'अमानुष' है ।[८४] कुछ प्रमुख दुष्कर्मों के रूप में झूठ, कपट, व्यभिचार और अत्याचार की निन्दा की गयी है ।[८५] दुर्वचन बोलना निन्दनीय माना गया है ।[८६] देवताओं को न मानना और दान न

देना - अकरणीय और अप्रशंसनीय कहे गये हैं ।[८७] अकर्त्तव्य लक्ष्यसिद्धि में बाधक हैं और वे पाप उत्पन्न करते हैं । अतः पाप की निवृत्ति की अनेक ऋग्वैदिक प्रार्थनाओं का आधार मूलतः नैतिक ही है। पाप नैतिक अपकर्ष का कारण होने से परिहार्य हैं, तो 'सत्कर्म' नैतिक उत्कर्ष का आधार होने से कर्त्तव्य ।

(३) नैतिक अशुभ–पाप

व्यावहारिक नैतिक अशुभ 'पाप' कहलाता है। 'पाप' आचरण का निषेधात्मक पक्ष है। 'पाप' का अर्थ है - असत्कर्म करने से प्राप्त चरित्र का नैतिक अपकर्ष ।[८८] अतः यह चरित्र की अधोगति का सूचक है । इससे **अमङ्गल** की उत्पत्ति होती है। ऋग्वैदिक धारणा है कि पाप मानवता पर एक भार सा है, इसलिए नैतिक आधार पर पापनिवृत्ति सदाचार और शुभप्राप्ति के लिए आवश्यक मानी गयी है और इसके लिए देवताओं से कई प्रार्थनाएँ भी हैं ।[८९] ऋग्वैदिक धर्म की प्रधान विशेषता है - पाप के प्रति सचेत होना ।[९०] अनेक बार पाप, अभिद्रोह या अपराध की स्वीकृति की गयी है। यद्यपि पाप के स्वरूप, प्रकार और परिणाम पर बहुत स्पष्ट व्याख्या का अभाव है, तथापि यत्र-तत्र हुई इनकी चर्चा द्वारा ऋग्वैदिक ऋषियों की पाप से सम्बद्ध मान्यताओं के कुछ तथ्य प्रकाश में आते हैं । पवित्र मन से आचरण करने वाले को, जो असत्य वचनों से दोषी ठहराना चाहता है - वह पाप कर्म करता है ।[९१] सुरा पीकर मस्त होना हीन दृष्टि से देखा गया है[९२], अतः दुष्कर्म है । द्यूतक्रीड़ा निन्दनीय समझी गयी है, यदि वह खेलने वाले के लिए एक विवशता या व्यसन बन जाती है ।[९३] द्रोहभाव, मिथ्याचरण और शाप भी पाप उत्पन्न करते हैं ।[९४] सुरा और जुआ के अतिरिक्त पाप के अन्य कारणों का उल्लेख करते हुए एक मन्त्र में वसिष्ठ ने वरुण से कहा है - 'हे वरुण ! यह अपने वश में नहीं ; बल्कि सुरा, क्रोध, जुआ एवं अज्ञान से वह दोष उत्पन्न होता है। बड़ा भी छोटे को पथभ्रष्ट करता है और स्वप्न भी पाप में ले जाता है ।[९५] कुछ पाप स्वयंकृत होते हैं, तो कुछ अन्यकृत ।[९६] कुछ स्थानान्तरित होकर पूर्वज, पिता आदि से प्राप्त हो जाते हैं, तभी वरुण से प्रार्थना है कि 'पितृजन्य अपराधों से हमें मुक्त करो' ।[९७] पुरुष होने से भी अपराध हो जाने की सम्भावना रहती है ।[९८] जाग्रत और स्वप्नावस्था में कुछ संकल्पजन्य

पाप हो जाते हैं ।[९९] सामान्य रूप से अधार्मिकता, अशुचि, यज्ञभावना की न्यूनता जैसे पाप की उत्पत्ति के कुछ दूसरे कारण भी माने गये हैं ।[१००] पाप देवताओं के प्रति ही नहीं, मनुष्यों के प्रति भी हो सकता है ।[१०१]

देवताओं ने मनुष्यों के लिए नैतिकता से सम्बद्ध उचित और अनुचित के शाश्वत नियम बनाये हैं । इसीलिए वे पापी को दण्ड देते हैं और निष्पाप को आशीष् रूप पुरस्कार । यह विशेष बात है कि वे नियम भंग करने वाले अपराधी को दयापूर्वक क्षमा करने में समर्थ हैं । वे निर्णायक हैं, तो साथ ही एक दयालु पिता भी ।[१०२] देवता पापी के प्रति भी दया रखते हैं ।[१०३] मन्त्रों में यह विश्वास व्यक्त हुआ है कि मनुष्यों पर पाप और अपराध का भारी भार रहता है और देवता उनसे लेकर उसे क्षमापूर्वक दूर कर सकते हैं ।[१०४] वे यह कैसे करते हैं - इसकी चर्चा नहीं है । पाप के लिए सर्वाधिक क्षमायाचनाएँ **वरुण** से की गयी है; तभी मैकडॉनल का प्रतिपादन है कि 'वरुण के निमित्त कहा गया कोई भी सूक्त ऐसा नहीं है, जिसमें अपराध या पाप के लिए क्षमा कर देने की प्रार्थना न हो ।'[१०५] वरुण के स्वरूप में उनका नैतिक पक्ष ही मुख्यतः वर्ण्य है । वरुण ने संसार के पालन के लिए निश्चित नियम (व्रतानि) बनाये हैं । पाप-कर्म से और व्रतों के उल्लंघन से वरुण को क्रोध चढ़ता है और वे ऐसा करने वाले को कठोर दण्ड देते हैं ।[१०६] अथर्ववेद के अनुसार वे पापियों को, विशेषतः असत्यवादियों को अपने पाशों से बाँध लेते हैं, जो सात-सात शृङ्खलाओं से बने हुए हैं और तीन प्रकार के हैं ।[१०७] वरुण के ये पाश रस्सियों से नहीं बने हैं, फिर भी प्राणी इनमें पूरी तरह से रस्सी के जैसा ही जकड़ जाता है ।[१०८] ऋक्संहिता में स्थान-स्थान पर वरुण के प्रति प्रार्थना है कि वे पाशों से मुक्त करें ।[१०९] वरुण अपराधी व्यक्ति को पाशों में बाँध कर सजा देते हैं, तो इन्द्र कुकर्मी राक्षसों पर वज्ररूप आयुध चलाते हैं ।[११०] देवताओं के द्वारा मनुष्यों को पाप के लिए जो दण्ड दिया जाता है, वह इसी पृथिवी पर रोग, दरिद्रता या पीड़ा के रूप में होता है । हिंसाकारी, असत्यभाषी, दुष्ट, दुष्कर्मकर्ता अथवा पापीजन को, जिसे 'राक्षस' कहा गया है, देवताओं द्वारा मिलने वाले दण्ड के कुछ पक्षों, जैसे-सन्तानहीनता, नाश, सन्ताप आदि का उल्लेख एक सूक्त में प्राप्त है ।[१११] पाप के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले नरक अथवा उसकी यातनाओं की जो

कल्पना उत्तरवैदिक साहित्य में दिखायी देती है - उसका ऋग्वैदिक मन्त्रों में सर्वथा अभाव है । प्रतीत होता है कि जिस प्रकार 'ऋत' की धारणा परवर्तीकाल में कर्मसिद्धान्त में विलीन हो गयी, उसी प्रकार वेदान्त के कर्मसिद्धान्त के अन्तर्गत पापों को क्षमा कर सकना भी असम्भव हो गया ।

ऋचाओं में 'पाप' अथवा उसके समकक्ष अर्थ के लिए अनेक शब्दों, जैसे – अंहस्[११२], एनस्[११३], निर्ऋति[११४], अघ[११५], आगस्[११६], रप:[११७], दुरित[११८] आदि का प्रयोग हुआ है । अर्थवैज्ञानिक दृष्टि से इनके अर्थ में सूक्ष्म भेद भले ही हो, पर सभी के परिहार और निराकरण की कामनाएँ समान रूप से की गयी हैं । निष्पापता देवताओं की कृपा प्राप्त करने और उनके समीप जाने के लिए परमावश्यक है ।[११९] यही अमृतत्व की ओर ले जाती है। हम निष्पाप 'अनागसः' एवं 'अनागा:' हों[१२०]- यह प्रार्थना पाप या अपराध से मुक्ति की नैतिक अपेक्षा व्यक्त करती है । प्रचेता आङ्गिरस ऋषि को अत्यन्त प्रसन्नता है कि 'हम निरपराध या निष्पाप हो गये हैं।'[१२१] अतः ऋग्वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्यों में पाप की अवस्थिति अतिसहज और स्वाभाविक है, परन्तु प्रायश्चित्त या देवकृपा द्वारा उनका परिमार्जन सम्भव है । शुभप्राप्ति के लिए पाप-नाश आवश्यक है ।

(४) मानवीय आचरण और चरित्र-गुण

नीतिबोध का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है- मानवीय आचरण । नीतिशास्त्रीय दृष्टि से आचरण चरित्र की अभिव्यक्ति है। सद्गुण और दुर्गुण का सम्बन्ध मनुष्य के चरित्र से होता है । सद्गुण मनुष्य की उन्नति करते हैं और शुभप्राप्ति में सहायक होते हैं, तो दुर्गुण चरित्र का ह्रास करते हैं और शुभप्राप्ति में बाधक होते हैं । आचरण और चरित्रगुणों की वर्गीकृत और विशद मीमांसा यद्यपि ऋचाओं का विषय नही है, तथापि इनमें सर्वोच्च मानवीय हित साधने के लिए अपेक्षित विशेष चरित्रगुणों की स्थापना अवश्य ही देखी जा सकती है ।

ऋग्वेद में प्रतिपादित चरित्र-गुणों में **ऋत**[१२२] को सर्वोच्च स्थान दिया गया है । सामान्यतया ऋग्वेद में प्रयुक्त 'ऋत' शब्द तीन प्रमुख विचारों का सूचक है - ब्रह्माण्ड-नियम, यज्ञ के धर्म की नियमितता एवं निर्बाधता और नैतिक नियम ।[१२३] मन्त्रों में 'ऋत' की बड़ी महिमा गायी गयी है । ऋत सदाचार का मापदण्ड है । जहाँ यह कार्य करता है, वहाँ अव्यवस्था या

दुराचार अस्थायी रूप से रह जाते हैं । इसके समकक्ष दूसरा तत्त्व 'सत्य' है । महान् दीप्तिमान् तप से ऋत और सत्य पैदा हुए हैं ।[१२४] ये दोनों अटल नियम हैं । समस्त विश्व इनके कारण सुचारु रूप से चल रहा है । 'संसार को यदि ऋत चलाता है, तो मानव-जीवन को सत्य चलाता है । ऋत ही मानव-जीवन में सत्य कहलाता है । मनुष्य-जीवन में सुख और सम्पत्ति की इच्छाओं का ऋत और सत्य के द्वारा नियन्त्रण होना चाहिए । कष्ट सहकर भी मनुष्य को सत्य के मार्ग पर दृढ़ रहना चाहिए '।[१२५] सातवलेकर की समीक्षा है कि ये दोनों मानव के व्यवहार में आने चाहिए। ऋत का भाव है - गतिमान्, तो सत्य का भाव है- अस्तित्ववान् । अतः ऋत और सत्य का मूल यौगिक भाव है - 'प्रगति और अस्तित्व' ।[१२६]

ऋचाओं में देवताओं को ऋत से उत्पन्न, ऋत के पालक, ऋत के प्रेमी और ऋत से सम्पन्न कहा गया है । इन्द्र का कथन है- ऋत मुझे शक्तिमान् बनाता है ।[१२७] ऋत की महत्ता है कि उसकी शक्तियां बहुत हैं और उसकी बुद्धि पापों को नष्ट करती है ।[१२८] माना गया है कि ऋत के मार्ग से जाने वाले ही सुगम और कण्टकरहित मार्ग पाते हैं ।[१२९] ऋत के अनुसार चलना ही व्रत है ।[१३०] ऋत का पन्थ दुःखों से पार होने के लिए अच्छा है ।[१३१] सत्य की श्रेष्ठता के विषय में प्रतिपादन है - ज्ञानी मनुष्य जानते हैं कि सत्य और असत्य में प्रतियोगिता चलती रहती है । ये परस्पर विरोधी हैं । इन दोनों में जो सत्य और सरल होता है सोम उसकी रक्षा करता है और जो असत्य होता है सोम उसका नाश करता है ।[१३२] सोम कुटिलता को, मिथ्या व्यवहार करने वाले क्षत्रिय को भी, जो असत्य बोलता है, विनष्ट कर देता है ।[१३३] निहित उपदेश है कि प्रत्येक मनुष्य को सत्य और ऋत का नियमपूर्वक पालन करना चाहिए । ऋग्वेद में 'ऋत' का विलोम शब्द 'अनृत', 'सत्य' का 'असत्य' और 'साधु' का 'वृजिन' प्रयुक्त हुआ है । नैतिक शासक वरुण ऋत के अधिष्ठाता और सर्वोच्च नियामक देव हैं । ये स्वयं 'ऋतव्रत' हैं । जो ऋत का पालन नहीं करता, उसके लिए वरुण के पाश सदा तैयार रहते हैं । अतः ऋत और सत्य के अनुसार चलना प्रधान ऋग्वैदिक सदाचार था । वचन और कर्म दोनों से ही ऋत और सत्य के पालन की प्रार्थना और प्रतिज्ञा की जाती थी ।

वरुण के 'ऋत' में हमें आर्यों के नैतिक कार्यक्रम के प्रथम बार दर्शन होते हैं, जिनके अनुसार जीवन को अनुशासित करना प्रत्येक का कर्तव्य है। वरुण के ऋत से प्रेरणा प्राप्त करके प्राचीन भारतीयों ने नैतिकता के नियमों को जन्म दिया था, जिनको हम यम, नियम आदि के रूप में देखते हैं। मनु का दशलक्षण युक्त धर्म उसी के आधार पर विकसित हुआ था।[१३४] अतः वैदिक काल का 'ऋत' ही बाद में 'धर्म' कहलाया।

ऋग्वैदिक आचरण का दूसरा विशेष पक्ष **व्रत** है। व्रत से वे निश्चित नियम अभिप्रेत हैं, जो जीवन के सुचारु-यापन के लिए अवश्यमेव पालनीय हैं। यह मानना कि देवता हमें देखते रहते हैं -मनुष्यों को उनके द्वारा निर्धारित नियमों के अनुकूल जीवन-यापन की प्रेरणा देता है। देवताओं के व्रत और विशेषकर वरुण के व्रत का उल्लेख हुआ है।[१३५] मित्र और वरुण 'शुचिव्रता' हैं।[१३६] वरुण के व्रत अनुल्लंघनीय माने गये हैं।[१३७] देवताओं के व्रतों के अनुशासन में रहकर ही आनन्द और प्रसन्नता सम्भव है, अतएव उनके व्रतों के प्रति अप्रमाद होना चाहिए। प्रत्यक्ष-जीवन कार्यक्षम और सज्जनोचित रूप से व्यतीत किया जा सके - इसके लिए आवश्यक कुछ दूसरे गुणों में सत्य और शोधित वाणी का प्रयोग करना[१३८], निन्दा न करना[१३९], परोपकार एवं दूसरे की सहायता करना[१४०], दूसरों की सेवा करना[१४१], मैत्रीभाव और सांमनस्य रखना[१४२], मिलकर चलना[१४३], देवता में विश्वास रखना और उसकी उपासना करना[१४४] इत्यादि व्यक्तिगत अथवा सामाजिक स्तर पर प्रशंसनीय और आचरणीय बताये गये हैं।

ऋक्संहिता में **दान** अथवा मुक्तहस्तता की विशेषतया प्रशंसा की गयी है।[१४५] इन्द्र के दान को बहुत ऐश्वर्य देने वाला माना गया है।[१४६] देवता दाता का ही कल्याण करते हैं उसे शीघ्र देते हैं और उसके पापों को दूर करते हैं।[१४७] इसके विपरीत वे कंजूस या लुब्ध वणिज (पणि) का विनाश करते हैं।[१४८] इसीलिए अग्नि देवता से प्रार्थना है कि हमें दानशीलता (दिति) दें और कंजूसी (अदिति) से हमारी रक्षा करें।[१४९] प्रत्येक अपने से अधिक धनवाले को देखकर उसकी समानता करने की अभिलाषा करता है,[१५०] क्योंकि धन से कभी तृप्ति नहीं होती है। अतः प्रतिस्पर्धा में न पड़कर दानभाव आचरणीय है।

'उस समय **तपोमय जीवन** का महत्त्व था। यद्यपि घर-बार छोड़कर शुष्क वैराग्य या निराशावादी बनने से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था, तथापि ऋषि लोग रागरहित जीवन से परिचित थे। व्रतों एवं नियमों से दैवी सिद्धि का प्राप्त होना माना जाता था। मन्त्र में वैराग्य से उत्पन्न होने वाली मस्ती का सुन्दर वर्णन मिलता है।[१५१] यद्यपि यह सत्य है कि ऋग्वैदिक मन्त्रों में तपस्या या तपस् का वह स्वरूप नहीं दिखायी देता है, जो आगे चलकर भारतीय साहित्य और हिन्दू धर्म का एक अविभाज्य अंग सा बन गया है।[१५२]

मानवीय आचरण में **दुर्गुण** सदैव निन्दनीय रहे हैं । ऋग्वेद में मनुष्य के अन्तःशत्रु - काम, क्रोध, लोभ, मोह, गर्व और मत्सर - वसिष्ठ ऋषि द्वारा दमनीय बताये गये हैं ।[१५३] ऋषि के अनुसार कुमार्ग पर चलने वाले, दुराचारी, नैतिक नियमों का उल्लंघन करने वाले असत्यशील जन निन्दनीय हैं ।[१५४] हिंसा, चोरी, जुआ, धूर्तता, कपट, आलस्य आदि कुछ दूसरे दुष्ट मनोभाव और अधर्म भी यत्र-तत्र हेय दृष्टि से वर्णित किये गये हैं । सम्भवतः आचरण और गुणों के आधार पर ही तीन प्रकार के मनुष्यों का उल्लेख हुआ है - पर, अवर और मध्यम ।[१५५] 'हम प्रशंसनीय गुणों को धारण करें' और सूर्य तथा चन्द्रमा के समान स्वस्ति-पथ का अनुसरण करें– जैसी कामनाओं से ऋग्वैदिक आर्यों का सदाचरण और सद्गुण के प्रति स्पष्ट आग्रह व्यक्त होता है ।[१५६]

(५) नैतिक देवता - वरुण

वरुण की कल्पना में ऋग्वैदिक ऋषियों की नैतिक धारणा के दिव्यरूप का परिचय मिलता है । ग्रिसवोल्ड ने वरुण को ऋग्वेद के 'नैतिक देवता' की संज्ञा दी है[१५७] और प्रतिपादित किया है कि ऋग्वेद में किसी अन्य देवता की तुलना में वरुण की नैतिक विशेषताएँ सर्वाधिक हैं । नैतिक उत्कर्ष और पापहरण वरुण के प्रधान गुण हैं । वे नैतिक नियमों के रक्षक हैं । उनके नियमों का पालन देवताओं को भी करना पड़ता है । ऋग्वैदिक वरुण का नैतिक स्वरूप अथर्ववेद में अपेक्षाकृत क्षीण हो गया है ।

ऋचाओं के आलोचनात्मक अध्ययन के आधार पर ऋग्वैदिक आर्यों के जीवन-लक्ष्य, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, आचरण और चरित्रगुण इत्यादि से सम्बद्ध जो उपर्युक्त तथ्य प्रकाश में आते हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक जीवन

में नैतिकता का विशेष स्थान था। ऋग्वैदिक नीति के आधार ऋत और सत्य थे। नीति का उद्देश्य शोक से बचना और सुख को प्राप्त करना था। ऋग्वैदिक आर्यों की दृष्टि में नीति आदर्शपरक नहीं, अपितु व्यवहारपरेक थी। इसीलिए सहज दुष्टप्रवृत्तियों और दुराचारों की चर्चा की गयी है, किन्तु उनका परिष्कार और परिमार्जन ही निहित उद्देश्य है। ऋग्वैदिक ऋषियों की दृष्टि में नैतिकता धार्मिक और आध्यात्मिक पूर्णता का एक आवश्यक अङ्ग है।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. सर्वलोकव्यवहारस्थितिर्नीत्या विना नहि। *शुक्रनीति* १/११.

२. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥ मनु. २/१२.

३. सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम्। महा. शान्ति. २५६/३.

४. धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये। ऋ.सा.भा. भूमिका १०.

५. *मानविकी पारिभाषिक कोष*, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. ८०.

६. भीखनलाल आत्रेय, *भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास*, हिन्दी समिति, सूचना विभाग उ. प्र., लखनऊ, १९६४, पृ. ६.

७. John. S. Mackengie, *A Manual of Ethics*, Oxford University Press, Delhi, 1973, p. 7.

८. ब्रजगोपाल तिवारी एवं जगतप्रकाश आत्रेय, *नीतिशास्त्र*, आगरा, १९७०, पृ. १२८.

९. ऋ. १/३१/१.

१०. ऋ. १/१/६, १/३५/१.

११. ऋ. १/८९/१,८.

१२. ऋ. ७/८/६, ८/५/२०.

१३. ऋ. ३/८/११.

१४. ऋ. ३/५३/६.

१५. ऋ. १०/३१/२.

१६. ऋ. १०/१५२/५.

१७. ऋ. ८/८/६.

१८. स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।।
ऋ. १/८६/६.

१६. यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः । ऋ. ७/१/२५.

२०. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । ऋ. १/८६/८.

२१. शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ।। ऋ. १/६०/६, और भी ऋ. ७/३५.

२२. ऋ. ४/५५/३.

२३. ऋ. ८/३/६, १०/१३१/६.

२४. ऋ. १/५/३, १/११/२.

२५. साति - १/६/१०, हिरण्य - ४/३२/१६, द्रविण - २/२१/६, राधस् - १/१०/७, वसु- १०/३६/११, रयि -८/३/११.

२६. ऋ. १/१०/८.

२७. ऋ.१/२६/१.

२८. ऋ.१/८६/१०.

२६. ऋ. ३/६२/१०.

३०. ऋ. १/१/३.

३१. ऋ.१०/३६/१४.

३२. ऋ. १०/१५८/४.

३३. ऋ. ७/५४/२.

३४. ऋ. १/३५/११.

३५. ऋ. १/४/४.

३६. ऋ. ६/१८/६, ८/६८/१२.

३७. ऋ. २/२१/६.

३८. ऋ. १/१/३, २/२१/६.

३६. ऋ. २/२१/६.

४०. ऋ. १०/३६/११.

४१. ऋ. ८/६८/१२

४२. ऋ. ७/४/६.
४३. तदस्मे शं योररपो दधातन । ऋ. १०/३७/११.
४४. ऋ. १/६४/८.
४५. ऋ. १/३०/१५.
४६. ऋ. ६/६/६.
४७. ऋ. ५/२४/३-४.
४८. स्याम ते सुमताविन्द्र शर्मन् । ऋ. ७/१८/३.
प्र ते महीं सुमतिं वेविदाम । ऋ. ७/२४/६.
४९. यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो अमर्त्यः । ऋ. ८/१९/२५.
५०. अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् । ऋ. ८/४८/३.
५१. यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम् । ऋ. ९/११३/१०.
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामाः .... । ऋ. ९/११३/११.
५२. स नो देवेष्वा यमद् दीर्घमायुः प्र जीवसे । ऋ. १०/१४/१४.
५३. यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मां धेहि पवमानाऽमृते लोके ...... ।। ऋ. ९/११३/७;
और भी ९/११३/८-११;
उतो अस्माँ अमृतत्वे दधातन । ऋ. ५/५५/४;
M. Bloomfield, *The Religion of the Veda,* Delhi, 1972, p. 250.
५४. ईशानासो नरो अमर्त्येन । ऋ. १०/६४/१७.
५५. वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि । ऋ. ५/२४/२.
५६. सुम्नेष्विद् वो अन्तमा मदेम । ऋ. ६/५२/१४.
५७. मय्याशीरस्तु मयि देवहूतिः । ऋ. १०/१२८/३.
५८. शिवा नः सख्या सन्तु भ्रात्राऽग्ने देवेषु युष्मे । ऋ. ४/१०/८.
५९. अजरासस्ते सख्ये स्याम । ऋ. ७/५४/२;
तन्नः प्रत्नं सख्यमस्तु । ऋ.६/१८/५.
६०. प्र ते महीं सुमतिं वेविदाम । ऋ. ७/२५/६.
६१. भूयाम ते सुमतौ वाजिनो वयम् । ऋ. ८/३/२.
६२. विद्या ह्यस्य वीरस्य भूरिदावरी सुमतिम् । ऋ. ८/२/२१.

६३. अस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि । ऋ. ७/२२/६.
६४. विश्वं स धत्ते द्रविणं यमिन्वसि । ऋ. ५/२८/२.
६५. ऋ. १/१३८/३, ७/८६/२.
६६. ऋ. १/१/२.
६७. ऋ. ७/११०/१.
६८. ऋ. ५/७२/१.
६९. ऋ. ७/२०/१०.
७०. ऋ. ७/७२/३,४.
७१. न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिम् ..... । ऋ. ७/२२/५.
७२. धनान्नदानम् । ऋ. १०/११७.
७३. न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः । ऋ. ४/३३/११.
७४. ऋ. १०/१५४/२,३.
७५. अपांसि यस्मिन्नधि संदधुर्गिरस्तस्मिन्त्सुम्नानि यजमान आ चके ।
ऋ. ३/३/३.
७६. ऋ. ३/४/६; ३/३१/२.
७७. कर्मभिर्महद्भिः सुश्रुतो भूत् । ऋ. ३/३६/१;
सुकृतः कर्तृभिर्भूत् । ऋ. ६/१६/१.
७८. ये देवासो अभवता सुकृत्या । ऋ. ४/३५/८;
सखीयाँ इन्द्र चकृषे सुकृत्या । ऋ. ४/३५/७.
७९. ऋ. ३/६०/३.
८०. उत क्रतुं सुदानवः । विश्वे जुषन्त कामिनः । ऋ. ६/१६/८.
८१. साकं जातः क्रतुना । ऋ. २/२२/३.
८२. यस्ताकृणोः प्रथमं सास्युक्थ्यः । ऋ. २/१३/२.
८३. इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम् ।
ऋ. ७/१०४/३.
८४. अमानुषं यन्मानुषो निजूर्वात् । ऋ. २/११/१०.
८५. ऋ. ७/१०४/८, ४/५/५.
८६. न दुरुक्ताय स्पृहयेत् । ऋ. १/४१/६.
८७. उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी । अदेवत्रादराधसः ।।

ऋ. ५/६१/६; सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य* ।

८८. जे. एन. सिन्हा, *नीतिशास्त्र*, मेरठ, १६६०, पृ. ५३.

८६. ऋ. १/३६/१४, १/६७, १/११५/६, २/२७/१४, १०/६४/४ इत्यादि.

६०. ``There is an undoubted acknowledgement of sin"- K. S.Macdonald, *The Vedic Religion,* Calcutta, 1982, p, 26 ; ``The notion of sin is clearly expressed in every human heart" (RV 2/28/5)— F. Max Muller, *A History of Ancient Sanskrit Literature,* Varanasi, 1968, p. 26; ``The consciousness of sin is the prominent characteristic of the religion of the Veda."— Ram Chandra Ghosha, *Peep into the Vedic Age,* p. 82, 93.

६१. यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः ।

ऋ. ७/१०४/८, ४/५/५.

६२. ऋ. ८/२/१२.

६३. कितवसूक्त, ऋ. १०/३४.

६४. ऋ. १/२३/२२.

६५. न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः ।
अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ।।

ऋ. ७/८६/६.

६६. मा व एनो अन्यकृतं भुजेम । ऋ. ६/५१/७.

६७. अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नः । ऋ. ७/८६/५, २/२८/६.

६८. यद्व आगः पुरुषता कराम । ऋ. १०/१५/६.

६६. जाग्रत्स्वप्नः संकल्पः पापो यं द्विष्मस्तं स ऋच्छतु । ऋ. १०/१६४/५.

१००. Macdonald, *The Vedic Religion,* p. 30.

१०१. ऋ. ४/१२/५.

१०२. `God has established the eternal laws of the moral world, yet he is willing to forgive, those who offend against them, just yet merciful, a judge and yet a father"— F. Max Muller, *A History of Ancient Sanskrit Literature, p. 495.*

१०३. यो मृळयाति चक्रुषे चिदागः । ऋ. ७/८७/७.

१०४. ऋ. १/१६२/२२, २/२७/१४, ४/१२/६, ५/८२/६, १०/२५/३

इत्यादि.

१०५. A. A. Macdonell, *Vedic Mythology*, Delhi, 1981, p. 27.

१०६. ऋ. ७/८६/३-४.

१०७. ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु ।।
अथर्व. ४/१६/६.

१०८. यौ सेतृभिररज्जुभिः सिनीथः। ऋ. ७/८४/२, २/२८/५.

१०९. प्र नो मुञ्चतं वरुणस्य पाशात्। ऋ. ६/७४/४;
उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत। ऋ. १/२५/२१ इत्यादि.

११०. रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः। ऋ. ७/१०४/२५.

१११. ऋ. ७/१०४.

११२. ऋ. १/१८/५, १/३६/१४.

११३. ऋ. १०/१२८/४.

११४. ऋ. १/२४/६.

११५. ऋ. १/६७/१.

११६. ऋ. २/२६/१.

११७. ऋ. १०/३७/११.

११८. ऋ. ५/८२/५.

११९. अव त्वानेना नमसा तुर इयाम्। ऋ. ७/८६/४.

१२०. ऋ. १/२४/१५, ७/८७/७, ८/४७/१८.

१२१. चाभूमानागसो वयम्। ऋ. १०/१६४/५.

१२२. 'Ṛita' means 'order' cosmic, ethical and ritualistic'- Griswold, *The Religion of the Rigveda*, Varanasi, 1971, p. 122, 134; M. Bloomfield, *The Religion of the Veda*, p. 126, 129.

१२३. *घाटे द्वारा ऋग्वेद पर व्याख्यान* (अनूदित), दिल्ली, पृ. १२१.

१२४. ऋ. १०/१६०/१.

१२५. भीखनलाल आत्रेय, *भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास*, पृ. ३६.

१२६. सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य*, सप्तम मण्डल, पारडी, पृ. २२७.

१२७. ऋ. ६/१००/४.

१२८. ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
ऋ. ४/२३/८.

१२६. सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतं यते । ऋ. १/४१/४.

१३०. ऋतं शंसन्त ऋतमित् त आहुरनु व्रतं व्रतपाः दीध्यानाः ।
ऋ. ३/४/७.

१३१. अभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया । ऋ. १/४६/११.

१३२. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ।।
ऋ. ७/१०४/१२; अथर्व. ८/४/१२, १३.

१३३. न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।
ऋ. ७/१०४/१३.

१३४. शिवदत्त ज्ञानी, *वेदकालीन समाज*, वाराणसी, १६६७, पृ. २६०.

१३५. ऋ. ३/७/७, १/२५/१.

१३६. ऋ. ३/६२/१७.

१३७. अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि । ऋ. ३/५४/१८.

१३८. ऋ. १०/७१/२.

१३६. ऋ. ६/५२/१४.

१४०. ऋ. १०/१०१/७.

१४१. ऋ. १०/११७/६.

१४२. ऋ. १०/१६१/१-४.

१४३. ऋ. ५/५१/१५.

१४४. ऋ. १०/१२१/१-२.

१४५. ऋ. १/१२५/५-७, १०/११७/३-५.

१४६. सहस्रदाना पुरुहूत रातिः । ऋ. ३/३०/७.

१४७. ऋ. १/१/६, १/२७/६, ६/६७/८.

१४८. ऋ. ६/५३/५,६.

१४६. दितिं च रास्वादितिमुरुष्य । ऋ. ४/२/११; सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोधभाष्य*, द्वितीयभाग ।

१५०. ऋ. १०/११७/८.

१५१. ऋ. १०/१३६/३; विश्वेश्वरनाथ रेउ, *ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि*, दिल्ली, १९६७, पृ० ८६.

१५२. विण्टरनिट्ज, *प्राचीन भारतीय साहित्य* (अनूदित), प्रथम भाग, पृ. ५२.

१५३. ऋ. *सातवलेकरभाष्य*, ७/१०४/२२.

१५४. ऋ. ४/५/५.

१५५. ऋ. ४/२५/८.

१५६. धीमहि प्रशस्तिम् । ऋ. २/११/१२.
स्वस्ति पन्थानुचरेम । ऋ. ५/५१/१५.

१५७. Griswold, *The Religion of the Rigveda*, p. 111, 131, 353.

[**Dharma- Nīrājanā**, A Volume dedicated to the memory of Dr. D.N. Shastri, ed. Dr. A. Kumar, Delhi, 1989, 7, pp. 132-143 **में प्रकाशित ।**]

* * *

६

काल-विभाजन

समय के लिए सामान्य शब्द 'काल' सर्वप्रथम ऋग्वेद की संहिता में प्राप्त होता है। यहाँ इस शब्द का प्रयोग केवल एक बार हुआ है और वह भी दशम मण्डल में।[1] ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार सम्पूर्ण संहिता में एक मन्त्र का देवता 'संवत्सरात्मा काल' है; यद्यपि इस मन्त्र में काल शब्द अप्रयुक्त है।[2] अनन्तर अथर्ववेदसंहिता में दो कालसूक्तों द्वारा सर्गप्रवर्तनी शक्ति और सर्वनियामक तत्त्व के रूप में काल की प्रशस्ति की गयी है।[3] उत्तरोत्तर ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग बढ़ता गया है। काल की अमूर्त अवधारणा को ऋग्वेदसंहिता में प्रायः 'ऋतु' शब्द के प्रयोग द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।[4] इसीलिए साधारणतया ऋतुओं की संख्या और नाम अलग-अलग प्रकार से कहे गये हैं, परन्तु ऋतुओं के विभाग से काल के विभाजन की वैचारिक दृष्टि सूचित होती है। काल से सम्बद्ध 'युग' शब्द संहिता में बहुशः प्राप्त होता है। यहाँ युग से जुड़ी परवर्ती धारणाओं का आशय कदापि ग्राह्य नहीं है, परन्तु ये प्रयोग काल के विस्तार, परिवर्तन, गति, क्रम आदि के अभिप्राय से अवश्य ही समवेत हैं।

कालसम्बन्धी समस्त व्यवहार सूर्य की गति के अधीन है। अतएव कालतत्त्व का प्रमुख नियामक सूर्य है। इस तथ्य से अवगत होने के कारण ऋग्वैदिक ऋषियों की प्रार्थनाओं में सूर्य को काल के विधायक होने के साथ-साथ समस्त कालनिर्धारण और कालविभाजन का आधार माना गया है। ऋक्संहिता में सांकेतिक रूप में काल के स्वरूप को 'संवत्सरात्मक' कहा गया है और संवत्सर के मुख्य अवयवों के रूप में ऋतु, मास, अहन्, रात्रि आदि के वर्णन किये गये हैं। इस विशेष काल-विभाजन के अतिरिक्त ऋचाओं में काल का

सामान्य विभाजन अतीत (भूत), वर्तमान (भवत्) और भविष्य (भविष्यत्) के रूप में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है।[५]

काल के विशेष विभाजन के अन्तर्गत संवत्सर, ऋतु, मास, अहन्, रात्रि आदि के जो विवरण ऋग्वेद में प्राप्त हैं, वे ही कालविभाजन से सम्बद्ध परवर्ती धारणाओं के मूलस्रोत प्रतीत होते हैं ।

(अ) संवत्सर

वर्ष के लिए 'संवत्सर' शब्द का प्रयोग ऋक्संहिता में पर्याप्त हुआ है ।[६] 'अग्नि द्वारा भक्षण किया गया अन्न वर्ष भर में बढ़ जाता है'[७] जैसे मन्त्रांशों से संवत्सर में विद्यमान कालावधि का अभिप्राय प्रकट होता है । ऋग्वेद में सामान्य रूप से 'समा' शब्द भी वर्ष का द्योतक दिखलायी देता है,[८] यद्यपि ऋग्वेदेतर वैदिक ग्रन्थों में यह ग्रीष्म ऋतु, मास आदि अर्थों में अधिक प्रयुक्त हुआ है ।[९]

भारतीय पारम्परिक चिन्तन में संवत्सर के मुख्यतः दो रूप हैं:– (१) चान्द्र वर्ष–जिसमें मोटे तौर पर ३६० दिन होते हैं और जो ६ दिन अधिक होते हैं, वे पाँच वर्ष के चक्र में एक मलमास उत्पन्न करते हैं । (२) सौरवर्ष-जिसमें लगभग ३६५ दिन होते हैं और जिसका निर्माण सूर्य-गति से सम्बद्ध है । ऋक्संहिता में इन दोनों वर्षों और मलमास के संकेत प्रतीक रूप में उपलब्ध होते हैं ।

विष्णु देवता की एक ऋचा में कहा गया है - 'यह विष्णु बीतने वाले चार सहित नब्बे अवयवों को अपनी प्रेरणा से गोल चक्र के समान घुमाता है'[१०] सायण और सातवलेकर ने यहाँ काल के चौरान्नवें अवयवों का अधिग्रहण किया है - १ संवत्सर, २ अयन, ५ ऋतुएँ, १२ मास, २४ पक्ष, ३० अहोरात्र, ८ याम, १२ मेषवृश्चिक आदि राशियाँ= ९४ अवयव। वेङ्कटमाधव के अनुसार इनका कोई संकेत मन्त्र में नहीं है । विष्णु के सौरदेवत्व और सूर्य के काल-नियन्त्रक स्वरूप को ध्यान में रखकर इस मन्त्र से 'विष्णु ने अपने ९० घोड़ों को ४ नामों के साथ गति दी' - अर्थ लेकर ९० दिन वाली ४ ऋतुओं से ३६० दिनों के वर्ष का सङ्केत ग्रहण करना[११] अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है ।

ऋचाओं में सूर्य के एक चक्र वाले रथ का उल्लेख है । सूर्य देव का

रथ यदि सूर्यमण्डल है, तो उसका चक्र है - संवत्सर। इसमें सात रंगों की किरण रूपी सात घोड़े जुते रहते हैं। इस चक्र की तीन नाभियां हैं, जिनको तीन ऋतुएं या भूत, वर्तमान और भविष्य– तीन कालों के रूप में समझा जा सकता है। सूर्य का उक्त 'अजर' चक्र विश्व में चारों ओर निरन्तर घूमता रहता है।[१२] ऋषि का कथन है कि 'इस चक्र पर सात सौ बीस जोड़े पुत्र हमेशा रहते हैं।'[१३] ऐतरेय आरण्यक की व्याख्या के अनुसार संवत्सर में ७२० (३६० दिन + ३६० रात्रि) अहोरात्र निवास करते हैं।[१४] ३६० अहोरात्र का संवत्सर निस्सन्देह चान्द्र वर्ष ही है।

काल के चान्द्रवर्ष के अनुसार विभाजन में पांच वर्ष के पश्चात् उत्पन्न होने वाले मलमास को क्या ऋग्वैदिक आर्य जानते थे? इसके उत्तर में वरुण का एक मन्त्र उद्धृत किया जा सकता है; जिसमें कहा गया है - वरुण को बारह महीनों का यथार्थ ज्ञान है और बीच-बीच में उत्पन्न होने वाले (अर्थात् मलमास) का भी ज्ञान है।[१५] हरि दामोदर वेलणकर के अनुसार यहाँ अधिक मास का स्पष्ट उल्लेख है।[१६]

इसी प्रकार सौर वर्ष के संकेत भी ऋचाओं में ढूँढ़े जा सकते है। सूर्य को **द्वादशाकृतिं पितरम्** अर्थात् 'बारह आकृतियों वाला पिता' कहना और उनके चक्र को **द्वादशारम्** अर्थात् बारह अरों वाला बताना, एक ओर उनके द्वादशात्मक स्वरूप को प्रकट करता है, तो दूसरी ओर उनके बारह मासों में घूमकर अपना चक्र पूरा करने का द्योतक है।[१७] स्पष्टतः मेष आदि राशियों के चक्र का वर्णन न होने पर भी 'द्वादशाकृति' में उसका बीज अवश्यमेव देखा जा सकता है। विद्वानों ने इस मन्त्र की विविधतया व्याख्या की है और 'पञ्चपादम्' से पाँच ऋतुओं के रूप में पाँच पैरों वाला (-सायण) अथवा अयन, मास, ऋतु, पक्ष, दिन-रात के रूप में पाँच पैरों वाला (-सातवलेकर) मानकर सूर्य के काल-नियामक स्वरूप को स्वीकार किया है। स्पष्टतः सौर वर्ष का प्रथम उल्लेख सामवेद के निदान-सूत्र में माना जाता है।[१८] जहाँ कथन है कि २७ नक्षत्रों में से प्रत्येक में सूर्य साढ़े १३ दिन व्यतीत करता है।

(आ) ऋतु

ऋग्वेद के अनुसार सर्वप्रेरक सविता देव ऋतुओं के नियामक है।[१९]

उनसे सभी ऋतुओं में सुख बढ़ाने की प्रार्थना है।[२०] प्रायः वर्ष की तीन ऋतुओं को ही लक्षित किया गया है और उनको प्रतीक रूप में सूर्य के 'एकचक्र' की तीन नाभियाँ कहा गया है।[२१] तीन ऋतु-नामों का पुरुष- सूक्त में उल्लेख हुआ है - वसन्त, ग्रीष्म और शरद्।[२२] ऋग्वेद प्रावृष्[२३] अर्थात् वर्षा और हिमा[२४] या हेमन्त[२५] से परिचित है। शिशिर का नामतः उल्लेख नहीं हुआ है। कुछ भाष्यकारों ने सूर्यचक्र की छह अराओं (षळरे) की व्याख्या 'छह ऋतुओं से सम्पन्न' अर्थ में की है।[२६] यद्यपि यह सत्य है कि ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से छह ऋतुओं में वर्ष का सामान्य विभाजन नहीं किया गया है, तथापि 'षळिद् यमा ऋषयो देवजा इति' मन्त्रांश में 'छह जोड़ी वाली (दो-दो महीनों की) देवज ऋतुओं का सङ्केत अवश्य मिलता है।[२७]

(इ) मास

वर्ष के द्वादश विभाजन के रूप में 'मास' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद-संहिता में अनेकशः हुआ है। मासों की द्वादश संख्या का अधिग्रहण प्रतीक रूप में सूर्य के द्वादश अराओं वाले चक्र से भी किया जा सकता है।[२८] अन्यत्र 'एक चक्र को द्वादश घेरे रहते हैं'[२९] कहकर यही तथ्य स्पष्ट किया गया है। मासों के नामों का वर्णन ऋग्वेद में नहीं है। सम्भवतः सर्वप्रथम यजुर्वेद में अग्नि-चयन के प्रसंग में ही उनको ठीक-ठीक गिनाया गया है।[३०] मास के विशिष्ट दिन अथवा रात्रि अमावस्या या पूर्णमासी माने जाते हैं। अथर्ववेद में दो सूक्तों में इनकी प्रशस्ति की गयी है। परन्तु ऋग्वेद में ये शब्द अनप्रयुक्त हैं। 'सिनीवाली' जो अमावस्या से एक दिन पूर्व की रात्रि की संज्ञा है, ऋक्संहिता में मिलती है।[३१] एक दूसरी संज्ञा 'गुङ्गू' मिलती है,[३२] जिसे सायण ने अमावस्या की रात्रि के वाचक 'कुहू' नाम से स्वीकृत किया है। तिथिवाचक एक और नाम 'राका' भी ऋचाओं में आया है,[३३] जिसे पूर्णमासी का वाचक माना जाता है। अनन्तर संहिताओं और ब्राह्मणों में इनके प्रयोग के साथ पूर्णिमा से पहले के दिन के वाचक 'अनुमति' नाम के अतिरिक्त दूसरे कई नाम भी प्रचलित हुए। अतः कह सकते हैं कि मास के विशिष्ट दिनों के नामकरण की परम्परा का सूत्रपात इसी संहिता से हो गया है।

यदि वर्ष को १२ मासों और ३६० दिनों में विभाजित किया गया है, तो परोक्ष रूप में मास के तीस दिनों का अभिप्राय अन्तर्निहित रहा ही है,

तथापि इस सन्दर्भ में भी कुछ संकेत उल्लेखनीय है :-

१. त्रिंशद् धाम विराजति...। प्रतिवस्तोरह द्युभिः । ऋ. १०/१८९/३.
अर्थात् सूर्य के तीस स्थान (दिन) उसकी कान्तियों से विशेष रूप से शोभित होते हैं ।

२. अनवद्यास्त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परियन्ति सद्यः । ऋ. १/१२३/८.
अर्थात् एक-एक उषा तीस योजन तत्काल ही कर्मप्रवर्तक सूर्य के आगे चलती है ।

३. त्रिंशत् पदा न्यक्रमीत् । ऋ. ६/५९/६.
अर्थात् उषा तीस पाँव चलती है ।

उषा के तीस योजन चलने का अभिप्राय भले ही उषा की गति से रहा हो- परन्तु तीस संख्या से तीस दिनों का संकेत भी लिया ही जा सकता है। निस्सन्देह 'तीस योजन' व्याहृति व्याख्या की अपेक्षा रखती है ।

(ई) अहन्/रात्रि/अहोरात्र

मास के बाद समय के अपेक्षाकृत छोटे विभाग को 'अहोरात्र' कहा गया है । ऋग्वेद के अनुसार जल से भरे समुद्र के बाद 'संवत्सर' उत्पन्न हुआ और फिर जगत् को वश में रखने वाली परम सत्ता ने 'अहोरात्राणि' बनाए ।[३४] दिन के लिए 'अहन्' और रात के लिए 'रात्रि' और दोनों के संयुक्त बोध के लिए 'अहोरात्र' पदों का नियमित प्रयोग संहिता में प्राप्त होता है । संवत्सर के बाद अहोरात्र के कर्ता के रूप में सूर्य का स्तवन अपेक्षाकृत अधिक हुआ है । कहा गया है कि वे दिनों के साथ रात्रियों को उत्पन्न करते हुए आकाश से जाते हैं ।[३५] जब सूर्य अपनी रसहरणशील रश्मियों अथवा हरितवर्ण अश्वों को इस लोक से ले जाकर अन्यत्र संयुक्त करते हैं, तब रात्रि अपने आच्छादनरूपी अन्धकार को समस्त विश्व में विस्तृत कर देती है ।[३६] सूर्य तमस् से विलक्षण तेज को अपने आगमन द्वारा दिन में धारण करते हैं और कृष्णवर्ण के तमस् को अपने अपगमन द्वारा रात्रि में निष्पादित करते हैं ।[३७]

रात और दिन को नाना रूपों को प्रकट करने वाली दो बहिनें कहा गया है और ऋग्वेद के रात्रिसूक्त में रात्रि का देवी के रूप में वर्णन है।[३८] एक ऋचा की सूर्यपक्षीय व्याख्या में सायण ने रात और दिन को सूर्य के

दो सिर कहा है ।[३९] अहन् कृष्ण है और अहन् शुक्ल है–[४०] विवरण रात्रि और दिन का वाचक है । दिन के प्रारम्भिक भाग को जब अन्धकार समाप्त हो रहा हो अपि-शर्वर[४१], पक्षियों के जागने के समय को 'स्वसर'[४२] या 'प्रपित्व',[४३] सन्ध्या को 'अभि-पित्व[४४] और मध्याह्न को 'मध्यम् अह्नाम्', 'मध्ये'[४५] आदि नामों से कहा गया है ।[४६] दिन के इस प्रकार के विभाजन के अतिरिक्त उसके मुहूर्त आदि छोटे विभागों का उल्लेख कदाचित् ऋग्वेद में नहीं हुआ है ।

द्रष्टव्य है कि सात दिनों के नाम या सप्ताह का उल्लेख इस संहिता में अनुपलब्ध है । सूर्य के 'एकचक्र' में सप्त (अश्वों) के जुड़ने के वर्णन[४७] में सप्ताह की अवधारणा के उद्भव को नहीं ढूंढ़ा जा सकता है, क्योंकि इस प्रतीकार्थ की व्याख्या की संगति सूर्य की संवाहक किरणों के सप्त वर्णों से अधिक बैठती है ।

इस प्रकार काल और उसके विभाजन के विषय में ऋक्संहिता में जो तथ्य मिलते हैं, उनसे स्पष्ट है कि संवत्सर काल का बड़ा विभाग माना गया और अहोरात्र या दिन और रात छोटा विभाग । ऋतुओं की अवधारणा स्पष्ट रही और मासों की संख्या, परन्तु इनके नाम अनिश्चित थे। वैदिक वाङ्मय के दूसरे ग्रन्थों में उत्तरोत्तर कालतत्त्व के सूक्ष्म विभाग भी चिन्तन का विषय बने, परन्तु उन सब का मूल या प्रारम्भिक स्वरूप उपन्यस्त करने के कारण ऋग्वेदसंहिता प्रथम साहित्यिक प्रमाण के रूप में महत्त्वपूर्ण है ।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. ऋ. १०/४२/६.

२. ऋ. १/१६४/४८.

३. अथर्व. १६/५३,५४.

४. ऋ. १/४६/३ ; १/८४/१८ इत्यादि.

५. पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् । ऋ. १०/६०/२.
अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । ऋ. १/१/२;
न त्वावाँ इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यते । ऋ. १/८१/५ इत्यादि .

६. ऋ. १/११०/४; १/१४०/२; १/१६१/१३; ७/१०३/१ इत्यादि.

७. संवत्सरे वावृधे जग्धमी पुनः । ऋ. १/१४०/२.
८. समानां मास आकृतिः । ऋ. १०/८५/५; १०/१२४/४.
९. Keith and Macdonell, *Vedic Index of Names and Subjects*, Vol. II, pp. 429-30.
१०. चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतींरवीविपत् ।
ऋ. १/१५५/६.
११. Macdonell, *Vedic Mythology*, Delhi, 1981, pp. 38-9 ; Keith, *Religion and Philosophy of the Veda and Upanishads*, Vol.I, p. 109; *Ghate's Lectures on Rigveda*, Poona, 1966. pp. 154-5.
१२. सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ।।
ऋ. १/१६४/२.
१३. आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ।
ऋ. १/१६४/११.
१४. सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्राः स एषोऽहः संमानः।
ऐ. आ. ३/२/१.
१५. वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः । वेदा य उपजायते ।
ऋ. १/२५/८.
१६. वेलणकर, *ऋक्सूक्तवैजयन्ती*, पृ. ६.
१७. पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिम् । ऋ. १/१६४/१२;
द्वादशारं नहि जज्जराय वर्वर्ति चक्रम् । ऋ. १/१६४/११.
१८. *निदानसूत्र*, ५/१२/२/५.
१९. व्यृतूँरदर्धररमतिः सविता देव आगात् । ऋ. २/३८/४.
२०. आगन् देव ऋतुभिर्वर्धतु क्षयम् । ऋ. ४/५३/७.
२१. ऋ. १/१६४/२, १/१६४/४८.
२२. वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद् हविः । ऋ. १०/९०/६.
२३. ऋ. ७/१०३/३.
२४. ऋ. ५/५४/१५.
२५. ऋ. १०/१६१/४.
२६. सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य*, प्रथम भाग, पारडी, १९८३,

पृ. ४३३ । ऋ.सा.भा. १/१६४/१२.

२७. ऋ. १/१६४/१५; विश्वेश्वरनाथ रेउ, *ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि*, वाराणसी, १९६७, पृ. १५०.

२८. द्वादशारं चक्रम् । ऋ. १/१६४/११.

२९. द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम् । ऋ. १/१६४/४८.

३०. सूर्यकान्त, *वैदिककोश*, पृ. ३८०.

३१. ऋ. २/३२/६.

३२. या गुङ्गूर्या सिनीवाली या राका या सरस्वती । ऋ. २/३२/८.

३३. राकामहं सुहवाम् । ऋ. २/३२/४,५; ४२/१२.

३४. समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ।। ऋ. १०/१९०/२.

३५. ऋ. १/५०/७.

३६. यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै । ऋ. १/११५/४.

३७. अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः
कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति । ऋ. १/११५/५.

३८. ऋ. ३/५५/११, १०/१२७.

३९. द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । ऋ. ४/४८/३.

४०. अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च । ऋ. ६/९/१.

४१. ऋ. ३/९/७.

४२. ऋ. २/३४/८; २/१९/२; २/३४/५.

४३. ऋ. ७/४१/४; ८/१/२९.

४४. ऋ. १/१२६/३; ४/३४/५.

४५. ऋ. ७/४१/४, ८/२७/२०.

४६. Keith and Macdonell, *Vedic Index of Names and Subjects*, Vol. I, pp. 48-50.

४७. सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति । ऋ. १/५०/८.
सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम् । ऋ. १/१६४/२.

[**कालतत्त्व-चिन्तन**, सं. डॉ. शशिप्रभा कुमार, दिल्ली, १९९७, पृ. ४७-५२ **में प्रकाशित** ।]

❋ ❋ ❋

वसिष्ठ का सामाजिक चिन्तन

ऋक्संहिता के प्रायः सम्पूर्ण सप्तम मण्डल[1] और नवम एवं दशम मण्डल के कुछ सूक्तों और मन्त्रों के ऋषि वसिष्ठ है ।[2] यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के भी बहुत अधिक मन्त्रों के ऋषि वसिष्ठ हैं । वास्तव में ऋग्वेद के ही वसिष्ठ से सम्बद्ध मन्त्र अन्य वेदों में कुछ पाठ-भेद के साथ संगृहीत हैं । ऋक्संहिता में 'मैत्रावरुणिः' विशेषण वसिष्ठ ऋषि के नाम के साथ प्रयुक्त हुआ है, जिससे इनका 'मित्रावरुण' का पुत्र होना व्यक्त होता है। मित्र और वरुण से इनकी उत्पत्ति की चर्चा वेद में हुई भी है।[3] सप्तम मण्डल के १०४ सूक्तों में से कुछ मन्त्र ही सन्दिग्ध रूप से वसिष्ठपुत्र शक्ति और कुमार आग्नेय द्वारा प्रणीत बताये गये हैं । अतः सङ्ख्या की दृष्टि से अन्य ऋषियों की तुलना में मैत्रावरुणि वसिष्ठ के सूक्त सर्वाधिक हैं । वसिष्ठ-दृष्ट सूक्तों की एक महत्ता यह है कि इनसे तत्कालीन इतिहास, भूगोल और समाज पर जितना प्रकाश पड़ता है, उतना दूसरे किसी भी ऋषि के द्वारा दृष्ट सूक्तों से नहीं ।

कुलमण्डलों में वसिष्ठ मण्डल को विशेष महत्त्व दिया जाता है, इसके कई कारण हैं । इतिहासकारों की मान्यता है कि ऋषि वसिष्ठ ने ऋग्वैदिक काल के इतिहास में एक विशेष भूमिका निभायी थी। तत्कालीन इतिहास की एक महान् घटना **दाशराज्ञ युद्ध** का विस्तृत वर्णन इसी मण्डल के तीन सूक्तों (१८,३३,८३) में मिलता है, जिसमें वसिष्ठ ने सक्रिय भाग लिया था। यह युद्ध किन्हीं राजनैतिक और सामाजिक कारणों से तृत्सुनरेश सुदास और दस राजाओं के बीच हुआ था। सुदास के पुरोहित 'वसिष्ठ' उनके दल के नेता थे, तो सुदास के शत्रुदल के नेता थे 'विश्वामित्र'। इस युद्ध में सुदास के

विजयी होने से वसिष्ठ का अधिकार और प्रभाव उस समय के सारे आर्यावर्त पर फैल गया था।

वसिष्ठ-सूक्तों का योगदान ऋग्वेद में धार्मिक अवधारणाओं के निर्माण में भी देखा जाता है। चार वरुणसूक्तों[४] में उपासक द्वारा अति विनम्रतापूर्वक वरुणदेव से प्रार्थना करते हुए अपने पापों के लिए क्षमायाचना करने में जो भक्तिभाव का मूलरूप दिखायी देता है, वह ऋक्संहिता में अन्यत्र नहीं है।[५] वसिष्ठ-दृष्ट इन्द्रसूक्त धार्मिक कविता के सुन्दर उदाहरण हैं। कुछ प्रसिद्ध ऋग्वैदिक सूक्तों में मण्डूकसूक्त (१०३), राक्षोघ्न सूक्त (१०४) और आप्रीसूक्त (२) उल्लेखनीय हैं, जो ऋषि वसिष्ठ द्वारा सप्तम मण्डल में देखे गये हैं। उत्तम काव्य और प्रकृति-गीत के उदाहरण के रूप में वसिष्ठ के उषा-सूक्तों का विशेष स्थान हैं।

वसिष्ठ के आराध्यदेव 'इन्द्र' थे। जिन दूसरे देवों का उन्होंने श्रद्धापूर्वक स्तवन किया, उनमें वरुण, सूर्य, अग्नि, विश्वेदेवा, उषा इत्यादि उल्लेखनीय हैं। एकवचन में 'वसिष्ठ' नाम का प्रयोग ऋषि के 'अतिशय बुद्धिमान्' और 'धनसम्पन्न' होने का सूचक है। वसिष्ठसूक्तों में जीवन का परम काम्य इन्द्रलोक की प्राप्ति प्रतीत होता है।

यज्ञ में आने की प्रार्थनाएँ, युद्ध में सहायता करने का देवों से अनुरोध, देवताओं के गुण-कर्मों का स्तवन और अपनी क़ामनाओं की अभिव्यक्ति– वसिष्ठ-सूक्तों के प्रमुख विषय हैं। सप्तम मण्डल के सभी सूक्तों को विषयानुसार पांच प्रमुख कोटियों में रखा जा सकता है - प्रकृतिगीत, धार्मिकगीत, कर्मकाण्डीय सूक्त, ऐतिहासिक युद्ध-गीत और दिन-प्रतिदिन के गीत।[६]

इन सूक्तों के आलोचनात्मक विवेचन के आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वसिष्ठ सूक्तों का महत्त्व ऐतिहासिक घटनाक्रम और धार्मिक चिन्तन में ही नहीं रहा था, अपितु सामाजिक दिशानिर्धारण में भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। यहाँ वसिष्ठ-दृष्ट ऋग्वैदिक मन्त्रों में व्यक्त हुए सामाजिक विचार अध्येय हैं।

(अ) गृहविषयक विचार

सप्तम मण्डल के प्रारम्भिक मन्त्र में गृहपति अग्नि के स्तवन[७] और

आगामी मन्त्रों में घर के स्वरूप के चित्रण से सामाजिक जीवन में घर का महत्त्व सुव्यक्त हुआ है । वसिष्ठसूक्तों में घर के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है, यथा - अस्त, दम[८], दुर्य[९], क्षय[१०], दुरोण[११], केत[१२], स्ति[१३], दुरः[१४], वर्तिः[१५], छर्दिः[१६], वरूथ[१७], शरण[१८] । इनमें से क्षय, केत, स्ति और वर्ति शब्द सायण द्वारा गृहवाची अर्थों में ग्रहण किये गये हैं, यद्यपि निघण्टु के गृहवाची नामों में ये अप्राप्त है ।[१९] निघण्टु के अनुसार 'केत' प्रज्ञानाम है ।[२०] 'क्षय' को निरुक्तटीकाकार दुर्ग ने भी निवासार्थक माना है ।[२१] 'स्ति' को कीथ और मैकडॉनल ने आश्रित या आधारवाची बताया है ।[२२] घर के लिए प्रयुक्त ये अनेक नाम मात्र पर्याय नहीं हैं, अपितु इसमें प्रयोगकर्ता द्वारा अभिप्रेत, सूक्ष्म अर्थ-भेद भी निहित हैं, यथा 'वरूथ' अनिष्टनिवारक गृह है, तो 'दुरोण' तृप्त करने वाला घर। इनका विवेचन व्युत्पत्तिशास्त्र और अर्थविज्ञान का विषय है।

देवताओं से अन्न, बल और स्वस्ति के साथ गृह भी उपासकों का प्रार्थनीय है ।[२३] वसिष्ठ-दृष्ट सूक्तों के अनुसार घर सुन्दर, सुदृढ़, निजी, सुखद, सम्पन्न और सन्तानयुक्त होना चाहिए। वरुण देव से प्रार्थना है कि 'मै मिट्टी के घर में नहीं रहूंगा, अपितु सुन्दर घर में रहूंगा ।'[२४] अग्नि से प्रार्थना कि 'हम दूसरों के घरों में नहीं रहें, हम अपने घर में रहें,'[२५] इन्द्र से प्रार्थना कि 'हम सखा नर लोग गृह में ही आनन्दित हों',[२६] 'हमारा घर उत्तम वीर सन्तान से युक्त हो, धन और अन्न से सम्पन्न हो',[२७] अग्नि से प्रार्थना कि 'हम सूने घर में न रहें, पुत्र-पौत्रादि से युक्त घर में रहें',[२८] और 'हमें वह घर दें, जो सेवकों से युक्त हो और उत्तम सन्तान से बढ़ने वाला हो',[२९] इत्यादि से यही तात्पर्य प्रकट होता है । वसिष्ठ-सूक्तों में निवासस्थान की सुरक्षा की आवश्यकता का भी सङ्केत किया गया है ।[३०] समाज में घर अन्न से सेवा करने में तत्पर, स्त्रियों से सम्पन्न, सुरक्षित, यश को बढ़ाने वाला और दीर्घकाल तक टिकने वाला होना चाहिए- एक अग्नि-मन्त्र[३१] में इस प्रकार के एक विचार की झलक है । अन्यत्र अश्विनौ से ध्रुव यश और ध्रुव घर की याचना है ।[३२] बड़े परिमाण वाले और हजारों द्वार वाले घर का चित्रण[३३] स्पष्ट करता है कि घर से साध्यरूप सुख तभी सम्भव है जब उसका परिमाण घर के सदस्यों के अनुकूल हो। पर्जन्य से 'त्रिधातु शरण' काम्य है,[३४] जिसे सायण ने 'त्रिभूमिक घर', सातवलेकर ने

'तीन धारक शक्तियों से युक्त घर', विलसन ने 'तीन मंजिला निवास' और ग्रिफिथ ने 'तिगुना आश्रय' माना है। स्पष्ट ही ये सभी अर्थ घर की भव्यरूपता को प्रकट करते हैं । कह सकते हैं कि वसिष्ठ-दृष्ट सूक्तों में घर के एक विशेष स्वरूप की कल्पना की गयी है और सामाजिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए उसे आनन्द, सुख आदि का साधन मानने के साथ-साथ साध्य भी माना गया है ।

(आ) पुत्रविषयक विचार

कई प्रार्थनाओं द्वारा सप्तम मण्डल में परिवार या घर में सन्तान की महत्ता व्यक्त हुई है। निस्सन्देह अधिक बार पुरुष-सन्तान की आकाङ्क्षा की गयी है। हे अग्ने ! हम पुत्र-पौत्र विहीन न हों[३५], हे अग्ने ! हमें पुत्र-हीनता (अवीरता) न देना,[३६] हम पुत्रहीन (अवीराः) होकर तुझ अग्नि की परिचर्या करने न बैठें[३७] –जैसी कामनाओं में पुत्र का महत्त्व और उसकी प्राप्ति की उत्कट इच्छा निहित है। मन्त्रों में प्रयुक्त प्रजा, अपत्य आदि कुछ शब्द यदि सामान्यतया 'सन्तान' अर्थ में व्यवहृत हुए हैं, तो शेषस्[३८], तनय[३९], वीर[४०], सूनु[४१], तोक[४२] इत्यादि बहुप्रयुक्त शब्द अधिकांशतया पुरुषसन्तान अर्थात् पुत्र-पौत्र आदि अर्थों के लिए ही हैं । ऋग्वैदिक समाज में दत्तक पुत्र का प्रचलन रहा होगा, पर वसिष्ठ-दृष्ट सूक्तों में उन पर श्रद्धा नहीं दिखायी देती है। यहाँ तो स्पष्ट रूप से औरस पुत्र का गुणगान किया गया है और पुरुष द्वारा स्वयं उत्पादित पुत्र को 'नित्यतनय' कहा गया है।[४३] औरस से भिन्न पुत्र 'अन्यजात' है, उसे अपना समझना मूर्खों का मार्ग है।[४४] अगले मन्त्र में विषय का विस्तार करते हुए कहा गया है– 'दूसरे से उत्पन्न पुत्र, सुख से सेवा करने वाला और ऋण न करने वाला होने पर भी पुत्र करके ग्रहण करने योग्य नहीं होता है। वह मन से मानने के लिए भी नहीं होता है, क्योंकि वह अपने निज पिता के घर के पास ही खींचा जाता है ।'[४५] सम्भवतः औरस से भिन्न पुत्रों में अन्य युग्म से उत्पन्न पुत्र 'अरणः' और 'अन्योदर्यः' है, जबकि अन्य पुरुष द्वारा अपनी पत्नी से उत्पन्न पुत्र कदाचित् 'अन्यजात' है । इस सम्बन्ध में शिवराज शास्त्री की समीक्षा उल्लेखनीय है - 'यद्यपि सायण ने और निरुक्त के टीकाकार देवराज यज्वा और दुर्गाचार्य ने 'अन्यजात' का अर्थ सामान्यरूप से 'अनौरस' किया है, परन्तु ऐसा प्रतीत

होता है कि 'अन्योदर्य' (अन्योदर से उत्पन्न) के विरोध से 'अन्यजात' शब्द ऐसे पुत्र के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो 'अन्योदर्य' तो नहीं है, पर 'अन्येन जातः' अर्थात् अपनी पत्नी में अन्य से उत्पन्न है।[४६] वसिष्ठ-दृष्ट सूक्तों में 'अन्योदर्य' पुत्र को ग्रहण न करने योग्य माना गया है और उसका कारण भी दिया गया है। दर्शनीय है कि अनौरस पुत्र के स्वरूप के बोधक विशेषणपद 'अन्यऽजातम्' और 'अन्यऽउदर्यः' ऋक्संहिता में एकमात्र यहीं प्रयुक्त हुए हैं। परिवार में प्रधानतया औरसपुत्र ही काम्य है - 'अपने से उत्पन्न हुए पुत्र से वर्धमान घर हमें दें।'[४७]

देवों की अप्रसन्नता को धन और सन्तान के अभाव का निमित्त मानने के कारण कहा गया है - 'यज्ञ न करने वालों के मास पुत्ररहित होकर चले जाएं।'[४८] पुत्र पिता के ऋणों के लिए उत्तरदायी होता है, यहाँ तक कि उनके द्वारा किये गए पापों के लिए भी।[४९] प्रार्थनाओं में पुत्र का सर्वाधिक काम्य गुण है- वीरता। बलवान् इन्द्र को जन्म देने के कारण इन्द्र के माता-पिता की प्रशंसा की गयी है।[५०] त्वष्टा से प्रार्थना है कि 'जब पत्नियाँ हमारे समीप आती हैं, तब सुपाणि त्वष्टा हमारे लिए वीर पुत्रों को दें।'[५१] अग्नि के शोभनपुत्रोपेत धन (सुवीरं रयिम्) प्रार्थनीय है।[५२] 'सुवीराः मदेम्'[५३] अर्थात् उत्तम वीर पुत्र-पौत्रादि के साथ आनन्दित हों - जैसी प्रार्थनाओं में भी यही भाव निहित है। अग्निदेव से ऐसा नवीन पुत्र प्रार्थनीय है, जो बलवान् (वाजी) और शत्रु का पराभव करने वाला (अभीषाट्) हो।[५४] पुत्र का वीर होने के साथ-साथ 'नर्य' अर्थात् नरहितकारी होना भी आवश्यक है।[५५] देवों से बहुकीर्ति पुत्र (उरुगाय) की कामना भी की गयी है।[५६] वसिष्ठ-दृष्ट सूक्तों में पुत्र-विषयक जो धारणाएँ प्राप्त होती हैं, उनका सारांश यही है कि पुत्र परिवार के लिए परम काम्य है, परन्तु उसका गुणवान् होना उतना ही आवश्यक है। वास्तोष्पति से प्रार्थना - 'पिता जैसे पुत्रों का पालन करता है, उसी तरह आप हमारा करें'[५७] -में सङ्केत है कि पिता और पुत्र के आपसी व्यवहार में उदारता और मधुरता अपेक्षित है।

(इ) परिवार और नारीविषयक विचार

वसिष्ठ-दृष्ट सूक्तों में प्रतिबिम्बित समाज पर्याप्त सुव्यवस्थित प्रतीत होता है। परिवार में पिता का महत्त्व है, परन्तु माता का महत्त्व कम नहीं

है । कभी तो माता का उल्लेख पिता से पहले किया गया है ।[५८] भगदेवता के स्तवन में भग को 'अदितेः पुत्रं भगम्' कहना प्रमाणित करता है कि पुत्रों का माता के नाम से निर्देश किया जा सकता है ।[५९] यहाँ परिवार में माता के महत्त्व को स्वीकार करने के कारण माता-पिता के लिए 'पितरा'[६०] की तरह 'मातरा'[६१] पद का प्रयोग प्राप्त है । यही नहीं, बच्चों के लालन-पालन में माता के योगदान का उपमान के रूप में भी उल्लेख किया गया है।[६२] माता के गौरव का आधार केवल सन्तान-उत्पत्ति नहीं है, अपितु गुणवान् और लगभग दस पुत्रों की उत्पत्ति है ।[६३] इन सूक्तों से सन्तान और परिवार के प्रति माता के कर्तव्यों और सम्बन्धों पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है, परन्तु स्वापनसूक्त में यह सङ्केत अवश्य मिलता है कि संयुक्त परिवार मान्य थे, जिनमें माता-पिता, दादा या जामाता, (विश्पतिः), अन्य सम्बन्धी (ज्ञाति) और कई स्त्रियां रहती थीं ।[६४]

ऋग्वैदिक समाज में सामान्यतता प्रचलित एक पत्नीव्रत के समर्थन या विरोध में कोई विचार वसिष्ठ-दृष्ट सूक्तों में उपलब्ध नहीं है, परन्तु राजाओं या राजवंशीय जनों के लिए बहुपत्नी-विवाह के प्रचलन का सङ्केतक यह मन्त्रांश अवश्य प्राप्त है - जैसे स्त्रियों के साथ राजा रहता है.।[६५] पत्नियों पर पति का अधिकार माना गया है, ठीक वैसे ही जैसे इन्द्र शत्रु-नगरियों को सम्यक् रूप से वश में रखता है ।[६६] निश्चय ही इसे स्त्री-स्वतन्त्रता के विरोध का आधार बनाना अनुचित होगा । आप्रीसूक्त के उषासानक्ता मन्त्र[६७] की व्याख्या में श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने लाक्षणिक रूप से ऐसी दो स्त्रियों का वर्णन माना है - जो दिव्यगुणों से युक्त, ऐश्वर्यशालिनी, बड़ी सभाओं में बैठने वाली, प्रशंसित और धनवती हैं ।[६८] देवीर्द्वारः के मन्त्र[६९] के आधार पर भगवत्शरण उपाध्याय की समीक्षा है कि अविवाहित स्त्रियों को समाज में कहीं भी आने-जाने की पूरी स्वतन्त्रता थी और वे 'समन' अर्थात् सामाजिक उत्सवों (festive occasions and tournaments) में स्वेच्छापूर्वक भाग लेती थी ।[७०] सातवलेकर के मत में उषा के मन्त्रों[७१] के द्वारा तरुण स्त्री के लिए व्यवहार का उपदेश दिया गया है कि वह प्रातः काल पति से पूर्व उठे, अन्नपान का प्रबन्ध करे, गायों की सेवा करे । उनके मत में एक मन्त्र में स्त्री के गुणों का वर्णन किया गया है-[७२] 'वह ऋषियों द्वारा प्रशंसित, धनवती, तेजस्विनी, अन्न से सम्पन्न और ऐश्वर्यवती हो ।'

(ई) समाज की समृद्धि और उन्नति के आधार

वसिष्ठ-दृष्ट-सूक्तों में समाज के सभी मनुष्यों के लिए शत वर्ष की आयु का पूर्णायु के रूप में विधान किया गया है।[७३] इहलौकिक जीवन में उत्तमवीर पुत्रपौत्र, रूप, सौन्दर्य, स्वास्थ्य, सुवेष आदि के महत्त्व को भी यत्र-तत्र अङ्गीकार किया गया है। समाज की समृद्धि और प्रसन्नता का प्रमुख आधार धन माना गया है और अनेक बार देवताओं से धन और सहस्रसंख्यक धन की याचना की गयी है।[७४] यहाँ वार्यम्[७५], वेदः[७६], रयिः[७७], रत्नम्[७८], वसु[७९], राधस्[८०], रेक्णः[८१] इत्यादि शब्दों के प्रयोग द्वारा धनरूप समृद्धि काम्य है। अग्नि से प्रार्थना है कि धन स्तोताजनों या विद्वानों (सूरि) के पास जाना चाहिए।[८२] अग्नि ऐसा धन दें, जिसे हिंसक शत्रु बाधा न पहुंचा सकें, न लूट सकें।[८३] सामाजिक समृद्धि के लिए वीरपुत्र, अश्व और रथ से युक्त[८४], उत्तम पुत्र वाला[८५], यश देने वाले[८६], प्रशंसनीय[८७], अक्षय और स्थायी[८८] धन की याचना की गयी है। ऋणरहित धन ही पर्याप्त माना गया है।[८९] धन की सार्थकता 'दान से है - चाहे वह दान देवता के प्रति किया जाये या किसी अन्य प्राणी के प्रति।[९०]

सामाजिक समृद्धि और उन्नति के लिए धन के अतिरिक्त दूसरे प्राथमिक आधार हैं- अन्न, बल[९१], सुरक्षा[९२] और शान्ति। एक सम्पूर्ण सूक्त में 'विश्वेदेवाः' से शान्ति प्रार्थित है।[९३] जन-कल्याण की इच्छा से ही एक वाक्य के अनेकशः प्रयोग से 'स्वस्ति' द्वारा पालन करने की प्रार्थना को दोहराया गया है - 'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।' 'सुनृता ईरयन्ती' से परस्पर मधुर वाणी के प्रयोग का अर्थ साङ्केतिक रूप से ग्राह्य है,[९४] तो सुचेतस्, कर्मी और उद्यमी जनों को मित्र और वरुण सुपथ से ले जाते हैं–[९५] इस कथन द्वारा पुरुषार्थ और प्रयत्नशीलता की प्रशंसा अभिव्यंजित है। पुत्र और पत्नी से युक्त सद्गृहस्थ का दानशील होना पर्याप्त आवश्यक समझा गया है।[९६]

देवकृपा और अनुग्रहबुद्धि जिस प्रकार व्यक्तिगत कल्याण एवं सुख का आधार है, उसी प्रकार सामाजिक सुख-कल्याण का भी। इसीलिए देवों की सुमति बहुशः काम्य है।[९७] उपासक की प्रार्थना है - 'हे इन्द्र! मैं तेरे अनुकूल कर्म में ही दत्तचित्त रहता हूं।'[९८] बुद्धिमान् और स्तोता देवताओं के प्रिय होते हैं।[९९] प्रशस्त धी और प्रेष्ठा मति की बड़ी महिमा है और

अनेक बार उनकी प्राप्ति की प्रार्थनाएँ हैं ।[१००] इसके विपरीत अमति और दुर्बुद्धि के निराकरण की कामना की गयी है ।[१०१] अभिलाषा है कि सत्य के केन्द्र से ज्ञान फैले ।[१०२] ज्ञान द्वारा ही वस्तुतः सबका कल्याण होता है । वसिष्ठदृष्ट सूक्तों में अज्ञानी (अचितः) की निन्दा की गयी है और ज्ञानी के प्रति आदर व्यक्त किया गया है ।[१०३] इन सूक्तों में समाज की उन्नति के एक महत्त्वपूर्ण आधार के रूप में 'संघटना' का उल्लेख कई बार प्राप्त होता है । यथा कहा गया है - कुलीन लोग संगठित होकर बैठते हैं ,[१०४] सभी देव एक स्थान पर आकर बैठते हैं ।[१०५] संगठन करना, पारस्परिक विद्वेषों को दूर करना, अनुशासित रहना, एकमत होना, कलह न करना - इत्यादि संघटना के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले कुछ तत्त्वों का सङ्केत एक मन्त्र में मिलता है ।[१०६] संगठित प्रजाएँ अत्यधिक शक्तिशाली होती हैं और अभिमत सिद्धि को सरलतया प्राप्त कर सकती हैं - इस तथ्य को स्वीकार करने के कारण अन्धकार-नाश के लिए उषा की उपमा संगठित प्रजाजन (युक्ताः विशः) से की गयी है।[१०७] 'संघ में रहने वाले हम जैसों का विनाश न कर'[१०८] –प्रार्थना द्वारा संघटना को समाज की मूलभूत शक्ति उद्घोषित किया गया है ।

(उ) समाज के बाधक तत्त्व

समाज को 'ऋत' के मार्ग से जाना चाहिए । इस लक्ष्य में जो व्यक्ति, तत्त्व या परिस्थितियां बाधा उपस्थित करते हैं, उन पर वसिष्ठ-दृष्ट सूक्तों से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । परुषभाषी 'जरूथ'[१०९], अराति[११०], अप्रीतिकर राक्षस[१११], अमित्र[११२], दूसरों को खाने वाला-'अत्रिः'[११३], अनृतभाषी-'द्रोहवाचः'[११४], द्रोहकारी निन्दक[११५], यातु[११६], यातुधान[११७] इत्यादि सभी समाज के शत्रु हैं और इनसे रक्षा के निमित्त देव प्रार्थनीय हैं । एक और दरिद्रता और क्षुधा परिहार-योग्य हैं,[११८] तो दूसरी ओर कंजूसी (अराव्णे) भी ।[११९] यदि सन्तान और बुद्धि सुख और उन्नति के आधार हैं, तो इसमें सन्देह नहीं कि सन्तानहीनता और निर्बुद्धि अनवांछित अवस्थाएँ हैं ।[१२०] जब स्वास्थ्य और दीर्घायु काम्य हैं, तो निश्चित रूप से 'रोग' समाज की सिद्धि का बाधक तत्त्व ही है । इसीलिए विशेष रूप से चाहा गया है कि प्रजाएँ निरोग (अनमीवः) हों और इनसे रोग (अमीवा) दूर हों ।[१२१]

अज्ञान और अज्ञानी उन्नति में बाधक हैं । अतः उनके निराकरण की प्रार्थनाएँ की गयी हैं । पाप व्यक्तिगत उन्नति में साक्षात् विघ्न हैं, तो सामाजिक उन्नति में अप्रत्यक्षरूप से । इसीलिए निष्पाप (अनागाः) होने की कामनाएँ हैं ।[१२२] पाप के कारणों की विवेचना करते हुए वसिष्ठ ने वरुण से पापविमोचन की हार्दिक प्रार्थना की है ।[१२३] काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद इत्यादि मानव के अन्तःशत्रुओं के दमन की आवश्यकता को वसिष्ठ के एक मन्त्र में अलङ्कार के माध्यम से व्यक्त किया गया है ।[१२४] समाज में व्यभिचारी और कामीजनों के द्वारा उत्पन्न हो सकने वाले संकटों की ओर एक अन्य मन्त्र में सङ्केत है ।[१२५] 'स्वस्ति' अर्थात् सामाजिक कल्याण की प्रबल इच्छा से ही सप्तम मण्डल के अन्तिम 'राक्षोघ्न' सूक्त में राक्षस, पापी, अज्ञानी, दुष्कर्मकर्ता, मिथ्याभाषी, दुष्ट, असत्य इत्यादि को नष्ट करने की प्रार्थना की गयी है ।

अन्ततः कह सकते हैं कि वसिष्ठदृष्ट सूक्तों में सामाजिक नैतिकता को समाज की आधारशिला माना गया है और समाज की प्रगति के लिए अज्ञान और अनैतिक आचरण को सर्वथा त्याज्य बताया गया है । 'सामाजिक कल्याण के लिए सभी लोगों में एकत्व और सौहार्द अति आवश्यक समझा गया है । सत्कर्म और पुरुषार्थ का महत्त्व है, परन्तु देवानुग्रह भी कम वांछनीय नहीं है । निस्सन्देह इन सूक्तों में किया गया सामाजिक चिन्तन आज भी भारतीय समाज के कल्याण की सिद्धि के लिए पूर्ववत् उपयोगी और प्रासङ्गिक जान पड़ता है ।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. सप्तमं मण्डलं वसिष्ठोऽपश्यत् । *सर्वानुक्रमणी,* कात्यायन ७.१.

२. ऋ. ७/१-३२, ७/३३/१-६, ७/३४-१०४, ९/६७/१९-३२, ९/९०, ९/९७/१-३, १०/१३७/७.

३. ऋ. ७/३३/११, १३; बृ.दे. ५/७८३-७८६; नि. ५/१३; *सर्वानुक्रमणी* १/१६६.

४. ऋ. ७/८६-८९.

५. U. C. Sharma, *The Visvamitras and the Vasisthas* Aligarh, 1975, p, 179.,

६. वही, p. 183.
७. दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम् । ऋ. ७/१/१.
८. ऋ. ७/१/२.
६. ऋ. ७/१/११.
१०. ऋ. ७/१/१२.
११. ऋ. ७/७/४.
१२. ऋ. ७/१८/२५.
१३. ऋ. ७/१६/११.
१४. ऋ. ७/४६/२.
१५. ऋ. ७/६७/१०.
१६. ऋ. ७/७४/५.
१७. ऋ. ७/८८/६.
१८. ऋ. ७/१०१/२.
१६. निघ. ३/४.
२०. निघ. ३/६.
२१. नि., *दुर्गाचार्यटीका* ८/१८/३.
२२. Keith and Macdonell, *Vedic Index of Names and Subjects*, Vol. I, p. 96.
२३. ऋ. ७/१६/११, ७/८८/६.
२४. मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम् । ऋ. ७/८६/१.
२५. नि षदाम नृणां मा । ऋ. ७/१/११; तुलनीय - ऋ. ७/१२/१.
२६. नरो मदेम शरणे सखायः । ऋ. ७/१६/८.
२७. अस्तं तात्या धिया रयिं सुवीरं पृक्षो नो अर्वा न्युहीत वाजी ।
ऋ. ७/३७/६.
२८. मा शूने अग्ने नि षदाम ...प्रजावतीषु दुर्यासु दुर्य । ऋ. ७/१/११.
२६. प्रजावन्तं स्वपत्यं क्षयं नः ।
स्वजन्मना शेषसा वावृधानम् ।। ऋ. ७/१/१२.
३०. सुप्रावीरस्तु स क्षयः । ऋ. ७/६६/५.
३१. येषामिळा घृतहस्ता दुरोण आँ अपि प्राता निषीदति ।

तॉंस्त्रायस्व सहस्य द्रुहो निदो यच्छा नः शर्म दीर्घश्रुतम् ।।
ऋ. ७/१६/८; सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोधभाष्य* ।

३२. ता यंसतो मघवदभ्यो ध्रुवं यशश्छर्दिरस्मभ्यं नासत्या । ऋ. ७/७४/५.

३३. बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते । ऋ. ७/८८/५.

३४. ऋ. ७/१०१/२.

३५. अशेषसोऽवीरता परि त्वा । ऋ. ७/१/११.

३६. मा नो अग्नेऽवीरते परा दाः । ऋ. ७/१/१६.

३७. मा त्वा वयं सहसावन्नवीरा माप्सवः परि षदाम मा दुवः ।।
ऋ. ७/४/६.

३८. ऋ. ७/१/११,१२.

३९. ऋ. ७/१/१४, ७/१/२१, ७/४६/३.

४०. ऋ. ७/१/५, ७/१/१६.

४१. ऋ. ७/१/२२.

४२. ऋ. ७/१८/२३, ७/४६/३, ७/५३/२.

४३. मा त्वे सचा तनये नित्य आ धक् । ऋ. ७/१/२१.

४४. न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः । ऋ. ७/४/७.

४५. न हि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ ।
अधा चिदोकः पुनरित् स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः ।।
ऋ. ७/४/८.

४६. शिवराज शास्त्री, *ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध*, मेरठ, १९६२, पृ. १८४, १९१.

४७. स्वजन्मना शेषसा वावृधानम् । ऋ. ७/१/१२.

४८. अयन् मासा अयज्वनामवीराः । ऋ. ७/६१/४.

४९. अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नः । ऋ. ७/८६/५.

५०. वृषा जजान वृषणं रणाय तमु चिन्नारी नर्यं ससूव । ऋ. ७/२०/५.

५१. ऋ. ७/३४/२०.

५२. ऋ. ७/१/५.

५३. ऋ. ७/१/२४.

५४. ऋ. ७/४/८.

५५. वीरो अस्मन्नर्यो वि दासीत् । ऋ. ७/१/२१.

५६. ऋ. ७/३५/१५.
५७. पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व । ऋ. ७/५४/२.
५८. सस्तु माता सस्तु पिता...। ऋ. ७/५५/५.
५६. ऋ. ७/४१/२.
६०. ऋ. ७/५३/२, ७/६७/१.
६१. ऋ. ७/२/५, ७/७/३.
६२. ऋ. ७/२/५, ७/४३/३, ७/८१/४.
६३. ऋ. ७/१०४/१५.
६४. ऋ. ७/५५/५-८.
६५. राजेव हि जनिभिः । ऋ. ७/१८/२.
६६. जनीरिव पतिरेकः समानो निमामृजे पुर इन्द्रः सु सर्वाः । ऋ. ७/२६/३.
६७. ऋ. ७/२/६.
६८. सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोधभाष्य*, सप्तम मण्डल, पृ. ६-१०.
६६. ऋ. ७/२/५.
७०. B. S. Upadhyaya, *Woman in Rigveda*, Delhi, 1974, p. 48, 54.
७१. ऋ. ७/७७/१-२.
७२. ऋ. ७/७५/५.
७३. पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् । ऋ. ७/६६/१६.
७४. ऋ. ७/८/७, ७/४/६, ७/२०/६.
७५. ऋ. ७/२५/६.
७६. ऋ. ७/१६/१.
७७. ऋ. ७/४/६.
७८. ऋ. ७/१७/७, ७/३८/६.
७६. ऋ. ७/२०/६.
८०. ऋ. ७/७७/५.
८१. ऋ. ७/४/७.
८२. रयिं सूरिभ्य आ वहा बृहन्तम् । ऋ. ७/१/२४.
८३. न यं यावा तरति यातुमावान् । ऋ. ७/१/५.

८४. ऋ. ७/२३/६, ७/१००/२, ७/७७/५, ७/६४/६.
८५. ऋ. ७/१/५, ७/३७/६.
८६. ऋ. ७/५/६.
८७. ऋ. ७/३७/८.
८८. ऋ. ७/३६/६.
८९. परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णः । ऋ. ७/४/७.
९०. नू मर्तो दयते सनिष्यन्यो विष्णव उरुगायाय दाशत् । ऋ. ७/१००/१.
९१. ऋ. ७/४२/६.
९२. ऋ. ७/७४/१, ७/५५.
९३. ऋ. ७/३५.
९४. ऋ. ७/७६/५.
९५. ऋ. ७/६०/६.
९६. जनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः । ऋ. ७/९६/४.
९७. ऋ. ७/१८/३, ७/२०/८, ७/२४/६.
९८. त्वावतो हीन्द्र क्रत्वे अस्मि । ऋ. ७/२५/४.
९९. प्रियासः सन्तु सूरयः । ऋ. ७/१६/७.
१००. ऋ. ७/३४/६, ७/६७/६, ७/८८/१.
१०१. अमतये मा नो अस्यै । ऋ. ७/१/१९;
अचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः । ऋ. ७/४/७;
अचेतसं चित् चितयन्ति दक्षैः । ऋ. ७/६०/६.
१०२. प्र ब्रह्मैतु सदनादृतस्य । ऋ. ७/३६/१.
१०३. ऋ. ७/४/७, ७/६०/७, ७/८६/७, ७/१०४/१, ७/६१/२, ७/४४/५ इत्यादि.
१०४. यत्रा नरः समासते सुजाताः । ऋ. ७/१/४.
१०५. सधस्थं विश्वे अभि सन्ति देवाः । ऋ. ७/३६/४.
१०६. समान ऊर्वे अधि संगतासः सं जानते न यतन्ते मिथस्ते ।
ते देवानां न मिनन्ति व्रतान्यमर्धन्तो वसुभिर्यादमानाः ।।
ऋ. ७.७६.५; सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य* ।
१०७. विशो न युक्ता उषसो यतन्ते । ऋ. ७/७९/२.

१०८. मा रिषण्यो...गणेन । ऋ. ७/६/५.

१०९. ऋ. ७/१/७, ७/६/६.

११०. ऋ. ७/१/७.

१११. ऋ. ७/१/१३.

११२. ऋ. ७/३२/२५.

११३. ऋ. ७/१०४/१.

११४. ऋ. ७/१०४/१४

११५. ऋ. ७/१६/८.

११६. ऋ. ७/२१/५.

११७. ऋ. ७/१०४/२४.

११८. परा दाः दुर्वाससे, मा नः क्षुधे... । ऋ. ७/१/१९.

११९. मा नो निदे च वक्तवेऽर्योरन्धीरराव्णे । ऋ. ७/३१/५.

१२०. अवीरते परा दाः...अमतये मा नः... । ऋ. ७/१/१९.

१२१. अनमीवो रुद्र जासु नो भव । ऋ. ७/४६/२.
युयुतम् अस्मदनिराममीवाम् । ऋ. ७/७१/२.

१२२. वयं स्याम वरुणे अनागाः । ऋ. ७/८७/७.

१२३. ऋ. ७/८६.

१२४. ऋ. ७/१०४/२२.

१२५. मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः । ऋ. ७/२१/५; सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य* ।

[**वैदिक चिन्तन,** सं.-डॉ. कृष्ण लाल, दिल्ली, १९९०, पृ. ९५-१०५ **में प्रकाशित** ।]

❋ ❋ ❋

११

निरामिष भोजन

भोजन मनुष्य की नित्यप्रति की आवश्यकताओं में से एक है। देश, वातावरण और व्यक्ति की आर्थिक अवस्था से इसका सीधा सम्बन्ध है। ऋग्वैदिक मन्त्रों के आलोचनात्मक विश्लेषण और उनमें प्रयुक्त कतिपय शब्दों के अर्थवैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर ऋग्वैदिक आर्यों के भोजन और पान आदि के विषय में जो महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आते हैं, वे अप्रत्यक्ष रूप से वैदिक आर्यों के सप्तसिन्धु प्रदेश के वातावरण, कृषि, अर्थ-व्यवस्था आदि को समझने में भी सहायक हैं। यहाँ ऋग्वेद की संहिता के आधार पर ऋग्वैदिक आर्यों के द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले निरामिष अथवा शाकाहारी भोजन से सम्बद्ध तथ्य अध्येय हैं।

ऋचाओं में कतिपय भोज्य पदार्थों का यत्र-तत्र निर्देश हुआ है, जो अधिकांश में देवताओं को समर्पित हवि के विषय में हैं। इनको ही ऋग्वैदिक जनों के भोजन या भोज्य पदार्थों के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। अन्न और भोजन की प्रचुरता की प्रार्थनाएँ अनेक हैं। मन्त्रों से भोजन की न्यूनता अथवा अभावविषयक भय के सङ्केत मिलते हैं। ऋग्वेदकालीन भोज्य पदार्थों में से कुछ वैदिक आर्यों के सामान्य भोजन के भाग प्रतीत होते हैं, तो कुछ विशेष अवसरों पर आस्वाद्य विशिष्ट भोज्य पदार्थ। उत्तरवैदिक-काल के आर्यों द्वारा व्यवहार में लाये जाने वाले खाद्य और पेय से ऋग्वेदकालीन आर्यों के खाद्य और पेय में मूलतया अधिक अन्तर नहीं दिखायी देता है। आर्यों का खान-पान बहुत पुष्टिकर और स्वास्थ्यवर्धक था। संक्षेप में ऋग्वैदिक आर्यों के प्रधान खाद्य में जौ और उसके द्वारा तैयार पदार्थ, चावल और कुछ दूसरे अनाज, फल, मधु, घी, दही और दूध के द्वारा तैयार पदार्थ सम्मिलित थे।

दूध, सोमरस, सुरा आदि उनके पेय के मुख्य अङ्ग थे ।

१. भोजनवाची शब्द

निघण्टु में √भुज् (खाना, उपभोग करना) से व्युत्पन्न **भोजन** शब्द धनवाची है ।[१] परन्तु ऋग्वेद में यह अनेक बार खाद्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । अमृत, प्रिय, मधुमत्, चित्र, सुभद्र आदि विशेषणपदों के प्रयोग से उत्तम और अच्छे भोजन के प्रति वैदिक आर्यों की रुचि का आभास मिलता है ।[२] इससे यह सङ्केत ग्राह्य है कि उस समय पाक-क्रिया पर्याप्त विकसित थी। भोजन में क्या-क्या सम्मिलित था, इस विषय में स्पष्ट विवरणों का अभाव है। भोजन को अपेक्षाकृत अधिक बार **अन्न** कहा गया है। अन्न शब्द √अद् (खाना) से निष्पन्न है और 'जिसे सभी प्राणी खाते हैं' इस शाब्दिक अर्थ का द्योतक है । निरुक्त की वैकल्पिक निरुक्ति के अनुसार यह आ+√नम् (झुकना) से निष्पन्न है, क्योंकि वह सब प्राणियों के लिए प्रह्वीभूत रहता है अथवा प्राप्त रहता है ।[३] निघण्टु में यह उदकवाचक भी है ।[४]

ऋग्वेद में भोजन के लिए कई बार प्रयुक्त होने वाला एक अन्य शब्द है, **पितु** ।[५] सायणाचार्य ने इसकी व्याख्या 'पालकमन्नम्' कह कर की है ।[६] निरुक्त में इसकी त्रिविध व्युत्पत्तियाँ की गयी हैं - √पा (रक्षा करना) से, अथवा √पा (पीना) से, अथवा √प्याय् (बढ़ना) से ।[७] इससे अन्न का पोषक, रक्षक और वर्धक स्वरूप व्यञ्जित होता है । कुछ बार आर्यों का प्रिय पेय 'सोम' पितु कहा गया है ।[८] अतः ऋग्वेद में पितु का सामान्य अर्थ पोषक है, चाहे वह खाद्य हो अथवा पेय ।[९] भोजन के लिए एक शब्द **सिन** भी मिलता है, जो यास्क के अनुसार √षिञ् (बाँधना) से निष्पन्न है और सब प्राणियों को बाँधे रखने, वश में रखने के कारण अन्न का वाचक है ।[१०] कुछ स्थलों पर भोजन के लिए **अन्धस्** शब्द प्रयुक्त हुआ है ।[११] आङ्पूर्वक √ध्यै (चिन्ता करना) से असुन् प्रत्यय लगकर अन्धस् बनता है । प्राणिमात्र को अन्न का ध्यान बना रहता है, इसे सब चाहते हैं, यह सबका चिन्तनीय है । यास्क के अनुसार इस अर्थ में यह 'अन्धस्' कहलाता है ।[१२] वस्तुतः यास्क ने इस शब्द की व्याख्या में जो ऋचा उद्धृत की है, उससे अन्धस् द्रव्यपदार्थ अथवा पेय का वाचक अधिक प्रतीत होता है ।[१३] फिर अन्धस् सोम पौधे का पर्याय भी है ।[१४] अतः भोजन का सामान्य अर्थ ही इस शब्द द्वारा अधिकतर ग्रहणीय

है। मोनियर विलियम्स ने महाभारत और भागवतपुराण में अन्धस् को भोजनवाची बतलाया है। अमरकोश ने अन्धस् का अर्थ अन्न किया है। यास्क ने अन्धकार और नेत्रहीन के अर्थ में भी अन्धस् शब्द के प्रयोग का उल्लेख किया है,[१५] जो दर्शाता है कि निरुक्त की रचना के समय तक इसके अर्थों का विस्तार हो चुका था।[१६] इसके समकक्ष शब्दों में भारोपीय 'अन्धोस्' और ग्रीक 'अन्थोस्' पुष्प के द्योतक हैं।[१७]

ऋग्वेद में भोजन के अर्थ में **श्रवस्** शब्द का प्रयोग भी मिलता है।[१८] निरुक्त ने इसकी व्युत्पत्ति √ श्रु (सुनना) से की है।[१९] दुर्गाचार्य की टीका में व्याख्या मिलती है कि इसके बारे में लोग इधर-उधर सुनते रहते हैं, इसलिए इसका नाम 'श्रवस्' है। सायण ने अधिकतर सोम के सन्दर्भ में इससे भोजन या खाद्य का अभिप्राय लिया है। सोमाभिषवण के समय एक ध्वनि सुनायी पड़ती है इसलिए सोम को यह विशेषण दिया जाता है। एक पोषक ओषधि होने से उसको 'भोज्य' मानना सर्वथा उपयुक्त है।[२०] भोजन के अर्थ में ऋचाओं में एक अन्य शब्द **इडा** मिलता है।[२१] निघण्टु के अनुसार वैदिक सन्दर्भों में यह भोजन, पृथिवी, वाक् और गाय का बोधक शब्द है।[२२] इडा शब्द √ अद् (खाना) से व्युत्पन्न माना जाता है।[२३] इसके समकक्ष शब्द 'इड' भोजन के अर्थ में है या फिर वर्षा के अर्थ में, क्योंकि वह अन्न उत्पन्न करती है।[२४] एक दूसरा शब्द **ऊर्क्** खाद्य के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[२५] यास्क के अनुसार यह शब्द √ ऊर्ज् (बलवान् होना) से निष्पन्न है क्योंकि अन्न, बल और प्राण को देने वाला है।[२६] उक्त धातु के समकक्ष भारोपीय धातु ऊर्ग् (शक्ति से फूलना) इस व्युत्पत्ति को पुष्ट करती है।[२७] यास्क ने अन्य दो व्युत्पत्तियां क्रमशः √ पच् (पकाना) और √ व्रश्च् (काटना) से दी है, तदनुसार अन्न पकता है या फिर उगाकर आसानी से काटा जाता है।[२८]

ऋग्वेद में **इष** शब्द का प्रयोग यज्ञीय भोज्य पदार्थ के निमित्त दिखायी देता है।[२९] निघण्टु और निरुक्त में इसे अन्न-पर्याय बताया गया है।[३०] सायण और पाश्चात्य विद्वानों ने यह अर्थ स्वीकार किया है। एक ऋचा में ऐसा धन चाहा गया है, जो अन्न और शक्ति से युक्त हो।[३१] कर्मकाण्डीय टीकाकारों के अनुसार ऋग्वेद में भोजन के लिए दो शब्द हैं - इष और वाज।[३२] **परिंश** भी अन्न या भोजन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसका अभिधार्थ उस अन्न

से है, जो सब ओर से प्रसन्नता देता है।[३३] जल और भोजन के लिए ऋग्वेद की संहिता में प्राप्त **स्वधा** शब्द निघण्टु में तदर्थ में परिगणित हुआ है।[३४] इन्द्र स्वधापति हैं, क्योंकि वे अन्न और सोम के रक्षक हैं।[३५] इस शब्द को √ स्वध् या √ स्वद् से व्युत्पन्न माना जा सकता है। अधिक सम्भावना यही है कि दिव्य भोज्य या पेय (सोम) स्वधा से वाच्य रहे हैं।[३६] एक अन्य शब्द **अद्मन,** जो √ अद् (खाना) से व्युत्पन्न है, भोजन का वाचक है क्योंकि वह खाया जाता है।[३७]

ऋग्वेद में कुछ और शब्द भी यदा-कदा भोजन के अर्थ में प्रयुक्त हुए प्रतीत होते हैं। जिनमें वाज,[३८] चनस्,[३९] वयस्,[४०] प्रयस्[४१] आदि मुख्य हैं। यास्क के अनुसार ये भोजनवाचक शब्द हैं। उक्त शब्दों के व्युत्पत्ति- परक अर्थ और उनसे सम्बद्ध विवरणों द्वारा सुव्यक्त होता है कि ऋग्वैदिक आर्यों की दृष्टि में भोजन वह है– जो खाये जाने पर प्रसन्नता, शक्ति, पोषण और रक्षण प्रदान करता है। भोजन मनुष्यों में एक बहुचर्चित और महत्त्वपूर्ण सामग्री है, क्योंकि यह लोगों के बीच सामान्यतया सुना और सोचा जाता है। उत्तरवैदिक वाङ्मय में अन्न की प्रशंसा उसे 'सर्वौषध' कहकर की गयी है।[४२] अन्यत्र इसे पूजनीय बताया गया है, क्योंकि यह मनुष्य के सभी अवयवों को कार्यक्षम बनाता है।[४३] यहाँ तक कहा गया है कि भोजन के द्वारा मनुष्य अज्ञानता और बन्धनों से मुक्त हो जाता है।[४४]

२. अनाज और दाल

आज की तरह ही ऋग्वैदिक भोजन में भी अनाज का एक विशेष स्थान था। अनाजों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण **यव** था, क्योंकि उसका प्रायः उल्लेख हुआ है।[४५] बोथलिंक और रॉथ के कोश के अनुसार इसका अभिप्राय सामान्य रूप से धान्य (कौर्न) से है। परन्तु अधिकांश वैदिक विद्वानों ने इसे 'जौ' या साधारण अनाज के अर्थ में लिया है। ए. सी. दास के मत में 'यव' का अर्थ 'जौ' है, जो वैदिक आर्यों के द्वारा मुख्य अनाज के रूप में खेती द्वारा उत्पन्न किया जाता था।[४६] मन्त्र में कहा गया है कि 'वह मेरे लिए सोमों से युक्त छह ऋतुओं को बार-बार उसी तरह लाया, जिस तरह किसान बैलों से बार-बार खेत जोतता है।' यहाँ रूपक का यह निहितार्थ नहीं है कि यव को छह ऋतुओं में उगाया जाता था, परन्तु इसका सीधा अर्थ

है कि जैसे बैलों द्वारा जुताई से निश्चित रूप से जौ की फसल होती है, वैसे ही देवों के लिए सोम रस की आहुति या समर्पण से छह ऋतुओं को नियमित रूप से प्राप्त किया जा सकता है। सम्भवतः जौ की उत्तम कृषि तब होती थी, जब शिशिर ऋतु में भूमि वर्षा से थोड़ी नम होती है, ऐसा सङ्केत दो ऋचाओं में है।[४७] जौ का बोना,[४८] पकना[४९] और जोतना / काटना[५०] मन्त्रों में उल्लिखित है।

'यव' शब्द √ यु (अलग करना, रोकना, जोड़ना) से व्युत्पन्न है, अथर्ववेद[५१] और शतपथब्राह्मण[५२] इसमें प्रमाण हैं। जौ को 'यव' कहने का सम्भावित कारण यही है कि इसके दाने के दोनों भाग यद्यपि अलग-अलग दिखायी देते हैं, तथापि अलग न होकर जुड़े होते हैं। वर्तमान भारतीय विश्वास की तरह ही यव-धान्य को शत्रुओं, कीटों और दुष्प्रकृतियों के निवारण में समर्थ माना जाता था।[५३] अपने स्वाभाविक आकार-प्रकार के कारण यव अयुक्त रूप से संयुक्त ज्वालाओं वाले अग्नि की अच्छी उपमा सिद्ध होता है।

मोहेंजोदड़ो के अवशेषों में यव के नमूनों की उपलब्धि[५४] दर्शाती है कि ऋग्वैदिक काल में उस प्रदेश में इसका प्रयोग होता रहा था।[५५]

निश्चय ही प्रधान अनाज होने के कारण ऋग्वेद में 'यव' नाम दूसरे अनाजों के लिए भी सामान्यतया प्रचलित रहा होगा, जैसे उत्तरवैदिक ग्रन्थों में 'धान्य' का अर्थ केवल चावल न होकर दूसरे भोज्य अनाज भी हैं। प्रतीत होता है कि शौनक ने बृहद्देवता में 'यव' का प्रयोग उसके सामान्य अर्थ में ही किया है।[५६] वैदिक इण्डेक्स के लेखक उक्त विचार के समर्थक हैं, क्योंकि उनका प्रतिपादन है कि 'यव' ऋग्वेद में केवल 'जौ' के लिए नहीं, वरन् किसी भी अन्न के लिए प्रयुक्त जातिवाचक शब्द है। जौ का आशय कदाचित् अथर्ववेद में मिलता है और बाद में सर्वथा प्रचलित हो गया है।[५७]

यव देवताओं को समर्पित किया जाता था। स्तुतियों में यव के लिए देवताओं से विशेष प्रार्थनाएँ की गयी हैं। जौ और चावल को अथर्ववेद में द्यु के दो अमर्त्य पुत्र बताया गया है।[५८] ये दोनों ऋग्वैदिक आर्यों की मुख्य फसल के अङ्ग थे[५९]; एक शिशिर और वसन्त ऋतु में उत्पन्न होता था, तो दूसरा वर्षाऋतु में। **धान्य** शब्द का प्रयोग ऋग्वेदसंहिता में तीन बार हुआ है।[६०] इस नाम से चावल का ग्रहण समीचीन प्रतीत होता है। ए.

सी. दास ने व्याख्या की है– 'व्रीहि' शब्द चावल के अर्थ में ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होता है परन्तु 'धान्य' शब्द उस कमी की पूर्ति करता है। सम्भव है कि ऋग्वैदिक काल में पंजाब की जलवायु शीतल थी, इसलिए जौ का उत्पादन सरल और सफल कृषि का आधार रहा। परन्तु इसका यह अभिप्राय लेना कदापि उचित नहीं है कि तत्कालीन लोग न चावल को जानते थे और न उसकी खेती करते थे।[६१] चावल और दूध से तैयार विशेष उपक्रम 'क्षीरोदन' इस मत की पुष्टि करता है।[६२] ऋग्वेद के दो प्रसंगों में प्राप्त 'बीजम्' और 'धान्यम् के सह प्रयोग को सरलता से चावल के आशय में ग्रहण किया जा सकता है।[६३] यव की भाँति ही इस नाम से भी कभी-कभी कुछ कम महत्त्व के दूसरे अनाजों का ग्रहण सम्भव है। किन्तु ऋग्वैदिक जनों द्वारा चावल के उपयोग को पूर्णतया नकारना सम्भव नहीं है। कुछ विद्वान् अवश्य ही ऋग्वेद में चावल के उल्लेख के अभाव के पक्ष में है।[६४] कुछ पुरातात्त्विक निष्कर्षों ने, जिनमें माहेश्वर और नावदातोली के अवशेष प्रमुख हैं, सिद्ध किया है कि गेहूँ, चावल, मसूर, माष, अरहर, चना, मटर आदि का प्रयोग उन-उन प्रदेशों के लोगों द्वारा किया जाता था, १२०० ई. पू. के आसपास।[६५] अपरञ्च, चावल का वाचक 'व्रीहि' शब्द उत्तरवैदिक ग्रन्थों में प्रयुक्त हुआ है,[६६] और वहाँ चावल के कतिपय प्रकारों का उल्लेख भी उपलब्ध है।[६७]

किसी विशेष भोज्य अन्न या अनाज के लिए केवल बहुवचन में ही प्रयुक्त होने वाला एक अन्य शब्द **धाना** ऋग्वेद में कुछ बार प्राप्त होता है। ए. सी. दास ने उससे अनाज के दानों (Grains of corn) का तात्पर्य लिया है।[६८] सायणाचार्य के अनुसार ऋग्वैदिक मन्त्रों में इस नाम से 'भृष्ट यव' (भुना जौ) अभिप्रेत है।[६९] राहुल सांकृत्यायन के विचार में 'धाना' 'भुने हुए अनाज' को कहा गया है, आज भी उसे 'दाना' कहा जाता है।[७०] कुछ दूसरे विद्वान् भी इसे लगभग समान अर्थ (parched corn-grains) में ग्रहण करते प्रतीत होते हैं।[७१] तदर्थ में यास्क ने इसकी व्युत्पत्ति √धा (रखना) से की है, क्योंकि ये भाड़ में भूने जाते हैं या जौ फलक पर डाले जाते हैं, इसलिए 'धाना' कहलाते हैं।[७२] यह सम्भावना की जा सकती है कि ऋग्वैदिक आर्यों द्वारा भुने अनाज को 'धाना' कहा जाता था, परन्तु अनाजों में 'यव' का सर्वाधिक उपयोग किये जाने के कारण 'भुने यव' के लिए यह अपेक्षाकृत

अधिक प्रचलित नाम रहा। सूखा खाद्य होने से इसकी उपयोगिता यात्रा और प्रवास में अधिक थी।

गेहूँ के लिए 'गोधूम' नाम का प्रयोग दूसरे वैदिक ग्रन्थों में दिखायी देता है, किन्तु ऋग्वेदसंहिता में इस शब्द का अभाव है।[७३] अतः ऋग्वेद-कालीन भोजन में इसका उपयोग सन्दिग्ध है। दालों का उल्लेख इस संहिता में नहीं हुआ है, जबकि ऋग्वेदोत्तर ग्रन्थों में उनके सन्दर्भ प्राप्त होते हैं।[७४] अथर्ववेद में 'तिल' का उल्लेख है, विशेषकर उसके दानों का, जिनसे तेल निकाला जाता था।[७५] ऋग्वेद में तिल का कोई विवरण नही है।

उपर्युक्त विश्लेषण से विदित होता है कि ऋग्वैदिक आर्यों द्वारा ज्ञात भोज्य अनाजों में जौ और चावल का निश्चित और विशेष स्थान था।

३. अन्न से तैयार भोज्य पदार्थ

ऋग्वैदिक जन अपने भोजन में जौ और चावल से तैयार विविध भोज्य पदार्थों एवं उपकरणों का उपभोग करते थे। उसमें दूध (पयस्) की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी और दूध से बने हुए उत्पादों, जैसे घी और दही का विशेष महत्त्व था। प्रत्येक परिवार के पास अपनी गाएँ थीं और वे ऋषियों को उपहार में दी जाती थीं। मुख्य भोजन और यज्ञिय हवि जौ और चावल से तैयार की जाती थी, जिसमें दुग्ध-उत्पादों का सहयोग होता था।

ऋग्वेद[७६] और उत्तरवैदिक ग्रन्थों[७७] में **पुरोडाश** एक विशेष खाद्य सामग्री का नाम है, जिसे विशेष रूप के कपालों में रखकर देवताओं को समर्पित किया जाता था।[७८] शतपथब्राह्मण की निरुक्ति के अनुसार यह नाम पुरस् (आगे) और √ दास् (समर्पित करना) के संयोग से निष्पन्न हुआ है।[७९] चूंकि 'मनुष्य इसे आगे से समर्पित करते हैं, इसीलिए इसका नाम 'पुरोडाश' पड़ा है।[८०] जौ को पीस कर पिण्ड (केक) के आकार में जो वस्तु बनाते थे, उसे 'पुरोडाश' कहते थे।[८१] अनन्तर उसे पूरी तरह तैयार करने के लिए घी में डालते थे।[८२] एक दूसरे पके हुए खाद्य उपकरण **पक्ति** का भी ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है।[८३] सायण, महीधर और कीथ के अनुसार पक्ति एक प्रकार का 'पक्व पिण्ड' रहा है। परन्तु एक ऋचा में दोनों का एक साथ प्रयोग सुव्यक्त करता है कि पक्ति और पुरोडाश किसी समान उपकरण के वाचक नाम नहीं हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि 'पक्ति

एक द्रव उपकरण है, जो पुरोडाश को खाने के बाद खाया जाता था।[८४] शतपथब्राह्मण से ज्ञात होता है कि जौ और चावल के आटे से पक्व पिण्ड तैयार किये जाते थे।[८५]

धाना संज्ञक भुना अनाज भी एक खाद्य पदार्थ की तरह उपयोग किया जाता था। जिसमें दही, घी, सोमरस, जल या दूध को मिलाया जाता था।[८६] कुछ भुने हुए जौ के आटे में दधि या घी मिलाकर तैयार किये जाने वाले एक विशेष खाद्य को **करम्भ** कहते थे।[८७] यह आर्यों के पशुपालक देव पूषा को दिया जाता था, इसलिए अनुमानतः वैदिक जनों के आरम्भिक खाद्य उपकरणों में से एक था।[८८]

सक्तु का नाम ऋग्वेद में मात्र एक बार प्रयुक्त हुआ है।[८९] उत्तरवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों[९०] में इसका प्रयोग प्रायः दिखायी देता है। सक्तु भुने जौ के आटे से तैयार खाद्य सामग्री का वाचक है। कीथ और मैकडॉनल के अनुसार यह श्रेष्ठ अथवा महीन भोजन के विपरीत 'मोटे पिसे भोजन' का द्योतक है।[९१] ऋचा के अनुसार सक्तु को उपभोग से पूर्व चलनी (तितउ) से चाल कर साफ किया जाता था। यास्क ने 'सक्तु' शब्द की द्विविध व्युत्पत्तियाँ दी हैं। तदनुसार यह शब्द √षच् (लिपटना) से बनता है, क्योंकि यह कठिनता से शोधा जाता है; या फिर √ कस् (जाना) से विपरीत करके बना है, क्योंकि पानी डालने पर अधिक विकसित हो जाता है।[९२] राहुल सांकृत्यायन के मत में 'सक्तु' का ही नाम 'करम्भ' है।[९३]

ऋग्वैदिक आर्यों के पके भोजन के एक रुचिकर पदार्थ का नाम **अपूप** था।[९४] यह एक प्रकार का मीठा पक्वपिण्ड (केक) या मीठी गोल रोटी थी, जिसे जौ के आटे और घी से धीमी आँच पर पकाया जाता था।[९५] इसको मीठा करने के लिए इसमें शहद (मधु) मिलाते थे।[९६] अपूप को मीठे भारतीय भोजन के ज्ञात पदार्थों में प्राचीनतम माना जा सकता है। पके खाने की ही एक विशेष सामग्री का नाम **क्षीरोदन** था।[९७] सायण ने इसे 'पायसम्' के अर्थ में लिया है। यह एक प्रकार की खीर है, जिसे जौ या चावल के दानों को दूध में पका या उबाल कर बनाया जाता था। कुछ दूसरी खाद्य-सामग्रियाँ भी ओदन से बनायी जाती थी, जिनका उल्लेख उत्तरवैदिक ग्रन्थों में हुआ है, जैसे - दध्योदन, मुद्गौदन, माषौदन।

ऋग्वैदिक आर्य दूध के विशेष प्रेमी थे। दूध-उत्पादों का प्रयोग भी खाद्य के रूप में होता था। अनाज को दूध में पका कर या सोमरस के साथ दूध और जौ मिलाकर (यवाशिर, गवाशिर)[९८] रुचिकर खाद्य पदार्थ बनाये जाते थे। वे मधु को जानते थे[९९] और खाद्य पदार्थों में विशेष रूप से मीठा करने के लिए उसका प्रयोग करते थे। ऋग्वेद में गन्ने (इक्षु) का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है, लेकिन कुछ दूसरी संहिताओं में यह नाम मिलता है।[१००] ए. सी. दास के विचार में ऋग्वेद इक्षु से परिचित है।[१०१] यह भी महत्त्वपूर्ण टिप्पणी होगी कि लवण का कोई सन्दर्भ ऋग्वेद में अनुपलब्ध है, जबकि उत्तरवर्ती ग्रन्थों में यह प्राप्त होता है।[१०२] कीथ और मैकडॉनल की समीक्षा है कि 'यदि उस समय भारतीयों द्वारा अधिकृत क्षेत्र पंजाब और सिन्धु घाटी था, तो आरम्भिक काल में इस शब्द के प्रयोग को न पाना आश्चर्यजनक ही है, क्योंकि इन क्षेत्रों में लवण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। कल्पना की जा सकती है कि ऐसे क्षेत्र में जहाँ एक अनिवार्य वस्तु अत्यन्त सुलभ हो, वहाँ साहित्य में उसका उल्लेख उपेक्षित रह सकता है।[१०३] राहुल सांकृत्यायन ने ऋग्वेदकाल में नमक के उपयोग के प्रति सम्भावना व्यक्त की है।[१०४]

४. फल और शाक-सब्जी

फूलने और फलने वाले पेड़-पौधों का ऋग्वेदसंहिता में उल्लेख है।[१०५] वृक्ष पर आने वाले फलों का वाचक 'फल' शब्द ऋग्वेद में दो बार प्रयुक्त हुआ है।[१०६] प्रतीत होता है कि फल ऋग्वैदिक आर्यजनों के भोजन का एक विशेष भाग थे। स्वाभाविक रूप से पेड़-पौधों के उगने के लिए वातावरण उस अतिप्राचीन काल में पर्याप्त अनुकूल था, इसलिए स्वादिष्ठ और पुष्ट फल सरलता से मिलते रहे होंगे। तत्कालीन प्रकृति में फलों के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। वनों में कई भोज्य फलों की उत्पत्ति होती रहती थी, जैसा कि एक ऋचा में वनदेवता अरण्यानी से कहा गया है, 'अरण्यानी किसी की हिंसा नहीं करती और दूसरा भी कोई उस पर आक्रमण नहीं करता। मनुष्य उसके मधुर फलों का आहार करके अपने सुख के लिए इच्छानुसार वहाँ रहता है।[१०७] दूसरी ऋचा में इन्द्र से प्रार्थना है कि 'जिस प्रकार मनुष्य पके हुए फल वाले वृक्ष को हंसिया लेकर हिलाता

है, उसी प्रकार वह उपासक को इच्छापूर्ण करने वाला धन दे ।'[108] अश्वत्थ के **स्वादु पिप्पल** के उल्लेख से सङ्केत मिलता है कि वन जंगली बेरियों से भरे हुए थे ।[109] ऋग्वेद में फलों के विशेष नामों का विवरण अप्राप्त है। उत्तरवैदिक ग्रन्थों में विल्व, खर्जूर, आमलक आदि कतिपय नामों का उल्लेख है ।[110]

शाक-सब्जियों में ककड़ी (**उर्वारुक**)[111] और कमल-वृन्त (**बिस**)[112] का प्रयोग ऋग्वैदिक भारतीय जनों द्वारा भोज्य पदार्थों के रूप में किया जाता था । अथर्ववेद के अनुसार कमल की जड़ों का भोजन के रूप में उपयोग भी प्रचलित था ।[113]

५. कतिपय अन्य सङ्केत

ऋग्वैदिक काल में पुष्टिकारक और स्वास्थ्यवर्धक भोजन पर बल दिया जाता था । देवताओं से क्षीण न करने वाले, अपितु पुष्टिकारक अन्न की प्रार्थनाएँ की गयी हैं ।[114] उनका भोजन सादा और समृद्ध था, जिसमें अनाज, दूध, शहद, फल, मूल आदि सम्मिलित था। सभी निरामिष पदार्थ उसके प्रमुख भोज्य थे । ऋग्वेद में एक सम्पूर्ण सूक्त **पितु** अर्थात् पोषक अन्न को समर्पित है, जिसमें मांस के अतिरिक्त अन्य सब भोज्य पदार्थों का उल्लेख हुआ है।[115] अतः ध्यातव्य है कि शाकाहारी भोजन की महत्ता ऋग्वेद-काल में सुविदित थी । उत्तरवैदिक ग्रन्थों में मांसभक्षण के प्रति एक विरोध-भावना सी लगभग सर्वत्र दिखायी देती है।[116] ऋग्वेद में पेड़-पौधों की प्रशंसा ओषधियों को माता (अम्ब, माता) कहकर की गयी है।[117] सोम पौधे और सोम रस का निश्चित रूप से ऋग्वैदिक पेय और खाद्य पदार्थों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान था ।

सभी प्रकार के पके खाद्य को ऋचाओं में **पक्व** या **पचत** कहा गया है ।[118] पकाने से पहले सभी खाद्यान्नों को प्रायः पीसा और साफ किया जाता था । पत्थर से यव के दानों को पीसने वाली स्त्री के लिए 'उपलप्रक्षिणी'[119] विशेषण और चलनी के लिए 'तितउ' नाम के प्रयोग इस तथ्य के द्योतक हैं । अतिथि को भोजन खिलाना अच्छा माना जाता था। ऋग्वेद में अग्नि को 'अतिथि' कहा गया है ।[120] भूखे को भोजन दिये बिना खाना खाने वाले की निन्दा की गयी है ।[121] सम्भवतः आर्यजन भोजन-ग्रहण करने से पहले अन्न के प्रति प्रार्थना करते थे ।[122] एक उपमा से यह तात्पर्य लिया जा सकता है

कि भोजन बैठकर ही ग्रहण किया जाता था।[१२३]

उपर्युक्त विवेचन से ऋग्वैदिक आर्यों के जीवन में भोजन और भोज्य-सम्बन्धी व्यवहार का महत्त्व ज्ञात होता है। उत्तरवैदिक काल से क्रमशः भारतीय भोजन में कुछ परिवर्तन और संवर्धन होते गये, परन्तु यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भारत के ग्राम्य लोक-जीवन की भरण-पोषण-व्यवस्था आज भी मुख्य रूप से उसी ऋग्वैदिक परम्परा की अनुगामिनी है। ऋग्वेद में वर्णित खाद्य पदार्थ ही अधिकांश में आज जनसामान्य का भोजन हैं। ऋग्वैदिक भोजन के शाकाहारी पक्ष की इस विशद विवेचना से ऋग्वैदिक जनों की जीवन-पद्धति, कृषि, पशुपालन, आर्थिक स्थिति, प्राकृतिक सम्पदा और सांस्कृतिक चेतना से जुड़े कई सूक्ष्म पक्ष संयुक्त रूप से उभर कर सामने आते हैं, जो ऋग्वैदिक सभ्यता को एक सुविकसित और समृद्ध सभ्यता सिद्ध करते हैं।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. निघ. २/१०.
२. विश्वस्यामृत भोजन। ऋ. १/४४/५.
मा नः प्रिया भोजनानि। ऋ. १/१०४/८.
आर्द्रादा शुष्कं मधुमद् दुदोहिथ। ऋ. २/१३/६.
चित्रं ह यद् वां भोजनम्। ऋ. ७/६८/५.
सुभद्रमर्य भोजनं बिभर्षि। ऋ. ८/१/३४.
३. अन्नं कस्मात्? आनतं भूतेभ्यः अत्तेर्वा। नि. ३/६/५.
अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते। तै.उप. २/२; शत.ब्रा. ७/५/१/१३.
४. निघ. १/१२.
५. ऋ. १/१८७/१,२,३ इत्यादि.
६. ऋ.सा.भा. १/१८७/१.
७. पितुरित्यन्ननाम पातेर्वा पिबतेर्वा प्यायतेर्वा। नि. ६/२४.
८. महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना। ऋ. १/६१/७.
९. Macdonell, *A History of Sanskrit Literature,* Varanasi, 1965; p. 105; A.C. Das, *Rigvedic India,* Delhi, 1979, p. 88; Macdonell

and Keith, *Vedic Index of Names and Subjects*, Vol. I, p. 526; ऋ. १/६१/६-७, १/१३२/६, १/१८७/१, ६/२०/४ इत्यादि.

१०. सिनमन्नं भवति, सिनाति भूतानि । नि. ५/५; निघ. २/७; ऋ. २/३०/२, ३/६२/१.

११. ऋ. १/१५३/४, १/१४०/२.

१२. अन्ध इत्यन्ननाम आध्यानीयं भवति । नि. ५/१.

१३. आमत्रेभिः सिञ्चता मद्यमन्धः । ऋ. २/१४/१.

१४. ऋ. १/२८/७, १०/११५/३, Shri Aurobindo's *Vedic Glossary*, `Andhas'.

१५. तमोऽप्यन्ध उच्यते नास्मिन् ध्यानं भवति । अयमपि इतरोऽन्ध एतस्मादेव। नि. ५/१.

१६. Mantrini Prasad, *Language of the Nirukta*, Delhi, 1975, p. 416.

१७. Varma, *The Etymologies of Yaska*, Hoshiarpur, 1953, p. 24.

१८. ऋ. १/४०/४, ६/३७/३.

१९. श्रव अन्ननाम, श्रूयत इति सतः । नि. १०/३.

२०. Varma, *The Etymologies of Yaska*, pp. 38-39.

२१. ऋ. ३/५६/३, ७/१६/८ इत्यादि.

२२. निघ. २/७, १/१, १/११, २/११.

२३. सा (इडा) वै अत्ता भवति । शत.ब्रा. १/८/१/१२.

२४. अन्न वा इडः । ऐ.ब्रा. ३/४/६/१५; इडो यजाति वर्षाभिः । कौ.ब्रा. ३/४; शत.ब्रा. १/५/३/११.

२५. ऋ. ३/३/७, ८/१००/१०.

२६. ऊर्क् इत्यन्ननाम । ऊर्जयतीति सतः । नि. ३/८.

२७. Varma, *The Etymologies of Yaska*, p. 43.

२८. ऊर्क् पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा । नि. ३/८.

२९. ऋ. १/३/१, १/६/८, १/२७/७.

३०. निघ. २/७; नि. १०/४२/१.

३१. रयिं वीरवतीं इषम् । ऋ. ६/६१/६.

३२. Shri Aurobindo's *Vedic Glossary*

३३. यदपामोषधीनां परिंशमारिशामहे । ऋ. १/१८७/८.
३४. निघ. १/१२, २/७; ऋ. १/५१/५, १/६४/४, १/१०८/१२, १/१४४/२, ४/३३/६, ६/११३/१०.
३५. ऋ. ६/४४ /१,३.
३६. देवानां च पितृणां च स्वधैव च । बृ.दे. ८/११२;
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च । ऋ. ६/११४/१०.
३७. अद्मनान्नं भवति । नि. ४/१६ ; ऋ. १/५८/२.
३८. नि.२/७; ऋ. १/५/६; १/६१/१६,१८; नि. १०/३३/१.
३९. निघ. ४/३; नि. ६/१६; ऋ. १/३/६, १/२६/१०, १/१०७/३.
४०. निघ. २/७; नि. ६/४/११; ऋ. १/१०४/७, ५/१६/१.
४१. निघ. २/७; ऋ.३/५६/२.
४२. तै.उप. २/२.
४३. छा.उप. ७/६/१.
४४. छा.उप. ७/२६/१.
४५. ऋ. १/२३/१५, १/११७/२१, १/१३५/८, १/१७६/२, २/५/६, २/१४/११, ५/८५/३ इत्यादि.
४६. उतो स मह्यमिन्दुभिः षड् युक्ताँ अनुसेषिधत् ।
गोभिर्यवं न चर्कृषत् ।। ऋ. १/२३/१५.
४७. ऋ. २/५/६, ५/८५/३; Das, *Rigvedic Culture*, Delhi, 1979, p. 200.
४८. यवं वृकेणाश्विना वपन्ता । ऋ. १/११७/२१.
४९. यवो न पक्वः । ऋ. १/६६/३, १/१३५/८.
५०. यवं न चर्कृषद् वृषा । ऋ. १/१७६/२.
५१. अग्निर्यव इन्द्रो यवः सोमो यवः ।
यवयावानो देवा यावयन्त्वेनम् ।। अथर्व. ६/२/१३.
५२. त एतैः सर्वाः सपत्नानामोषधीरयुवत् । यदयुवत तस्माद्
यवा नाम । शत.ब्रा. ३/६/१/८,६.
५३. तै.सं. ६/४/१०/५; शत.ब्रा. ३/६/१/८,६.
५४. • Marshall, *Mohenjodaro and Indus Civilization*, Vol. I, p. 27.

५५. H. Chakraborty, *Socio Economic Life of India in the Vedic Period,* Calcutta, 1986, p. 169.

५६. कुरुक्षेत्रे यवाञ्जक्षुर् हवींषि विविधानि । बृ. दे. ६/५८.

५७. Macdonell and Keith, *Vedic Index of Name and Subjects* Vol. II, p. 187; अथर्व. २/८/३, ६/३०/१, ६/५०/१,२ इत्यादि.

५८. व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ । अथर्व. ८/७/२०.

५९. V. B. Misra, *From the Vedas to Manu Samhita- A Cultural Study,* Delhi, 1982, p. 5, 28;
विश्वेश्वरनाथ रेउ, *ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि*, बनारस, १९६७, पृ. १९४.

६०. ऋ. ५/५३/१३, ६/१३/४, १०/९४/१३.

६१. Das, *Rigvedic Culture,* p. 201.

६२. ऋ. ८/७७/१०.

६३. धान्यं बीजं वहध्वे अक्षितम् । ऋ. ५/५३/१३.
वपन्तो बीजमिव धान्याकृतः । ऋ. १०/९४/१३.

६४. रा. सांकृत्यायन, *ऋग्वेदिक आर्य,* १९५७, पृ. ४३; Priti Mitra, *Indian Culture and Society in the Vedas,* Calcutta, 1985, p. 84.

६५. *Journal of the Gujrat Res. Society,* Vol. XXI, No. 4/84- 'Culture of Maheshwara and Navdatoli' by H.D. Sankalia, p. 332.

६६. अथर्व. ६/१४०/२, ८/७/२०, ९/६/१४ ; तै.सं. ७/२/१०३; का. सं.१०/६,११/५; मै.सं., ३/१०/२; वा.सं. १८/१२; ऐ.ब्रा. २/८/७, ११/१२.

६७. तै.सं. १/८/१०; शत.ब्रा. ५/३/३/६; तै. सं. १/८/१०; बृह.उप. ६/३/२२ इत्यादि.

६८. ऋ. १/१६/२, ३/३५/३, ३/५२/५, ६/२९/४; Das, *Rigvedic Culture,* p. 201.

६९. ऋ. १/१६/२, ३/३५/३,७, ३/५२/१, ८/९१/२.

७०. रा. सांकृत्यायन, *ऋग्वेदिक आर्य,* पृ. ४४.

७१. Varma, *The Etymologies of Yaska,* p. 70; Suryakanta, *Vedic*

Dictionary, Delhi, 1981, p. 363.

७२. धाना भ्राष्ट्रे हिता भवन्ति । फले हिता भवन्तीति वा । नि. ५/१२.

७३. वा.सं. १८/१२, १९/२२, २१/२९;
शत.ब्रा. १२/७/१/२, ५/२/१/६.

७४. **माष** - वा.सं. १८/१२; तै.सं. ५/१/८/१; मै.सं. ४/३/२, अथर्व. १२/२/५३.
मुद्ग - वा.सं. १८/१२.
मसूर - वा.सं. १८/१२; बृह.उप. ६/३/२२.
कुल्माष - छा.उप. १/१०/२.

७५. अथर्व. २/८/३, ६/१४०/२, १८/३/६६, १८/४/३२; वा.सं. १८/१२.

७६. ऋ. ३/२८/२, ३/४१/३, ३/५२/२, ४/२४/५, ६/२३/७, ८/३१/२ इत्यादि.

७७. अथर्व. ६/६/१२, १०/९/२५, १२/४/३५; तै. सं. २/३/२/८, ७/१/९/१; वा.सं. १९/८५, २८/२३ इत्यादि.

७८. ऋ. ३/२८/२, ३/४१/३, ६/२३/७, ७/१८/६.

७९. तस्मात् पुरोदाशः पुरोदाश पुरोदाशो हवै नामतद्यत्पुरोडाश इति । शत. ब्रा. १/५/१/३,५; १/६/२/५; ऐ. ब्रा. २/२३.

८०. पुरोडाशं पुरस्ताद् दातव्यम् । ऋ.सा.भा. १/१६२/३.

८१. व्रीहिमयः पुरोडाशो भवति । मै. सं. ३/१०/२.
पक्वः पिष्टपिण्डः पुरोडाश इत्युच्यते । ऐ.ब्रा.सा.भा. १/१/२/९.

८२. पुरोडाशावाज्येनाभिधारितौ । अथर्व. १०/९/२५.

८३. ऋ. ४/२४/५, ७, ४/२५/६, ७, ६/२९/४.

८४. आदित् पक्तिः पुरोडाशं रिरिच्यात् । ऋ. ४/२४/५;
Om Prakash, *Economy and Food in Ancient India*, Vol. II, Delhi, 1987, p. 59.

८५. शत.ब्रा. २/२/३/१२, १३.

८६. ऋ. ३/३५/७; तै. सं. ६/५/११/४; अथर्व. १८/४/४३.

८७. करम्भं दधिमिश्रं सक्तुम् । ऋ.सा.भा. ३/५२/७

करम्भो दधिमिश्राः सक्तवः । ऋ.सा.भा. ३/५२/१.
घृतसिक्तं सक्त्वात्मकं हविः । ऋ.सा.भा. ६/५७/२.

८८. करम्भादिति पूषणम् । ऋ. ६/५६/१; Das, *Rigvedic Culture,* p. 202.; ऋ. १/१८७/१६, ३/५२/७, ६/५७/२, ८/१०२/२; धानावन्तं करिम्भणमपूपवन्तमुक्थिनम् । ऋ. ३/५२/१, ८/९१/३.

८९. सक्तुमिव तितउना पुनन्तः । ऋ. १०/७१/२.

९०. वा.सं. १९/२१; तै.सं. ६/४/१०/६; का.सं. १५/२; शत. ब्रा. १/६/३/१६, ९/१/१/८, १२/९/१/५.

९१. Keith and Macdonell, *Vedic Index of Names and Subjects* Vol., II, p. 415.

९२. सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति । कसतेर्वा स्याद् विपरीतस्य विकसितो भवति । नि. ४/९/१;
Varma, *The Etymologies of Yaska,* p. 66, 84.

९३. रा. सांकृत्यायन, ऋग्वेदिक आर्य, पृ. ४४-४५.

९४. ऋ. ३/५२/१, ७, ८/९१/२, १०/४५/९.

९५. यस्ते अद्य कृणवद् भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने । ऋ. १०/४५/९.

९६. अपूपवान् मधुमांश्चरुरेह सीदतु । अथर्व. १८/४/२२.

९७. भिनत् कनीन ओदनं पच्यमानं परो गिरा । ऋ. ८/६९/१४.
शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनम् । ऋ. ८/७७/१०.

९८. ऋ. २/२२/१, २/४१/१, ३, ८/९२/४ इत्यादि.

९९. ऋ. ४/४३/५, ४/४५/३, १०/२४/६, १०/१०६/१०.

१००. अथर्व. १/३४/५, १२/२/५४; मै.सं. ३/७/९; वा.सं. २५/१, तै.सं. ३/८.

१०१. ऋ. ९/८६/१८; Das, *Rigvedic Culture,* p. 207.

१०२. अथर्व. ७/७६/१; शत. ब्रा. ५/२/१/१६; बृह. उप. २/४/१२.

१०३. Keith and Macdonell, *Vedic Index,* Vol. II, p. 230.

१०४. रा. सांकृत्यायन, *ऋग्वेदिक आर्य,* पृ. ४४.

१०५. ऋ. ६/४९/१४, ७/३४/२३, ७/३५/५७, १०/९७/१.

१०६. ऋ. ३/४५/४, १०/१४६/५.

१०७. न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति ।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं निपद्यते ।। ऋ. १०/१४६/५.

१०८. वृक्षं पक्वं फलमङ्कीव धूनुहि । ऋ. ३/४५/४.
Muir, *Original Sanskrit Texts,* Vol. V, London, 1872, p. 107.

१०९. तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति । ऋ. १/१६४/२०.

११०. Om Prakash, *Economy and Food in Ancient India,* Vol. II, p.78.

१११. उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् । ऋ. ७/५९/१२.

११२. इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत् । ऋ. ६/६१/२.

११३. अथर्व. ४/३५/५, ८/१०/२९,३०.

११४. आ नः सोम संयन्तं पिप्युषीमिषम् । ऋ. ९/८६/१८.

११५. यदपामोषधीनां परिंशमारिशामहे ।
यत्ते सोम गवाशिरो यवाशिरो भजामहे ।।
करम्भ ओषधे भव पीवो वृक्क उदारथिः । ऋ. १/१८७/८,९,१०.

११६. Om Prakash, *Economy and Food in Ancient India,* Vol. II, p. 73.

११७. ऋ. १०/६७/२, ४.

११८. ऋ. ६/६३/९, १/६१/७, १०/११६/८.

११९. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना । ऋ. ९/११२/३.

१२०. ऋ. १/५१/६, १/११२/१४, ४/४७/२२.

१२१. केवलाघो भवति केवलादी । ऋ. १०/११७/६.

१२२. स्वादो पिता मधो पिता वयं त्वा ववृमहे ।
अस्माकमविता भव ।। ऋ. १/१८७/२.

१२३. नि पर्वता अद्मसदो न सेदुः । ऋ. ६/३०/३;
तु. - ऋ. ७/८३/७, ८/४३/१९, ८/४४/२९ इत्यादि.

* * *

आभूषण और हड़प्पा-सभ्यता

सिन्धु और उसकी सहायक नदियों के तट पर पुरातत्त्वविदों द्वारा खोजे गये अवशेषों से वहाँ सम्पूर्ण साक्ष्यों के साथ जिस विस्तृत सभ्यता की उपलब्धि हुई, उसे प्रारम्भ में सर जॉन मार्शल ने 'सिन्धु-सभ्यता' नाम दिया, किन्तु अनन्तर पुरातत्त्व-परम्परा के आधार पर प्रथम ज्ञात स्थल 'हड़प्पा' के कारण वह 'हड़प्पा-सभ्यता' कहलाई । यह सभ्यता सिन्धु नदी को केन्द्रित कर के विकसित हुई थी । हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो-इसके महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे । उत्खननों से इस सभ्यता के नगरविन्यास और स्थापत्यकला पर विशेष प्रकाश पड़ता है । मूर्ति, मुद्रा, मृद्भाण्ड, युद्धोपकरण आदि से सम्बद्ध अवशेषों द्वारा हड़प्पावासियों के रहन-सहन, खानपान, धर्म, विश्वास और मान्यताओं के सङ्केत मिलते हैं, जो उस सभ्यता की उन्नत दशा के संसूचक हैं । किन्तु हड़प्पा-सभ्यता का सम्बन्ध किस संस्कृति से रहा ? अथवा हड़प्पा-सभ्यता किन लोगों की थी ? - इस विषय में विद्वानों में अनेक मत हैं ।

दूसरी तरफ विश्व की प्राचीनतम साहित्यिक निधि 'वैदिक वाङ्मय' हमारे समक्ष एक सुविकसित प्राचीन संस्कृति का भव्य चित्र उपस्थित करता है, जो सभी दृष्टियों से पूर्ण एवं अनुपम है और जिसे वर्तमान भारतीय संस्कृति का मूल माना जाता है । अनेक विस्तृत और सूक्ष्म तथ्यों को प्रत्यक्ष किंवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत करने वाले ऋग्वेद से ही वैदिक आर्यों के सांस्कृतिक चिन्तन और आचार-विचार का विशद परिचय मिलता है। उससे वैदिक संस्कृति की व्यापकता और महनीयता सुव्यक्त होती है । परन्तु वैदिक आर्यों का उद्गम या मूलदेश विद्वानों में मतभेद का विषय है । आर्यों के मूल भौगोलिक क्षेत्र के सम्बन्ध में अनिर्णय के कुछ सार्थक कारण माने जाते

हैं । उनके आधार पर कई पाश्चात्य विद्वानों ने आर्यों को किसी बाहरी देश से भारत में प्रवास करने वाला बताया है । कतिपय भारतीय विद्वानों ने उस मत का खण्डन करके आर्यों को 'सप्तसिन्धव' का मूल निवासी सिद्ध किया है ।[१] ऋग्वेद में 'सप्तसिन्धु' की महिमामयी चर्चा है,[२] जिससे उस क्षेत्र के प्रति वैदिक आर्यों के स्वाभाविक आकर्षण और आसक्ति-भाव का ग्रहण किया जाना चाहिए । सिन्धु और सरस्वती के तट पर आर्यों की बस्तियाँ थी और ऋषियों के तपोवन । यहीं उन्होंने मन्त्रों का प्रणयन किया और यहीं आर्य-संस्कृति का विकास हुआ । इसी सप्त-सिन्धव प्रदेश में उनकी सभ्यता फूली और फैली । उनके रहन-सहन, खानपान, परिधान, आभूषण, निवास आदि भौतिक और लौकिक विषयों से सम्बद्ध प्रकीर्ण सामग्री भी ऋचाओं में समीक्षात्मक दृष्टि से प्राप्त की जा सकती है । इससे प्रमाणित होता है कि सुविदित वैदिक संस्कृति के समान वैदिक सभ्यता भी अपनी पराकाष्ठा पर थी । अविनाशचन्द्र दास का निश्चित मत है कि ऋग्वेदकालीन लौकिक कलाएँ किसी विदेशी कला-कौशल से प्रभावित नहीं थी, क्योंकि उस समय एशिया या योरोप में कोई भी प्राचीन जाति इतनी विकसित नहीं थी, जितनी कि वैदिक आर्य-जाति । बाह्य दुनिया से सर्वथा पृथक् होकर अपने ही सन्साधनों पर निर्भर रहकर, अपने द्वारा विकसित मानसिक और नैतिक मूल्यों के अनुकूल एक ऐसी अनुपम सभ्यता का प्रादुर्भाव और विकास करना - जिसके समकक्ष कोई भी सभ्यता संसार के किसी भी भाग में प्राप्त नहीं होती है - सचमुच आश्चर्यजनक है ।[३]

हड़प्पा सभ्यता और वैदिक सभ्यता के विस्तार का प्रमुख भौगोलिक क्षेत्र लगभग समान है । हड़प्पा सभ्यता के केवल लौकिक अवशेष उपलब्ध हैं, तो वैदिक सभ्यता के मात्र साहित्यिक स्रोत 'वेद' । एक का सभ्यता-पक्ष अधिक सुव्यक्त होता है, तो दूसरे का संस्कृति-पक्ष अपेक्षाकृत प्रधान हैं, यद्यपि उसका सभ्यता-पक्ष क्षीण नहीं है । अनेक आधुनिक विद्वानों ने मार्शल के प्राचीन दृढ़ मत कि 'सिन्धु सभ्यता के निर्माता वैदिक आर्यों से अशेषतः भिन्न थे, क्योंकि दोनों जातियों की सभ्यताओं में आकाश-पाताल का अन्तर है'-[४] का खण्डन किया है । इतिहास-वेत्ता विद्वान् अब इस निष्कर्ष की ओर अभिमुख हो रहे हैं कि वैदिक सभ्यता ही हड़प्पा-सभ्यता रही, दोनों में किसी

प्रकार का अन्तर नहीं है ।[५] यहाँ उक्त निष्कर्ष के परिप्रेक्ष्य में ही हड़प्पा-सभ्यता के पुरातात्विक साक्ष्यों और ऋग्वेदसंहिता के मन्त्रों के आलोचनात्मक विश्लेषण के आधार पर तुलनात्मक दृष्टि से दोनों सभ्यताओं में प्रचलित 'आभूषण' अध्येय हैं ।

ऋग्वैदिक मन्त्रों के प्रणयन-काल में वैदिक आर्य सभ्यता और रहन-सहन की दृष्टि से पर्याप्त उन्नत हो चुके थे, उनके परिधान और आभूषण ही इसका प्रबल प्रमाण हैं । यहाँ पूषन् **वासो वायः** अर्थात् वस्त्र बुनने के लिए प्रशंसनीय हैं,[६] तो दूसरे कई देवता कढ़े (पेशस्) हुए और स्वर्ण से अलंकृत परिधान धारण करने वाले बताये गये हैं ।[७] सभी वैदिक जन वेशभूषा के समान ही अलंकरण के भी प्रेमी थे । **आभूषेण्यम्** [८] जैसे प्रयोग इस तथ्य के द्योतक है । अलंकरण की प्रवृत्ति के लगभग समान होने पर भी स्त्री और पुरुषों के आभूषणों में पर्याप्त अन्तर था । ऋग्वेदसंहिता में आभूषणों की सामान्य चर्चा के अतिरिक्त कुछ विशेष आभूषणों के नाम भी प्राप्त होते हैं । उनके विशिष्ट स्वरूप को जानना यद्यपि कठिन है, तथापि वे शरीर के किस अङ्ग में धारण किये जाते थे, इसका अनुमान सुकर है । हड़प्पा-सभ्यता में उपलब्ध मानव-मूर्तियों के अध्ययन से उस सभ्यता के निवासी जनों के परिधान, केशविन्यास और आभूषणों की जानकारी मिलती हैं । वस्त्रों की तुलना में आभूषणों की स्थिति का अधिक ज्ञान हो पाता है । यहाँ स्त्री और पुरुषों में समान रूप से आभूषणों के प्रचलन और प्रेम का अनुमान लगाया जा सकता है । जिनको आभूषण पहने दिखाया गया है, वे उपलब्ध स्रोत हैं - कुछ पत्थर की प्रतिमाएँ (फ० IX; X;2), कांस्य प्रतिमा (फ० X, I), मृण्मूर्तियाँ (फ० XI, XII) ।[९] उत्खननों में प्राप्त होने वाली पुरुष-मूर्तियों की संख्या अधिक नहीं है; जो हैं भी, वे अधिकतर मस्तक अथवा अधोभाग से खण्डित हैं । अतः पुरुषों द्वारा व्यवहृत आभूषणों की जानकारी अधूरी हो सकती है। नारी मृण्मूर्तियाँ (फ० XI, XII), जिनको मातृदेवी के रूप में पहचाना गया है, विपुल आभूषणों और वस्त्रों से सज्जित प्रतीत होती हैं । वे सिर, कान, कण्ठ, भुजा, कटि और पाँवों के आभूषण पहने दिखायी गयी हैं, जो आकार और आकृति में विविधता से सम्पन्न हैं । खुदाईयों में प्रायः सिन्धु-सभ्यता के सभी स्थलों से समूचे और खण्डित भाग वाले आभूषण मिले हैं, जिनसे

वहाँ के लोगों की आभूषणों के विषय में रुचि और कारीगरों की कार्य-कुशलता का परिचय मिलता है। ये आभूषण सोना, चाँदी और अर्ध-बहुमूल्य पत्थरों से बने हुए हैं। आभूषण सौन्दर्य-वर्धन के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोजन से भी धारण किये जाते थे - यह कहना कठिन है, किन्तु कुछ आभूषणों पर धार्मिक चिह्न अवश्य दिखायी देते हैं। सिर से लेकर पैर तक के विविध आकार-प्रकार के और विविध वस्तुओं से गढ़े गये आभूषणों की उपलब्धि हड़प्पावासियों के आभूषण-प्रेम के प्रबल प्रमाण हैं।[१०]

ऋग्वेद में आभूषण-सम्बन्धी सामग्री प्रभूत है। यहाँ **हिरण्यैः** शब्द साधारणतया स्वर्ण तथा स्वर्ण के अलंकारों के हेतु व्यवहृत हुआ है।[११] सङ्केत मिलता है कि वधू विवाह के समय विविध आभूषणों को धारण करती थी और अलंकार प्रायः स्वर्ण के बनते थे। वैदिक इण्डेक्स के विवरण के अनुसार 'चन्द्र' स्वर्ण होना चाहिए,[१२] जबकि यह 'चांदी' के अर्थ में सरलता से ग्रहण किया जा सकता है। स्वर्ण और हिरण्य[१३] के अतिरिक्त 'रजत' शब्द[१४] भी धातु-विशेष का बोधक है, किन्तु इसका प्रयोग रथ के सम्बन्ध में हुआ है। सर्वाधिक महत्त्व 'हिरण्य' को दिया गया है। इसे 'आनन्ददाता' बताया गया है और रथ तथा आभूषणों से इसका निश्चित सम्बन्ध सिद्ध होता है।[१५] सिन्धु को 'हिरण्ययी' और 'हिरण्यवर्तनी' कहने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शायद उस काल में इस धातु को सिन्धु की बालू से प्राप्त किया जाता था।[१६] यद्यपि स्वर्ण को पृथिवी से खोदकर निकलने के सङ्केत भी ऋचाओं में मिलते हैं।[१७]

स्वर्ण या हिरण्य से आभूषण कैसे बनते थे - इस प्रक्रिया के किसी स्पष्ट सङ्केत का मन्त्रों में अभाव है। मैकडॉनल और कीथ ने कुछ मन्त्रों के आधार पर स्वर्ण को अग्नि में पिघलाने और पीटकर आकार देने इत्यादि की बात अवश्य की है।[१८] आभूषण बनाने के लिए स्वर्ण आदि धातुओं के अतिरिक्त 'रत्न'[१९] और 'मणि'[२०] का प्रयोग भी रहा होगा-ऐसा अभिप्राय मन्त्रों से लेना सम्भव है। मणियों को सूत्र में पिरोकर माला बनायी जाती थी, **हिरण्यकर्णं मणिग्रीवम्** –मन्त्रांश इसी आशय को व्यक्त करता है। रत्नों में एक विशेष रत्न मोती का द्योतक **कृशन** शब्द ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है। यह सप्तसिन्धव प्रदेश में पर्याप्त मात्रा में मिलता था, तभी सविता के रथ

को अलंकृत करने[२१] और साथ ही घोड़ों को अलंकृत करने[२२] के लिए इस नाम का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार आभूषणों के लिए प्रयुक्त सामग्री की दृष्टि से हड़प्पावासियों और वैदिक जनों के स्रोतों में पर्याप्त समानताएँ हैं। दोनों सभ्यताओं में आभूषण बनाने की प्रक्रिया क्या रही होगी- यह अनुमान पर ही आधृत है।

१. सिर के आभूषण

ऋग्वेद में कुछ शब्द ऐसे मिलते हैं, जिनसे पुरुषों के मस्तक पर धारण करने वाले आभूषणों की सम्भावना की जाती है। **स्तूप**[२३] शब्द को कीथ और मैक्डॉनल ने यद्यपि शिखा की गांठ या मस्तक का जूड़ा अर्थ में ग्रहण किया है,[२४] तथापि रायगोविन्द चन्द्र का अनुमान है कि 'यह शब्द पुरुषों द्वारा मस्तक पर धारण किये जाने वाले आभूषण का द्योतक है। यह प्रायः स्वर्ण का होता था और उसी प्रकार का रहा होगा - जैसा मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा से प्राप्त हुआ है। यदि यह स्वर्ण का न होता तो इसमें से निकलती हुई चमक की सूर्य की स्वर्णरूपी किरणों से उपमा न दी गयी होती। इसी प्रकार की टोपी हम हिटाईट देवताओं के मस्तकों पर भी पाते हैं (फलक १ ख) तथा एक हरियन घुड़सवार के मस्तक पर भी (फलक २)। ये दोनों जातियां आर्य थीं और सम्भव है कि यह शब्द इसी प्रकार के आभूषण का द्योतक रहा हो।'[२५] एक दूसरा शब्द **शिप्र** विद्वानों द्वारा विविधतया व्याख्येय है, ओठ (गेल्डनर), मूँछ (जिम्मर), नासिका (सायण), पगड़ी (मोनियर विलियम्स), शिरस्त्राण (स्कन्दस्वामी), कवच या शिरस्त्राण (सातवलेकर) आदि के अर्थ में इसको यथास्थान ऋचाओं में ग्रहण किया गया है। रुद्र के 'सुशिप्रः' अर्थात् उत्तम शिप्र से युक्त[२६], ऋभुगण के 'अयः शिप्राः' अर्थात् अयस् (लोहा[२७] या तांबा[२८]) से बने शिप्र से युक्त,[२९] मरुद्गण के 'हिरण्यशिप्राः' अर्थात् स्वर्णिम शिप्र से युक्त,[३०] आदि विशेषणपदों से प्रकट होता है कि 'शिप्र' धातु की बनी कोई वस्तु रही है। रायगोविन्द चन्द्र के विचार में यह धातु का बना कोई सिर का आभूषण था, जो टोपी के सदृश आकार का रहा होगा। इसे हिरण्य का बना मुकुट भी मान सकते हैं।[३१] इसी प्रकार के टोपीनुमा मुकुट[३२] सिन्धु घाटी से प्राप्त मृन्मय मूर्तियों के मस्तकों पर दिखायी देता है, यद्यपि वह 'शिप्र' ही है, ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसी

प्रकार का शिरस्त्राण की भाँति का लम्बा मुकुट हिटाईट के एक सैनिक के मस्तक पर दिखायी देता है।[३३]

वैदिक जन अपने मस्तक पर मुकुट में ही फँसा कर कभी-कभी शृङ्ग भी धारण किया करते थे। ऐसा अनुमान 'हिरण्यशृङ्गः' और 'शृङ्गवृषः' जैसे इन्द्र के लिए प्रयुक्त हुए विशेषणपदों के आधार पर किया जाता है।[३४] रायगोविन्द चन्द्र की धारणा है कि **शृङ्ग** भी वैदिक पुरुषों के मस्तक का आभूषण था, जो कदाचित् लड़ाई के समय धारण किया जाता था। इसी प्रकार के सींग लगे मुकुट मोहेंजोदड़ो से प्राप्त दो चेहरों पर भी दिखायी देते हैं।[३५] इसी प्रकार सींग लगी हुई टोपियाँ हमें हिटाईट के देवताओं के मस्तकों पर दिखायी देती हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इस प्रकार की टोपियाँ ही आर्य लोग भी पहनते थे।[३६]

वैदिक स्त्रियाँ निश्चित रूप से सिर और मस्तक पर आभूषण धारण करती थी। कतिपय विद्वानों ने **कुरीर** और **ओपश** शब्दों को स्त्रियों के सिर के आभूषणों का द्योतक माना है।[३७] यद्यपि इनके स्वरूप के विषय में निर्विवाद रूप से कहना कठिन है। यह दोनों शब्द ऋग्वेद के एक मन्त्र में एक साथ प्रयुक्त हुए हैं, जहाँ सूर्याविवाह के प्रसंग में वधू के शृङ्गार का प्रकरण है-'स्तोम प्रतिधियाँ थे, छन्द थे कुरीर और ओपश। सूर्या के वर दोनों अश्विनूकुमार थे और अग्रगामी अग्नि था।[३८] 'कुरीर' शब्द अथर्ववेद और यजुर्वेद में भी प्राप्त होता है।[३९] गेल्डनर ने इससे 'शृङ्ग'[४०] और मोनियर विलियम्स ने 'स्त्रियों के मुकुट'[४१] का अर्थ लिया है। कदाचित् कुरीर सिर पर 'मौर' की भाँति धारणीय कोई आभूषण रहा होगा, जिससे वैदिक स्त्रियाँ अपने को सजाती थी। मोरपंख की भांति मस्तक पर सीधा खड़ा एक आभूषण हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों के उत्खननों में प्राप्त स्त्री-मूर्तियों के सिर पर भी दिखायी देता है।[४२]

स्त्रियों के सिर के आभूषण के लिए दूसरा शब्द 'ओपश' ऋग्वेद के एक मन्त्र में मस्तक के चारों ओर लपेट कर पहले जाने वाले आभूषण का अर्थ देता प्रतीत होता है। मन्त्र में कहा गया है,- 'इन्द्र अपने बल के समान भूमि को अपने भीतर समेटता है, वह ओपश की भांति द्यौ को (चारों ओर से) धारण करता है।'[४३] यजुर्वेद में सिनिवाली के आभूषणों में कुरीर के साथ

'ओपश' शब्द भी मिलता है।[४४] इसी प्रकार अथर्ववेद में भी कुरीर के साथ 'ओपश' शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है।[४५] इस प्रकार का शिरोवेष्टन हड़प्पा-सभ्यता की मूर्तियों के मस्तकों पर भी दिखायी देता है[४६] तथा आभूषणों के रूप में भी वहाँ से प्राप्त हुआ है।[४७] सम्भवतः कुरीर और ओपश वैदिक स्त्रियों द्वारा एक साथ भी व्यवहार में लाये जाते थे। इन दोनों आभूषणों को धारण किये हुये एक मृण्मय मूर्ति हड़प्पा-सभ्यता में भी प्राप्त हुई है।[४८]

२. कान के आभूषण

ऋग्वेद में कानों के आभूषणों के सन्दर्भ अल्पतया प्राप्त होते हैं, तथापि वे ठीक उसी तरह प्रचलित दिखायी देते हैं, जैसे हड़प्पा के अवशेषों में है।[४६] ऋग्वेद में **कर्णशोभना** शब्द का प्रयोग हुआ है, जहाँ इन्द्र से कहा गया है, 'हे शत्रुनाशक धनसम्पन्न इन्द्र ! हमें बहुत से कानों के आभूषण ला दो।'[५०] मन्त्रों से कानों के आभूषणों का स्वरूप ज्ञात नहीं होता है। निश्चित रूप से वे स्त्री और पुरुष दोनों द्वारा धारण किये जाते थे एवं स्वर्ण से बनाये जाते थे, सम्भवतः वे कुण्डल के आकार के थे, इसका सङ्केत अवश्य उपलब्ध है।[५१] मैत्रायणी संहिता में प्राप्त 'प्रावेप' शब्द[५२], अथर्ववेद में प्राप्त 'प्रवर्त' शब्द[५३], तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मणों में प्राप्त 'प्राकाश' शब्द[५४] –विद्वानों द्वारा कर्णाभूषणों के वाचक माने गये हैं।[५५] ये कुण्डल या गोलबालियों की आकृति के प्रतीत होते हैं। कानों में गोल–बालियाँ पहने पुरुषों और स्त्रियों की मूर्तियां हड़प्पा-सभ्यता से लेकर गुप्तकाल तक मिलती हैं। हड़प्पा-सभ्यता में कर्णाभरणों के सम्बन्ध में उपलब्ध विवरणों के अनुसार 'हड़प्पा-सभ्यता में सामान्यतया दोनों कानों में एक तरह का ही आभूषण पहना जाता था। मोहेंजोदड़ो की कुछ नारी मृण्मूर्तियों में दोनों कानों में अलग-अलग तरह का आभूषण दिखाया गया है। स्त्रियों के कर्णाभरण कई तरह के होते थे। कुछ कर्णफूल में पत्ती सा किनारा है। कानों में बालियाँ पहनने के सङ्केत सर्वाधिक हैं, क्योंकि तांबे, कांसे और चांदी की बालियाँ अवशेष रूप में मिली है।'[५६]

३. गले के आभूषण

ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में ग्रीवा के आभूषणों में विशेषतया मालाओं का स्पष्ट सङ्केत है। विश्वेदेवा से प्रार्थना है कि 'वे कानों में सोने के आभूषण

पहने हुए और गले में मणियों को पहने हुए सुन्दर रूप वाले पुत्र को दें।'[५७] अन्यत्र ऋत्विजों या मनुष्यों को 'स्वर्ण के अलंकारों को कण्ठ में धारण करने वाला' बताया गया है।[५८] **मणिग्रीवः** और **निष्कग्रीवः** विशेषणपदों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनको पुरुष भी समान रूप से धारण करते थे। **निष्क** की ऋचाओं में बहुशः चर्चा है। यह एक मुद्रा भी रही है, अतः अनुमान लगाया जा सकता है कि वे आकार में गोल होते थे और उनको जोड़कर माला रूप में गले में पहना जाता था।[५९] एक मन्त्र में असुर (राजा) द्वारा कक्षिवान् के १०० निष्कों (की माला) को प्राप्त करने का उल्लेख है,[६०] तो अन्यत्र रुद्र देव को निष्क धारण करने वाला बताया गया है।[६१] वक्षस्थल पर पहने जाने वाला और सम्भवतः गोल आकार का एक और स्वर्णिम आभूषण ऋग्वेद में बहुचर्चित है, जिसे **रुक्म** नाम दिया गया है।[६२] 'रुक्मवक्षस्' पद से उसको वक्ष पर धारण करना निश्चित होता है।[६३] इसलिए जब केवल 'रुक्म' शब्द का मरुतों के सन्दर्भ में उल्लेख हुआ है, तब भी स्वर्णिम हार ही ग्रहणीय है।[६४] शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त 'रुक्मपाश'[६५] पद से अनुमान लगाना समीचीन होगा कि 'रुक्म' को पाश या सूत्र की सहायता से गले से लटकाकर वक्षस्थल पर पहना जाता था। गले से पहने जाने वाली मालाएं मणियों की तो बनती ही थीं, 'मणिग्रीव' शब्द इसका प्रमाण है। तब सम्भव है मणियों में छेद करके उन्हें मालाकार दिया जाता हो। परन्तु मणियों के साथ स्वर्ण का प्रयोग करके भी ग्रीवा का अलंकार बनाने का सङ्केत है। वृत्र के अनुयायी 'हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः' अर्थात् स्वर्ण और मणियों से शोभायमान कहे गये हैं।[६६] अथर्ववेद और ब्राह्मणों में मणियों का महत्त्व सर्वोपरि दिखता है। ऋग्वेद में हार के लिए **स्रज्** शब्द भी प्रचलित है। पुष्करस्रज् वह माला थी, जो मुख्यरूप से पुरुषों द्वारा पहनी जाती थी और सोने या फूलों से बनती थी।[६७]

हड़प्पा-सभ्यता के प्राप्त अवशेषों के आधार[६८] पर ज्ञात होता है कि तत्कालीन लोगों में कण्ठ-भूषणों का प्रचलन पराकाष्ठा पर था। वहाँ के हारों में रोचक विविधता पायी जाती है। इनमें विविधतया १७,२०,४८ और ५३ मनकों का प्रयोग होता था। हड़प्पा से सोने के मनकों वाला एक सुन्दर ६ लड़ों का हार मिला है। मोहेंजोदड़ो से मार्शल को एक काफी बड़े आकार

वाला हार प्राप्त हुआ है। हार के बीच में नलीदार ढ़ोलाकार गोमद के मनके हैं। ये मनके एक दूसरे से पाँच चपटे गोल सोने के मनकों द्वारा अलग-अलग गुंथे हुए हैं।.... हारों के लोलक, अंतक और अंतरक अलग-अलग आकार और पदार्थों के बनाये जाते थे।

स्त्रियों के कण्ठ-भूषणों में हंसली, कण्ठमाला और गलहार होते थे। हारों में विविध द्रव्यों यथा सोना, चाँदी, ताँबा, पत्थर, फियांस, शंख, हाथीदाँत आदि के मनके और लटकन गुथे होते थे। स्वाभाविक है कि हड़प्पन अवशेषों के आधार पर कण्ठ के आभूषणों के साक्ष्य उनके आकार, प्रकार आदि पर विस्तार से प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करते हैं; अतएव ऋग्वैदिक विवरण सम्पूर्ण रूप से उनसे मिलाये नहीं जा सकते, किन्तु दर्शनीय है कि ऋग्वेद में प्राप्त आभूषणों की चर्चा हड़प्पा-सभ्यता से संगत बैठती है।

४. हाथ के आभूषण

हाथ के आभूषण के अर्थ में ऋग्वेद में एक सुनिश्चित शब्द **खादि** व्यवहृत हुआ है। मरुत् देवताओं के प्रसंग में स्रज् और रुक्म के साथ इस शब्द का प्रयोग जहाँ इसके आभूषण होने का सूचक है,[६९] वहीं 'खादिहस्त' समस्त पद की उपलब्धि से इसका हाथ का अलंकार होना सिद्ध है।[७०] एक मन्त्र में वर्णन है कि मरुतों के कन्धों (अंस) पर खादि है और वक्ष पर रुक्म।[७१] दूसरे मन्त्र के अनुसार वे हाथों में खादि और कृति (तलवार) धारण करते हैं।[७२] इस प्रकार यह मणिबन्ध या कलाई अथवा दोनों स्थानों पर पहना जाने वाला ऋग्वैदिक स्त्री और पुरुषों में प्रचलित कंगननुमा एक आभूषण प्रतीत होता है, जो शांखायन श्रौतसूत्र के प्रमाण पर स्वर्णनिर्मित माना जा सकता है।[७३] हड़प्पा-सभ्यता के अवशेषों में भुजबन्ध, कंगन और चूडियाँ उपलब्ध हुई हैं और ये विविध पदार्थों की बनी हुई हैं। 'हड़प्पा के एक निधान से सोने का बना एक कंगन प्राप्त हुआ है। मोहेंजोदड़ो से सोने की चूड़ियाँ मिली हैं। चांदी की चूड़ियाँ भी बनाई जाती थी। चांदी की अण्डाकार चूड़ी को मार्शल ने प्रकाशित किया है। कांसे, कांचली मिट्टी, शंख और सेल खड़ी की चूड़ियाँ भी पायी गयी हैं। मूर्तियों पर भी चूडियाँ और कंगन देखे जाते हैं। नर्तकी की कांस्य मूर्ति में उसकी बायीं भुजा चूड़ियों से बोझिल दिखायी गयी है। नर्तकी के दायें हाथ की कलाई में केवल तीन-चार चूड़ियाँ

हैं और भुज-बन्ध के रूप में तीन। मृण्मूर्तियों के हाथों पर भी चूडियाँ मिलती है।'

हाथ की अङ्गुलियों में पहने जाने वाले आभूषण 'अङ्गूठी' के प्रमाण स्पष्ट रूप से हड़प्पा-सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं। ये मिट्टी, तांबे या कांचली मिट्टी की बनी हुई हैं। हड़प्पा में एक स्त्री की बीच की अङ्गुली में पहने जाने वाली एक अङ्गूठी प्राप्त हुई है। ऋग्वेदकाल में अङ्गूठी धारण करने के मात्र सङ्केत ग्रहण किये जा सकते हैं, जब हम सविता के लिए 'हिरण्यपाणिः' विशेषण का प्रयोग देखते हैं।[७४] रायगोविन्द चन्द्र ने सामान्य रूप से आभूषण के लिए व्यवहृत हुए **आनूक** पद को ऋग्वेद में अङ्गूठी का बोधक नामपद माना है।[७५] यद्यपि इस विषय में अर्थबोधक विवरणों का अभाव है, तथापि शतपथ ब्राह्मण के प्रामाण्य पर अङ्गुली में हिरण्य बाँधने की पुष्टि अवश्य होती है।[७६]

५. कटि के आभूषण

ऋग्वेद में न्योचनी, वरुणपाश और हिरण्यवर्तनी- पदों के प्रयोग द्वारा कटि में धारण किये जाने वाले आभूषण के सङ्केत मिलते हैं। **न्योचनी** विवाहावसर पर वधू द्वारा पहने जाने वाली करधनी[७७], **वरुणपाश** यजमानपत्नी द्वारा यज्ञावसर पर पहनी जाने वाली मूँज की करधनी[७८] और **हिरण्यवर्तनी** रुद्र द्वारा धारण की गयी हिरण्यमयी करधनी[७९] मानी जा सकती है।[८०] **रशना** शब्द बहुप्रयुक्त होकर भी ऋचाओं में रस्सी का ही द्योतक है।[८१] अनन्तर ही उक्त अर्थ में इस शब्द का प्रचलन हुआ है। हड़प्पा-सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त मृण्मूर्तियों के अंकन से स्पष्ट है कि वहाँ की स्त्रियाँ कई तरह की करधनी पहनती थीं। मोहेंजोदड़ो से सिर की आकृति वाली, ५.०८ से. मी. के व्यास की एक चकती मिली है; इसके बारे में अनुमान किया जाता है कि यह किसी करधनी का भाग रही है।[८२]

६. पैर के आभूषण

ऋग्वेदकालीन 'खादि' अर्थात् कड़ा पैरों में भी पहना जाता था, ऐसा स्पष्ट विवरण मन्त्र में है- 'हे मरुतों ! तुम्हारे कन्धे पर ऋष्टि, पैरों में खादि, वक्ष पर रुक्म, भुजाओं पर विद्युत् और सिर पर शिप्र रखे हुए हैं।'[८३] अन्यत्र 'वृषखादयः' मरुतों के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ है, जिससे मैक्समूलर ने 'मोटे

कड़े' का अर्थ लिया है ।[८४] इसी प्रकार के कड़े हमें मोहेंजोदड़ो की मृण्मय मूर्तियों के पैरों में दिखायी देते हैं ।[८५] ये कड़े किस धातु के बनाए जाते थे, यह ज्ञात नहीं होता है, क्योंकि उत्खननों में कोई कड़ा प्राप्त नहीं हुआ है।[८६] आकृति से ये कड़े खुले, मुड़े और बन्द सिरों वाले कई तरह के हुआ करते थे।

७. अन्य आभूषण

ऋग्वैदिक आभूषणपरक नामों एवं सम्बद्ध सामग्री का विश्लेषण करने पर दो महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं - प्रथम, ये आभूषण अधिकांश में स्वर्ण से बनते थे, इसलिए हिरण्य या हिरण्यमय कहे गये हैं । द्वितीय, इनके स्वरूप का परिचय ऋग्वेद में विशेष रूप से उपलब्ध नहीं है । ऋग्वेदोत्तर वैदिक ग्रन्थों में अपेक्षाकृत इसकी सम्भावनाएँ अधिक हैं । हड़प्पा-सभ्यता में पुरातात्विक सामग्री अवशेष रूप में हैं, अतएव आभूषणों के स्वरूप और धातु इत्यादि का परिज्ञान अधिक स्पष्ट है । नारी मृण्मूर्तियों में शिरोभूषण भी दिखायी दे रहे हैं । कुछ स्थलों पर पुष्पों के शिरोलंकरण भी हैं । अवशेषों में नाक के आभूषण, जडाऊ टीका, ताबीज और शृङ्गारदान आदि की पहचान की गयी है ।

कह सकते हैं कि हड़प्पा-सभ्यता के लोगों में सिर से लेकर पैर तक कई आकार-प्रकार के आभूषणों का प्रचलन था - कुछ समृद्ध लोगों के बहुमूल्य आभूषण थे, तो कुछ साधारण लोगों के सामान्य आभूषण ।नामतः उपलब्ध होने वाले ऋग्वेदकालीन आभूषण अधिकांश में हड़प्पा-सभ्यता के आभूषण ही प्रतीत होते हैं । शिरस्त्राण, शृङ्गवाली टोपी, कुरीर, ओपश, कर्णाभूषण, निष्क, स्रज्, कंगन, करधनी, पैर का कड़ा आदि वे प्रमुख आभूषण हैं, जो दोनों सभ्यताओं में समान रूप से प्रचलित दिखायी देते हैं । किसी प्राचीनतम सभ्यता के अवशेषों या साहित्यिक सन्दर्भों में किसी आभूषण के सङ्केत का न मिलना - वहाँ उसके अभाव का आधार नहीं माना जा सकता है। सन्तोष की बात है कि असन्दिग्ध रूप से पहचाने गये ऋग्वैदिक आभूषण हड़प्पा-सभ्यता के अवशेषों से पर्याप्त रूप में संगत बैठ रहे हैं । अतः दोनों सभ्यताओं में प्राप्त आभूषणों की मीमांसा करने के बाद इस निष्कर्ष तक पहुंचने में कोई बाधा नहीं है कि दोनों सप्त-सैन्धव सभ्यताएं वस्तुतः एक ही है ।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. A.C. Das, *Rigvedic Culture*, Delhi, 1976. pp. 172-181; सम्पूर्णानन्द, *आर्यों का आदि देश*, सं. २०१२; कैलाशनाथ द्विवेदी, *सप्त सैन्धव प्रदेश* (ऋग्वेद के आधार पर भौगोलिक अध्ययन।)

२. सतवि सप्तसिन्धून् । ऋ. १/३२/१२, १०/७५.

३. A.C. Das, *Rigvedic Culture*, p. 184.

४. केदारनाथ शास्त्री, *सिन्धु सभ्यता का आदिकेन्द्र हड़प्पा*, दिल्ली, १९५९, पृ. २८; John Marshall, *Mohenjodaro and the Indus Civilization*, 3 Vols. London, 1931.

५. भगवान सिंह, *हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य*, दिल्ली, १९८७, पृ. ६५; P.R. Deshmukh; *The Indus Civilization in the Rigveda*, Yeotmal, 1958, p. 41 ; Buddha Prakash, *Rigveda and the Indus Valley Civilization*, Hoshiarpur, 1966, p. xi, 52.

६. ऋ. १०/२६/६.

७. बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययम् । ऋ. १/२५/१३.
हिरण्ययान् प्रत्यत्काँ अमुग्ध्वम् । ऋ. ५/५५/६, २/३/६, ४/३६/७.

८. आभूषेण्यं वो मरुतो महित्वनम् । ऋ. ५/५५/४.

९. थपल्याल और शुक्ल, *सिन्धु सभ्यता*, लखनऊ, १९९२, पृ. १९९.

१०. वही, पृ. २००-२०२.

११. Macdonell and Keith, *Vedic Index*, Vol. II, Varanasi, 1982, p. 505; ऋ. १/१२२/२, १/१६२/१६; २/३३/९, ५/६०/४, ८/८/२.

१२. Macdonell and Keith, *Vedic Index*, Vol. I, Varanasi, 1982, p. 254.

१३. ईशानासो ये दधते स्वर्णो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्हिरण्यैः । ऋ. ७/९०/६.

१४. रजतं हरयाणे । रथं युक्तम्...। ऋ. ८/२५/२२.

१५. हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः ।
हिरण्ययात्परि योनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै ।। ऋ. २/३५/१०; रथं हिरण्ययम् । ऋ. ८/४६/२४.

१६. ऋ. १०/७५/८, ८/२६/१८.

१७. शुभे रुक्मं न दर्शतं निखातम् । ऋ. १/११७/५.
१८. Macdonell and Keith, *Vedic Index*, Vol. I, p. 141.
१९. ऋ. १/१२५/१, १/१४१/१०, २/३८/१, ४/१५/३, १०/७८/८.
२०. ऋ. १/३३/८, १/१२२/१४.
२१. अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपम् । ऋ. १/३५/४.
२२. मदच्युतः कृशनावतो अत्यान् । ऋ. १/१२६/४.
२३. ऋ. १/२४/७, ७/२/१.
२४. Macdonell and Keith, *Vedic Index*, Vol. II, p. 483.
२५. रायगोविन्द चन्द्र, *वैदिक युग के भारतीय आभूषण*, वाराणसी, १९६५,पृ. १५.
२६. बभ्रुः सुशिप्रो रीरधन्मनायै । ऋ. २/३३/५.
२७. सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य;* ऋ. ४/३७/४.
२८. V. Rajni, *Ancient History*, p. 144.
२९. अयः शिप्रा वाजिनः सुनिष्काः । ऋ. ४/३७/४.
३०. हिरण्यशिप्रा मरुतो दविध्वतः । ऋ. २/३४/३.
३१. शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः । ऋ. ५/५४/११.
३२. M.S. Vats , *Excavations at Harappa*, Delhi, 1940, p. 76, No. 19 etc.
३३. रायगोविन्द चन्द्र, *वैदिक युग के भारतीय आभूषण*, पृ. १६.
३४. ऋ. १/१६३/९, ८/१७/१३.
३५. E.J.H. Mackay, *Further Excavations at Mohenjodaro*, New Delhi, 1938, Plate 74, No. 21, 22, 25.
३६. रायगोविन्द चन्द्र, *वैदिक युग के भारतीय आभूषण*, पृ. १७.
३७. Keith and Macdonell, *Vedic Index*, Vol. I, p. 164; विश्वेश्वर नाथ रेउ, *ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि*, दिल्ली, १९६७, पृ. २००.
३८. स्तोमा आसन् प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः ।
सूर्याया अश्विना वराऽग्निरासीत् पुरोगवः ।। ऋ. १०/८५/८.
३९. अथर्व. ६/१३८/३; वा.सं. ११/५६; तै.सं. ४/१/५/३; मै.सं. २/७/५.
४०. Geldner and Pischel, *Vedische Studien*, vol. I, p. 131, 132.

४१. Williams, *A Sanskrit English Dictionary*, p. 294.
४२. S. Piggott, *Prehistoric India*, Penguin, 1950, Plate8, p. 129.
४३. सं विव्य इन्द्रो वृजनं न भूमा भर्ति स्वधावाँ ओपशमिव द्याम् ।
ऋ. १/१७३/६.
४४. वा.सं. ११/५६; तै.सं. ४/१/५/३; मै.सं. २/७/५.
४५. अथर्व. ६/१३८/१-२; ६/३/८.
४६. Wheeler, *Early India and Pakistan, London, 1959,* plate 13.
४७. Marshall, Mohenjodaro and the Indus Civilization, Vol. II, London, 1931, p. 522; Vol. III, plate 151- A.
४८. Vats, *Excavations at Harappa, plate* 77, Figure 44.
४९. भगवान सिंह, *हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य*, पृ. ३१६.
५०. उत नः कर्णशोभना पुरूणि घृष्णवा भर । ऋ. ८/७८/३.
५१. हिरण्यवर्णं मणिग्रीवमर्णः । ऋ. १/१२२/१४.
५२. मै. सं. ४/४/८.
५३. अथर्व. १५/२/५.
५४. तै. ब्रा. १/८/२/३; शत. ब्रा. ५/४/५/२२.
५५. रायगोविन्द चन्द्र, *वैदिक युग के भारतीय आभूषण*, पृ. ४७, ७१.
५६. थपल्याल और शुक्ल, *सिन्धु सभ्यता*, पृ. २०२.
५७. ऋ. १/१२२/१४.
५८. निष्कग्रीवो बृहदुक्थ एना मध्वा न वाजयुः । ऋ. ५/१९/३.
५९. Das, *Rigvedic Culture*, p. 216.
६०. शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्कान् । ऋ. १/१२६/२.
६१. अर्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम् । ऋ. २/३३/१०.
६२. ऋ. १/१६६/१०, ४/१०/५, ५/५३/४, ८/२०/११ इत्यादि.
६३. ऋ. २/३४/२, ८, ५/५५/१, १०/७८/२.
६४. ऋ. ५/५३/४, ५/५६/१.
६५. शत. ब्रा. ६/७/१/७.
६६. ऋ. १/३३/८.
६७. ऋ. ४/३८/६, ५/५३/४, ८/४७/१५, १०/१८४/२.

६८. थपल्याल और शुक्ल, *सिन्धु सभ्यता*, पृ. २०३;
केदारनाथ शास्त्री, *सिन्धु सभ्यता का आदिकेन्द्र हड़प्पा*, पृ. १७७.

६६. स्रक्षु रुक्मेषु खादिषु । ऋ. ५/५३/४.

७०. त्वेषं गणं तवसं खादिहस्तम् । ऋ. ५/५८/२.

७१. अंसेष्वा मरुतः खादयो वो वक्षःसु रुक्मा उपशिश्रियाणाः ।
ऋ. ७/५६/१३.

७२. हस्तेषु खादिश्च कृतिश्च संदधे । ऋ. १/१६८/३.

७३. हिरण्यखादिः । शा.श्रौ.सू. ३/५/१२; ८/२३/६.

७४. ऋ. १/२२/५, १/३५/६.

७५. आनूकमर्यो वपुषे नार्चत् । ऋ. ५/३३/६.

७६. शत.ब्रा. ३/३/२/२.

७७. रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी । ऋ. १०/८५/६.

७८. प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । ऋ. १०/८५/२४.

७६. रुद्रा हिरण्यवर्तनी जुषाणा । ऋ. ५/७५/३.

८०. रायगोविन्द चन्द्र, *वैदिक युग के भारतीय आभूषण*, पृ. २६.

८१. ऋ.१/१६२/८, १/१६३/२,५, २/२८/५, ४/१/६, ६/८७/१.

८२. थपल्याल और शुक्ल, *सिन्धु सभ्यता*, पृ. २०५;
Vats, *Excavations at Harappa*, Plate 125, No. 25.

८३. अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा ।
मरुतो रथे शुभः ।। ऋ. ५/५४/११.

८४. अनन्तशुष्मा वृषखादयो नरः । ऋ. १/६४/१०.
Max Muller, *Sacred Books of the East*, No. XXXII, p. 107, 120.

८५. Mackay, *Further Excavations at Mohenjodaro*, Plate-76, No. 5.

८६. थपल्याल और शुक्ल, *सिन्धु सभ्यता*, पृ. २०६.

[Veda and Harappa, ed. Dr. Pushpendra Kumar, Delhi, 1998 में प्रकाशित ।]

* * *

१३

आवासीय व्यवस्था

भारतीय वास्तु-संरचना का प्राचीनतम स्वरूप ऋक्संहिता में दिखायी देता है। मन्त्रों से ऋग्वेदकालीन आवासीय व्यवस्था पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है, किन्तु उल्लेखनीय है कि इस संहिता में आवास के लिए तीस से कुछ अधिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनमें से कुछ शब्द विशेष रूप से 'गृह' के वाचक हैं और कुछ सामान्य रूप से 'आवास' के बोधक हैं। आवास के अवयव, उपकरण, सुरक्षा और प्रकार से सम्बद्ध शब्दों और विवरणों के आलोचनात्मक विश्लेषण द्वारा ऋग्वेदकालीन आवासों के स्वरूप और प्रयोजन आदि के विषय में कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आते हैं। ग्राम, पुर्, कुल और कुलपति सम्बन्धी शब्द और इनके विवरण आवास के स्वरूप की परिकल्पना के द्योतक हैं।

(अ) ग्राम और पुर्

ऋक्संहिता में न 'नगर' शब्द का प्रयोग हुआ है और न सप्तसिन्धु के नगरों का ही कोई उल्लेख है। ऋग्वैदिक आर्य जीवनयापन के लिए मुख्य रूप से कृषि और पशुपालन के कर्म करते थे। 'वे कृषक थे और अपने पशुओं की अनुकूलता देखकर गाँवों में रहते थे।'[१] ऋचाओं में 'ग्राम' शब्द बहुधा प्रयोग में आया है।[२] ग्राम और वन का भेद कभी पशुओं और कभी पौधों के भेद द्वारा व्यक्त किया गया है।[३] ये ग्राम कदाचित् खुले हुए थे, यद्यपि इनके भीतर कभी दुर्ग, प्राकार या गढ़ (पुर्) भी बना लिया जाता था।[४] सम्भव है, इस प्रकार के गढ़ अक्सर बहुत बड़े आकार के रहे हों, क्योंकि एक को चौड़ा (पृथ्वी) और विस्तृत (उर्वी) कहा गया है।[५] अन्यत्र पत्थर के

बने (अश्ममयी) दुर्ग का उल्लेख है।[६] कई बार लोहे के बने गढ़ों का उल्लेख हुआ है, जिसे **आयसी पुः** कहा गया है ।[७] यद्यपि 'अयस्' को विद्वानों ने तांबे[८] या लोहे[९] के अर्थ में एक धातु का नाम माना है, तथापि 'पुर्' के साथ 'लोहा' का अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है । ब्राह्मणग्रन्थों में पुरी, पुर, पुः और प्राकार के वर्णन अपेक्षाकृत अधिक हुए हैं, जो वास्तु की दिशा में हुई उन्नति के संसूचक हैं ।[१०] ऋग्वेदसंहिता में अधिकतर देवों द्वारा प्रार्थित रक्षा के प्रसंग में 'आयसी पुः' का उल्लेख आलंकारिक रीति से ही हुआ है; तथापि सुरक्षा और दृढ़ता को प्रकट करने वाले इन विवरणों से 'पुर्' के चारों ओर से दीवारों से घिरे होने का सङ्केत अवश्य ग्राह्य है ।

(आ) कुल और गृह

ऋक्संहिता के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक आर्यों का सामाजिक और पारिवारिक जीवन सन्तुष्ट और सुखद था । लोग अपने-अपने घरों में रहते थे । जिस स्थान पर एकाकी परिवार या संयुक्त परिवार और इनके पशु रहते थे, उसे **गृह** कहते थे । गृहों के मंगल के लिए शुभ शकुन और चोरों से निर्भयता चाही गयी है ।[११] सम्भवतः गृह के भीतर पृथक्-पृथक् हिस्से होते थे, यथा- अग्निशाला, पशुशाला आदि। ध्यातव्य है कि 'शाला' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद की संहिता में नहीं हुआ है । गृहाग्नि को घर के बीच में जलाया जाता था ।[१२] अथर्ववेदसंहिता के दो सम्पूर्ण सूक्तों में शाला के स्वरूप और निर्माण के विवरण है ।[१३]

घरों का समूह **ग्राम** होता था । एक घर में एक कुल रहता था । ऋग्वेद में परिवार का वाचक शब्द 'कुल' है । 'कुल' का मूल अर्थ ही है 'घर' ।

(इ) गृहपति और वास्तोष्पति

ऋग्वेद में परिवार के प्रमुख पुरुष को यदि 'गृहपति'[१४] या 'दम्पति'[१५] कहा गया है, तो गृहस्वामिनी को 'गृहपत्नी'[१६] बताया गया है । घरों की रक्षा के लिए गृह के अधिष्ठाता देवता के रूप में **वास्तोष्पति** का स्तवन हुआ है ।[१७] 'गृह्यसूत्रों में विधान मिलता है कि नवीन आवास में प्रवेश करने से पहले वास्तोष्पति को मनाना चाहिए । यह विधान ऋग्वेदीय सूक्त के साथ मिलकर इस तथ्य की ओर निर्देश करता है कि मूलतः वास्तोष्पति एक

गृह-रक्षक देवता है। यही तथ्य इस नाम के अर्थ (आवास का स्वामी) से भी झलकता है।'[१८] वास्तोष्पति से निरोगता एवं पशुसम्पत्ति के अतिरिक्त योग और क्षेम भी चाहा गया है।[१९]

(ई) आवास के अवयव और उपकरण

ऋक्संहिता में आवासीय अवयवों के अर्थ में कई शब्द प्राप्त होते हैं, यद्यपि उनमें से कुछ का अभिप्राय प्रायशः सन्दिग्ध है। **आता** शब्द का संहिता में तीन बार प्रयोग हुआ है।[२०] निघण्टु में यह दिङ्नामों में आम्नात है[२१] और सायणाचार्य ने सर्वत्र इसका अर्थ दिशाओं से लिया है। कीथ और मैकडॉनल तथा सूर्यकान्त ने लैटिन शब्द से तुलना करते हुए इसका तात्पर्य 'दरवाजे का ढाँचा' बताया है।[२२] 'आ' पूर्वक √अत् से व्युत्पन्न होकर 'जिसकी ओर मुख करके जाया जाता है'[२३] अर्थ को देता हुआ 'आता' शब्द भाव की दृष्टि से दोनों ही अर्थों में संगत प्रतीत होता है। निघण्टु में **छदिस्** शब्द यद्यपि गृहनामों में पठित है, तथापि संहिता में एक बार ही इस शब्द का प्रयोग हुआ है, जहाँ द्यौस् को सूर्या के विवाह-रथ का 'छदिस्' बताया गया है।[२४] आच्छादनार्थक √ छद् में 'इसि' प्रत्यय से व्युत्पन्न इस शब्द से छान, छप्पर या आच्छादन का अभिप्राय है, जो घर या गाड़ी का हो सकता है।[२५] इसी से युक्त घर को **छर्दिस्** कहा गया है।[२६] बाद की संहिताओं में 'छदिस्' का बहुधा उल्लेख है।

संहिता में प्राप्त **ओपश** शब्द सन्दिग्ध आशय वाला है और अधिकतर इसका अर्थ चोटी या वेणी किया गया है।[२७] कीथ की मान्यता है कि अथर्ववेद में घर की छत का वर्णन करते हुए इसका लाक्षणिक प्रयोग हुआ है।[२८] **दुर्** और **द्वार्** शब्दों का ऋग्वेद में और उसके बाद भी शाब्दिक या लाक्षणिक रूप में गृह के द्वार के लिए प्रयोग हुआ है। बाद का रूप 'द्वार' इसी अर्थ में इसी से उद्भूत है। 'द्वारः' की यास्क ने तीन निरुक्तियाँ दी हैं - गत्यर्थक √ जु या √ द्रु से द्वार बनता है। निवारर्णाथक √ वारय् से भी द्वार बनता है।[२९] यह नित्य बहुवचनान्त हैं। 'देवीर्द्वारः' एक आप्रीदेवता का नाम है। भारोपीय भाषा में इसके समकक्ष शब्द 'Dhuor' और ग्रीक में 'Thura' मिलते हैं, जिसके अर्थ भी 'द्वार' ही हैं।[३०] एक अन्य शब्द **कक्ष** यद्यपि एक बार 'अति गहन प्रदेश' के अर्थ में भाष्यकारों द्वारा ग्राह्य है[३१] और बाहों के कक्ष

प्रदेश को स्पष्ट रूप से द्योतित करता है, तथापि इसे गृह के कक्ष का पूर्वरूप माना जा सकता है। भवन के आधारभूत खम्भें के लिए **स्थूणा** और **उपमित्** शब्द प्रयुक्त हुए हैं ।[३२]

गृह के उपकरणों में कलश, मूसल, चलनी, सूप आदि बरतनों और सिलबट्टा, औजार आदि वस्तुओं के अतिरिक्त सोने और बैठने के लिए प्रोष्ठ, वह्य, तल्प आदि नामों से जिस घरेलू सामग्री का उल्लेख हुआ है,[३३] उससे ऋग्वैदिक गृहों में प्रयोग आने वाले उपकरणों का किंचित् सङ्केत मिलता है। नित्यप्रति के उपयोगी ये उपकरण आवासीय व्यवस्था के आन्तरिक स्वरूप के प्रकाशक हैं ।

(उ) आवास की सुरक्षा और प्रकार

मानवीय आवासों का सामान्य प्रयोजन सुविधा और सुरक्षा है, परन्तु इसके लिए साधन अपेक्षित हैं । आवास के स्वरूप में उसके स्वामी के सामर्थ्य का प्रभाव होता है। ऋग्वैदिक आवास दो प्रकार के अवश्य ही रहे होंगे। अल्प-साधन-सम्पन्न जनों के लिए छोटे घर–जो पत्थर, लकड़ी, बांस, मिट्टी, घास आदि से बनते थे।[३४] धनवान् व्यक्तियों के लिए बड़े और विशाल घर- जो अपेक्षाकृत दृढ़ और सुरक्षित होते थे। एक सूक्त में किसी श्रीमान् के भव्य प्रासाद का सांकेतिक विवरण प्राप्त होता है। इसे **हर्म्य** कहा गया है, जिसमें माता, पिता, अन्य सम्बन्धी जन और कई स्त्रियां रहती हैं । इसमें कई कोठे हैं और सुरक्षा के लिए प्रहरी के रूप में कुत्ते भी दरवाजे पर रहते हैं ।[३५] ऋषि ने कामना की है कि निवास-स्थान उत्तम प्रकार से सुरक्षित (सुप्रावीः क्षयः) हो।[३६] वह द्रोहकारी निन्दकों से बचा रहे और दीर्घकाल तक टिकने वाला (दीर्घश्रुत् शर्म) हो।[३७] अश्विनौ से ध्रुव यश और ध्रुव छर्दि प्रार्थित हैं।[३८] अतः घर भी यश की तरह स्थिर होना चाहिए। उपासक धनधान्य से सम्पन्न घर (इरावत् वर्तिः) में ही जाना चाहता है।[३९] वह पुत्र-पौत्रों से सम्पन्न घरों (प्रजावतीषु दुर्यासु) में रहना चाहता है।[४०] सन्तान, धन और अन्न से भरे-पूरे घरों की कामना में[४१] आवास, घर और परिवार लगभग पर्याय हो जाते हैं । स्वाभाविक ही है कि इस प्रकार की प्रार्थनाएँ प्रभूत हों। इनसे मात्र यह निष्कर्ष निकालना ही उपयुक्त होगा कि ऋग्वैदिक आर्य अपने आवास-स्थान को प्रत्येक दृष्टि से सुरक्षित, सुखपूर्ण और सम्पन्न

रखना चाहते थे। सुन्दर, समृद्ध, विशाल और सुरक्षित घर की स्पृहा को सुव्यक्त करने वाली ऋषि वसिष्ठ की उक्तियाँ उल्लेखयोग्य हैं, "मै मिट्टी के घर में नहीं रहना चाहता हूँ।"[४२] "हे वरुण ! मैं तुम्हारे बड़े परिणाम वाले, सहस्रों द्वारों वाले घर में जाना चाहता हूँ।"[४३] 'मृन्मयं गृहम्' और 'सहस्रद्वारं गृहम्' का भेद आवासविषयक उस ऋग्वैदिक दृष्टि को उद्घाटित करता है, जिसमें ऋग्वेदकालीन आवासों के प्रकार, प्रयोजन और उद्देश्य अन्तर्निहित हैं।

ऋग्वेद की संहिता में भवन-निर्माण के स्वरूप का अत्यन्त सङ्केतात्मक वर्णन है। त्वष्टा और ऋभु को गृहनिर्माण करने वाला कुशल कारीगर कहा गया है। कई विद्वानों ने वैदिक गृहों की अनुमानित रूपरेखा और निर्माण-प्रक्रिया को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।[४४] पशुओं को आश्रय देने वाले विशाल आवास 'गोत्र' कहलाते थे, तो साधारण छप्परनुमा छतों से युक्त 'छर्दिस्' और पक्के गृह 'हर्म्य'।

(ऊ) आवास के विशिष्ट विशेषण

संहिता में आवास या गृह के लिए पाँच विशिष्ट विशेषण पदों का उल्लेख हुआ है, जिनकी विवेचना आवासीय परिकल्पना के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक है। लगभग २५ बार **त्रिधातु** और लगभग १० बार **त्रिवरूथम्** विशेषण शर्मन्, शरणम्, छर्दिस् आदि गृहनामों के साथ प्रयोग में आये हैं। 'त्रिधातु शर्म' तीन धातुओं का शमनविषयक सुख हो सकता है,[४५] किन्तु जब यह 'शरणम्' और 'शर्म' दोनों के साथ प्रयुक्त हुआ है,[४६] तब निश्चित रूप से गृह की विशेषता ही बता रहा है। 'धातु' विभाग या प्रकार को कहते हैं, इसलिए सायण ने इससे 'त्रिभूमिकम्', वेङ्कटमाधव ने 'त्रिबन्धनम्', विलसन ने 'तीन मंजिल वाला' सातवलेकर ने 'तीन धारक शक्तियों से युक्त' अर्थ किये हैं। स्वामी दयानन्द ने एक दूसरे मन्त्र में 'त्रिधातु छर्दिस्' से तीन धातुओं - स्वर्ण, रजत और ताम्र से बने घर का अर्थ लिया है।[४७] सायण ने अन्यत्र इसे तीन पर्वों वाला गृह कहा है।[४८] तीन भागों, प्रकारों या भूमियों वाला शर्म या गृह आवास की विशिष्टता और विशालता को अभिव्यक्त करता है। 'वरूथम्' वरणीय अर्थ में गृहनाम है। अतः 'त्रिवरूथम्' विशेषण से 'तीन गृहों या स्थानों वाला शर्म'[४९] या शीत, आतप और वर्षा का वारक गृह[५०] चाहा गया है। 'त्रिधातु' और 'त्रिवरूथम्' गृह

इन्द्र और मरुतों से प्रार्थित हैं ।[५१] ये ऋग्वैदिक आवासीय परिकल्पना का प्रमुख अङ्ग हैं । इन विशेषणों में गृहरचना की ऋतुपरक उपयोगिता भी निहित है ।

ऋक्संहिता में केवल एक बार प्राप्त **सहस्रद्वारम्** और दो बार प्राप्त **सहस्रस्थूणम्** विशेषण पदों का आवास की प्रमुख विशेषताओं के प्रतिपादन में महत्त्व है । वरुण से कहा गया है कि 'मैं तुम्हारे बड़े परिमाण वाले, हजार द्वार वाले घर में जाना चाहता हूँ'[५२] और मित्रावरुण को हजार खम्भों वाले घर में बैठने वाला बताया गया है ।[५३] 'द्वार' और 'स्थूणा' आवासीय अवयव हैं । यद्यपि ये विशाल, दृढ़ और उत्तम सौधरूप गृह देवताओं के सन्दर्भ में ही चर्चा में आये हैं, तथापि निस्सन्देह ऋग्वैदिक आर्यों की आवासीय अवधारणाओं के अवबोधन में पर्याप्त सक्षम हैं । अनेक दरवाजों वाले, हजार खम्भों पर खड़े, उत्तम और दृढ़ भवन से पक्के मकान की वैदिक परिकल्पना विशद होती है । केवल एक बार प्रयुक्त 'मृन्मयम्' विशेषण मिट्टी के बने उस कच्चे घर की बात निषेधरूप में कहता है, जिसमें उपासक किसी भी दशा में रहना नहीं चाहता है ।[५४]

इस प्रकार ऋग्वैदिक वास्तु-संरचना में छोटे और बड़े, कच्चे और पक्के आवासों की चर्चा के सन्दर्भ हैं । आवासीय अवयवों के नाम, आवास के पर्यायवाची नाम और प्रमुख विशेषणपदों की अर्थगत मीमांसा से आवासों का आन्तरिक और बाह्य स्वरूप ज्ञात होता है । ऋग्वैदिक आवासीय व्यवस्था में सुरक्षा, दृढ़ता और विशालता पर बल दिया गया है। उसकी आन्तरिक परिकल्पना के अन्तर्गत निवासियों के अपने आवास के प्रति आकर्षण और उससे प्राप्त सुख, दुःख-राहित्य, विश्रान्ति और शान्ति की चर्चा की गयी है। प्राकार, प्रासाद, निवास, आयतन, श्मशान, शाला आदि शब्द ऋग्वेद की संहिता में अप्राप्त हैं । हर्म्य, सहस्रस्थूण और सहस्रद्वार गृह के उल्लेख तत्कालीन विकसित वास्तुकला को दर्शाते हैं ।

ऋग्वैदिक आर्यों की सुव्यक्त आवासीय व्यवस्था सिन्धुघाटी सभ्यता की आवासीय व्यवस्था से तुलना और साम्य पर पुनर्चिन्तन को आमन्त्रित करती है ।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. राहुल सांकृत्यायन, *ऋग्वेदिक आर्य*, इलाहाबाद, १६५७, पृ. २१५.
२. ऋ. १/४४/१०, १/११४/१, १/१४०/१, २/१२/७ इत्यादि.
३. ऋ. १०/६०/८.
४. कीथ और मैकडॉनल, *वैदिक इण्डेक्स* (अनूदित), प्रथम भाग, वाराणसी, १६६२, पृ. २७३.
५. पूश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी । ऋ. १/१८६/२.
६. शतमश्मन्मयीनां पुराम् । ऋ. ४/३०/२०; तु.-'अश्मपुर' । शत. ब्रा. ३/१/३/११.
७. ऋ.१/५८/८, ७/३/७, ७/६५/१, ७/१५/१४, १०/१०१/८ इत्यादि.
८. Om Prakash, *Economy, and Food in Ancient India*, Part I, Delhi, 1987,p. 69.
६. *घाटे द्वारा ऋग्वेद पर व्याख्यान* (अनूदित), दिल्ली, १६६७, पृ. १३८.
१०. Jogiraj Basu, *India of the Age of the Brahmanas*, Calcutta, 1969, p. 74.
११. अव क्रन्द दक्षिणतो गृहाणाम्...मा नः स्तेन ईशत । ऋ. २/४२/३.
१२. Chhanda Chakraborty, *Common Life in the Rigveda and Atharvaveda*, Calcutta, 1977, p. 7.
१३. अथर्व. ३/१२, ६/३.
१४. ऋ. ६/५३/२.
१५. ऋ. १/१२७/८.
१६. ऋ. १०/८५/२६.
१७. ऋ. ७/५४, ७/५५/१.
१८. मैकडॉनल, *वैदिक देवशास्त्र* (अनूदित), पृ. ३५७-५८.
१६. पाहि क्षेमे उत योगे वरं नः । ऋ. ७/५४/३.
२०. ऋ. १/५६/५, १/११३/१४, ३/४३/६.
२१. निघ. १/६.
२२. Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, Delhi, 1981, P. 132; कीथ और मैकडॉनल, *वैदिक इण्डेक्स*, प्रथम भाग, पृ. २५७.

२३. अभिमुख्येन गम्यन्ते प्राणिभिः आताः । ऋ.सा.भा. ३/४३/६.
२४. द्यौरासीदुतच्छदिः । ऋ. १०/८५/१०; सायण - छदिः उपर्यपिधानम्।
२५. उ.सू. २/२६८.
२६. ऋ. ६/१५/३, ६/४६/६, ६/६७/२.
२७. ऋ. ६/७१/७, १०/८५/५.
२८. अथर्व. ६/१३८/१,२; ६/३/८; कीथ, *वैदिक इण्डेक्स*, प्रथम भाग, पृ. १३६.
२६. द्वारो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा । नि. ८/१०/१.
३०. Varma, *The Etymologies of Yaska*, Hoshiarpur, p. 33.
३१. ऋ. १०/२८/४; सायण - अतिगहनदेशात् ; उद्गीथ - गहनप्रदेशात्।
३२. उपमिन्न रोधः । ऋ. ४/५/१.
स्थूणेव जनाँ उपमिद् ययन्थ । ऋ. १/५६/१.
३३. ऋ. ७/५५/८.
३४. ऋ. ७/८६/१; विश्वेश्वरनाथ रेउ, *ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि*, वाराणसी, १६६७, पृ. २१०; C. Chakraborty, *Common Life in the Rigveda and Atharvaveda*, pp. 7-8; Majumdar, *The Vedic Age*, London, 1952, p. 462.
३५. ऋ.७/५५; वेलणकर, *ऋक्सूक्तवैजयन्ती*, पूणें, १६६५, पृ. २३०.
३६. सुप्रावीरस्तु स क्षयः । ऋ. ७/६६/५.
३७. ताँस्त्रायस्व सहस्य द्रुहो निदो यच्छा नः शर्म दीर्घश्रुत् । ऋ. ७/१६/८.
३८. ध्रुवं यशश्छर्दिरस्मभ्यं नासत्या । ऋ. ७/७४/५.
३६. यासिष्टं वर्तिरश्विना विरावत् । ऋ. ७/६७/१०, ७/४०/५.
४०. प्रजावतीषु दुर्यासु दुर्य । ऋ. ७/१/११.
४१. अस्तं तात्या धिया रयिं सुवीरं पृक्षो नो अर्वा न्युहीत वाजी । ऋ. ७/३७/६.
४२. मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम् । ऋ. ७/८६/१.
ग्रिफिथ ने 'मृन्मय गृहम्' से कब्र का अर्थ लिया है ।
Griffith, *The Hymns of the Rigveda*, Vol. II, Varanasi, 1963.
४३. बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते । ऋ.७/८८/५.

४४. कीथ और मैकडॉनल, *वैदिक इण्डेक्स*, प्रथम भाग, पृ. २५५-५७; कैलाशनाथ द्विवेदी, *ऋग्वैदिक भूगोल*, कानपुर, १६८४, पृ. २०२-३; विश्वेश्वरनाथ रेउ, *ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि*, मोतीलाल बनारसीदास, १६६७, पृ. २१०.

४५. ऋ.सा.भा. १/३४/६.

४६. स त्रिधातु शरणं शर्म यंसत् । ऋ. ७/१०१/२.

४७. ऋ. ६/४६/६.

४८. ऋ. ८/४०/१२.

४६. त्रिवरूथम् शर्म । ऋ. ४/५३/६; त्रीणि वरूथानि गृहाणि स्थानानि यस्य तत्तादृशम्–सा.भा. एवं दया.भा. ।

५०. इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत् । ऋ. ६/४६/६.
त्रिधातु -त्रिप्रकारं त्रिभूमिकम्; त्रिवरूथम् - त्रयाणां शीतातपवर्षाणां वारकं गृहम्–सा.भा. । शीतोष्णवर्षासूत्तमम् छर्दिः–दया.भा. ।

५१. त्रिवरूथं मरुतो यन्त नश्छर्दिः । ऋ. ८/१८/२१.

५२. ऋ. ७/८८/५.

५३. ध्रुवे सदस्युत्तमे सहस्रस्थूण आसाते । ऋ. २/४१/५.
सहस्रस्थूणं विभृथः सह द्वौ । ऋ. ५/६२/६.

५४. ऋ. ७/८६/१.

[शोधप्रभा, डॉ. मण्डनमिश्र-अभिनन्दनाङ्कः, सं. डॉ. वाचस्पति उपाध्याय, श्रीलालबहादुरशास्त्री-राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ, दिल्ली, मार्च १६६७, खण्ड ३, पृ. ४५-४८ **में प्रकाशित** ।]

***

पक्षी-विवरण

वैदिक आर्यों के धर्म, चिन्तन और संस्कृति के सर्वाङ्गीण अध्ययन के लिए उनके परिवेश, प्राकृतिक सम्पदा और भौगोलिक परिस्थितियों का विश्लेषण अपेक्षित है। मनुष्य सदा ही अपने परिवेश से प्रभावित हुआ है। मानवीय परिवेश के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं –पशु-जगत् और वनस्पति-जगत्। ऋग्वैदिक ऋषियों ने सम्पूर्ण प्राणि-जगत् को दो भागों में बाँटा है– दो पैर वाले मनुष्य आदि और चार पैर वाले पशु आदि- **द्विपदश्चतुष्पदः** ।[१] पुरुषसूक्त में सर्वहुत् यज्ञ से हुई पशुसृष्टि के विवेचन के अन्तर्गत पशुजगत् को तीन भागों में विभाजित किया गया है – वायव्य, आरण्य और ग्राम्य ।[२] पशुओं में ग्राम्य पशु आर्यों की बहुमूल्य सम्पत्ति थे, क्योंकि इन पर ही उनकी आर्थिक स्थिति और पारिवारिक सुख निर्भर करता था। वे उनके दिन प्रतिदिन के जीवन में अतीव उपयोगी एवं सहायक थे। ऋग्वेद में ग्राम से भिन्न, मनुष्यों से दूर और कृषि-रहित प्रदेश को 'अरण्य' या 'वन' बताया गया है,[३] अतः उसमें बसने वाले पशु ही सामान्यतया **आरण्य** पशु कहे गये हैं। अरण्य की आत्मा के रूप में 'अरण्यानी' का वर्णन एक सम्पूर्ण सूक्त में किया गया है।[४] अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले या वायु सम्बन्धी प्राणी **वायव्य** पशु हैं, जिनकी साधारण संज्ञा **पक्षी** है। साक्षात् उपयोगी न होने पर भी परिवेश का अङ्ग होने के कारण आरण्य और वायव्य प्राणियों का मानवीय जीवन के लिए अतिशय महत्त्व है। यहाँ ऋग्वेद-संहिता में वर्णित पक्षियों का स्वरूप अध्येय है।

पक्षी-सामान्य

पक्षी-सामान्य के वाचक नामों में **शकुन**[५] और **शकुनि**[६] का उल्लेख

ऋचाओं में अपेक्षाकृत अधिक हुआ है । इनके समकक्ष ही **शकुन्तक,**[७] **शकुन्तिका,**[८] **शकुन्ति**[९] और **शकुन्त**[१०] शब्द भी पक्षियों के सूचक नाम हैं। इनसे पक्षियों को शुभाशुभ सूचक शकुनों का वाचक माना जाना द्योतित होता है । पक्षयुक्त होने से इनके लिए एक सामान्य नाम **पक्षी** भी कुछ बार प्रयुक्त हुआ है, जो उत्तरोत्तर संस्कृत में अधिक प्रचलित होता गया है ।[११] **वयस्** अथर्ववेद और बाद में पक्षी के लिए प्रयुक्त होने वाला एक अन्य साधारण नाम है, परन्तु ऋग्वेद में इस अर्थ में इसका प्रयोग कम है ।[१२] कुछ स्थलों पर **विः** पद का प्रयोग पक्षी के लिए हुआ है ।[१३] पंखयुक्त जीव के लिए **पतङ्ग** नाम ऋग्वेद में मिलता है जिससे सायण ने सूर्य एवं 'उत्पतनसमर्थ' और कीथ ने 'सूर्यपक्षी' का ग्रहण किया है ।[१४] इन सामान्य नामों से पक्षियों की साधारण विशेषताएँ छोटा होना, पंखों से हवा में उड़ना और मनुष्यों का ध्यान आकर्षित करने के कारण शकुन भाव को प्राप्त करना—द्योतित होती हैं।

पक्षियों के पंख (पर्ण), गति, आकार, वर्ण, ध्वनि आदि की ओर कतिपय सन्दर्भों और नामों में ध्यान दिया गया है । सुपर्ण, कृष्ण, हरित आदि नाम या विशेषण इसके प्रमाण हैं । इनके निवास 'घोंसले' के लिए **नीड** और **वसति** शब्दों का प्रयोग परवर्ती काल में पर्याप्त हुआ है ।[१५] यद्यपि ऋग्वेद में ये शब्द मात्र निवास-स्थान के वाचक हैं ।[१६] इसी प्रकार **कुलाय** शब्द अथर्ववेद और उत्तरवर्ती वैदिक ग्रन्थों में घोंसले के अर्थ में अनेकशः आया है,[१७] जबकि ऋग्वेद में एक बार ही 'नीडरस्थ' अर्थ में 'कुलायिन्' शब्द व्यवहृत हुआ है ।[१८] उनका निवास-स्थान रूप वृक्ष (वासोवृक्षम्) [१९] अवश्य ही उस ऋचा में प्रतिपादित हुआ है जहाँ दो सुपर्णों को समान वृक्ष का आश्रय लेने वाला बताया गया है ।[२०] पक्षियों के खाद्य पदार्थों का सङ्केत लगभग नहीं के बराबर है । ऋग्वेद में सुपर्ण को पिप्पल खाने वाला बताया गया है और अथर्ववेद में 'श्यामाक' को कपोतों का खाद्य बताया गया है ।[२१] अतः पक्षियों की विशेष विशेषताओं की चर्चा ऋचाओं में नहीं हुई है । स्वाभाविक है कि वैदिक ऋषि मन्त्रों में उनका उल्लेख प्रसंग, प्रेरणा या प्रतीक के रूप में कर रहे हैं, इसलिए स्वरूपगत सूक्ष्म विवेचन का वहाँ अवसर नहीं है ।

पक्षी-विशेष

ऋग्वेद की संहिता में कई विशेष पक्षियों के नाम प्राप्त होते हैं। सन्दर्भों

के अल्प होने से उनका स्वरूप या विशेषताएँ अधिकांशतया अविवेचनीय ही हैं। कुछ नाम एक या दो बार ही प्रयुक्त हुए हैं, और सन्दिग्ध अर्थों से समवेत हैं। पक्षियों के 'वायव्य' होने के कारण उनको ग्राम्य, आरण्य, जलचर आदि भागों में रखना अप्रासंगिक प्रतीत होता है। यहां ऋग्वेदसंहिता में प्राप्त पक्षी-विशेष के नामों को दो भागों में विभाजित किया जा रहा है :-

१. स्पष्ट स्वरूप वाले
२. अस्पष्ट स्वरूप वाले

स्पष्ट स्वरूप वाले पक्षी

(१) श्येन

ऋग्वेद में सर्वाधिक चर्चित पक्षी का नाम 'श्येन' है, जिसका प्रयोग एकवचन, द्विवचन और बहुवचन में हुआ है। पचास के लगभग इसके सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, जिनमें से कई बार इसका उल्लेख उपमान के रूप में है। मरुतों को श्येन पक्षी के समान अन्तरिक्ष में जाने वाला कहा गया है।[२२] इन्द्र से कहा गया है कि वह भयभीत, श्येन के समान निन्यान्नवे 'रजांसि' को पार करते चले जाते हैं।[२३] जैसे श्येन पक्षी अपने घोंसले की ओर दौड़ता है, वैसे उपासक 'धनदा' इन्द्र के पास गमन करता है।[२४] दधिका को श्येन के समान जाने वाला बताया गया है।[२५] अश्विनौ से प्रार्थना है कि वे श्येन के तुल्य वेगवान् घोड़ों से आ जाएँ।[२६] अन्तरिक्ष में चलने वाले और तीव्र गति वाले पक्षी के रूप में श्येन का वर्णन उसे एक शक्तिशाली और बड़े पक्षी के रूप में चित्रित करता है। 'शकुन्ति' अर्थात् छोटे पक्षी से कहा गया है कि 'तुम्हें श्येन न मारे, तुम्हें सुपर्ण न मारे।'[२७] इससे श्येन के इन दोनों पक्षियों से अधिक भयकारी और हिंसक होने का सङ्केत मिलता है। अन्यत्र छोटे पक्षियों या पशुओं पर आकाश से नीचे उतरते हुए झपट्टा मारने का उल्लेख उसकी आक्रमक प्रकृति और आकाश पर ऊपर उड़ने का द्योतक है।[२८] इसे अथर्ववेद में मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाला (नृचक्षस्) कहा गया है।[२९] ऋग्वेद में वर्णित 'श्येन' से 'बाज' का ग्रहण समीचीन प्रतीत होता है। कीथ और मैकडॉनल के अनुसार यह बाद के गरुड़ या गृध्र का नाम है। इसे दूर देश से सोम को लेकर सरल मार्ग से जाने वाला और देवताओं के साथ रहने वाला कहा गया है।[३०] जिससे प्रकट होता है कि इसकी

सीधी उड़ान को शुभ शकुन माना जाता था ।

(२) सुपर्ण

विशेष पक्षी के रूप में 'सुपर्ण' नाम का उल्लेख ऋचाओं में कई बार हुआ है । अपने नाम के अर्थ के अनुसार यह सुन्दर पंखों वाला पक्षी है। ऋग्वेद के विवरणों के अनुसार यह एक बड़ा पक्षी है ।[३१] ऋग्वेद के एक मन्त्र में इसे श्येन का वंशज या पुत्र बताया गया है ।[३२] एक अन्य मन्त्र में दोनों को भिन्न-भिन्न बताकर सुमंगलशंसि शकुनि को न मारने की प्रार्थना की गयी है ।[३३] इससे स्पष्ट होता है कि श्येन और सुपर्ण एक ही जाति के दो पृथक् पक्षी हैं, जो छोटी चिड़ियों का शिकार करते हैं। जातिगत समानता के कारण सुपर्ण को यदा-कदा श्येन या श्येन का विशेषण भी बताया गया है। इसी आधार पर त्सिमर, कीथ, मैकडॉनल आदि ने इससे बाज अथवा श्येन का तात्पर्य लिया है ।[३४] एक मन्त्र में सुपर्ण को अरुणवर्ण, शक्तिशाली, पराक्रमी, प्राचीन, निवासरहित (अनीड) और सर्वसमर्थ बताया गया है । वह जो कुछ जानता है वह सत्य ही है और वह अभिलषणीय सम्पत्ति को जीतकर स्तोताओं को देता है ।[३५] उसे अन्तरिक्ष में विचरण करने वाला अद्वितीय पक्षी कहा गया है।[३६] 'सुपर्ण' जीवात्मा या ब्रह्म का वाचक पद भी है ।[३७] एक प्रसिद्ध मन्त्र में जीवात्मा और ब्रह्म का वर्णन एक साथ रहने वाले, परस्पर सखा-भाव रखने वाले और एक ही वृक्षरूपी शरीर का आश्रय लेने वाले दो सुपर्ण पक्षियों के रूप में किया गया है ।[३८] अश्विनौ को **दिव्य सुपर्ण** कहा गया है ।[३९] अतः यह पद देवताओं के लिए प्रतीक के रूप में पर्याप्त ग्रहणीय रहा है ।

पक्षी के रूप में इसको तब 'गृध्र' का वाचक मानना भी सम्भव है, जब उत्तरवर्ती संहिताओं में इसके शवभक्षण का उल्लेख हुआ है ।[४०] अथर्ववेद में इसकी वाणी का वर्णन है और इसे पर्वतों पर रहने वाला कहा गया है।[४१] वैदिकोत्तर साहित्य में सुपर्ण एक पौराणिक पक्षी हो गया है, जिसे विष्णु के वाहन गरुड़ से समीकृत किया गया है । स्पष्ट ही ऋग्वेद में 'सुपर्ण' को एक शुभ, शीघ्रगामी और शक्तिशाली पक्षी समझना चाहिए, जो श्येन जैसा होकर भी उससे भिन्न है । एक मन्त्र में उसका शुभ शकुन रूप सुष्ठु

प्रतिपादित किया गया है, जहाँ वर्णन है कि सुपर्ण अपनी कभी भ्रान्त न होने वाली शक्ति से मनु के लिए देवों को प्रिय लगने वाली हवि को ले आया, वह अन्य पक्षियों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली और शीघ्रगामी है ।[४२]

(३) गृध्र

ऋग्वेद में लगभग नौ दस बार 'गृध्र' शब्द का उल्लेख हुआ है। यह शब्द एक बार सामान्य हिंसक पक्षी का द्योतक प्रतीत होता है, जब श्येन को गृध्रों में प्रमुख बताया गया है ।[४३] अन्यथा यह शिकारी या हिंसक पक्षी गिद्ध का वाचक है, जिसे तेज गति वाला[४४], इन्द्र द्वारा मारा जाने योग्य[४५] और दूर दृष्टि वाला[४६] बताया गया है । यह शब्द कुछ बार सुख के इच्छुक या लोभी व्यक्ति के अर्थ में विशेषण पद के रूप में भी व्यवहृत हुआ है ।[४७] ऋग्वेद के बाद भी गृध्र का उल्लेख होता रहा है । अथर्ववेद और अनन्तर सूत्र-साहित्य में इसे शवभक्षी अशुभ पक्षी के रूप में ग्रहण किया गया है ।[४८] ऋग्वेद में इसके अशुभ सूचक रूप का सङ्केत नहीं है।

(४) हंस

ऋग्वेद में 'हंस' का कतिपय बार उल्लेख हुआ है । मन्त्रों से इसके स्वरूप पर जो प्रकाश पड़ता है, उससे इसको वर्तमान जलचर पक्षी हंस का द्योतक मानना सरल है । ये जल पर तैरते हैं ।[४९] ये आकाश में श्रेणि बनाकर उड़ते हैं और इसके लिए उपमायोग्य हैं ।[५०] वे एक स्वर में बोलते हैं और इसके लिए ऋषि-पुत्रों को स्तोत्रगायन में उनकी समानता करने को कहा गया है ।[५१] वे शीघ्रता से उड़ते हैं इसलिए अश्विनौ से उनके समान वेगपूर्वक आने का अनुरोध है ।[५२] मरुतों से उसी प्रकार यज्ञ के समीप आने को कहा गया है, जैसे हंस अपने निवास-स्थान (स्वसराणि) के समीप जाते हैं ।[५३] हंसों को नीलीपीठ वाले (नीलपृष्ठाः हंसासः) कहा गया है ।[५४] वे अपने गमन-आगमन के लिए उपमान रूप में स्मरणीय रहे हैं ।[५५] अनन्तर संस्कृत-साहित्य में प्रसिद्ध उसके नीर-क्षीर-विवेकी स्वरूप का सङ्केत याजुष-संहिताओं में ही मिलता है, जहाँ हंस को जल से सोम को पृथक् करने वाला कहा गया है ।[५६]

(५) मयूर

ऋग्वेद 'मयूर' और 'मयूरी' से परिचित है। इसके कुल मिलाकर तीन सन्दर्भ ही उपलब्ध होते हैं। इन्द्र के अश्वों को मोर के समान रोएँ वाला और मोर के समान पूंछ वाला कहा गया है।[५७] इससे उसके सुव्यक्त बाह्य स्वरूप का आभास मिलता है। मयूरी के एक मात्र प्राप्त सन्दर्भ में इक्कीस मोरनियों के द्वारा विषहरण की चर्चा इस विश्वास का मूल प्रतीत होती है,[५८] जिसके अन्तर्गत मोर को विष के प्रतिकूल प्रभाव वाला माना जाता है।

(६) कपोत

ऋग्वेद-काल से ही कबूतर के लिए 'कपोत' नामक पक्षी के उल्लेख उपलब्ध हैं। एक मन्त्र में उपमा देते हुए ऋषि ने कपोत के साथ रहने वाली कपोती का सङ्केत किया है।[५९] ऋग्वेद का एक सम्पूर्ण सूक्त 'नैर्ऋतः कपोतः' ऋषि द्वारा दृष्ट है, जिसमें कपोत को 'निर्ऋति का दूत', 'पक्षिणी हेतिः' अर्थात् पक्षधारी और हनन का हेतु और उलूक से सम्बद्ध किया गया है।[६०] देवों से प्रार्थना की गयी है कि घर में भेजा गया कपोत हमारे लिए सुखकर और निष्पाप हो।[६१] प्रतीत होता है कि निर्जन स्थानों में रहने वाले कपोत पक्षी का गृहप्रवेश अमङ्गल का द्योतक माना गया है, इसीलिए कपोत विनाश और अशुभसूचक पक्षी के रूप में चित्रित है। उससे अन्नस्थान का परित्याग कर दूर उड़कर जाने की प्रार्थना भी यही सङ्केत करती है।[६२] अतः ऋग्वेद से ही कपोत को अपशकुन सूचक पक्षी मानने की धारणा प्राप्त होती है जो कालान्तर में अथर्ववेद आदि में और दृढ़ होती गयी है।[६३]

(७) उलूक

'उलूक' ऋग्वेद और उसके बाद भी उल्लू के लिए प्रयुक्त साधारण शब्द है। यह पक्षी कुछ बार ही उल्लिखित हुआ है। उलूक अपनी कटु ध्वनि के कारण विशेष रूप से जाना जाता था और दुर्भाग्य-सूचक शकुन समझा जाता था। ऋग्वेद में उलूक की ध्वनि को अपशकुन माना गया है।[६४] यहाँ उल्लू का राक्षसों से सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। एक स्थान पर वर्णन है कि द्रोहिणी राक्षसी उलूक (खर्गला) की भांति रात्रि के समय अपने शरीर को छिपाकर चलती है।[६५] अन्यत्र इन्द्र से हिंसा करने वाले उलूकों के समान राक्षसों को विनष्ट करने की प्रार्थना है।[६६] इसे भी कपोत की तरह अन्य

संहिताओं में निर्ऋति का दूत बताया गया है ।[६७]

(८) शुक

'शुक' नाम से तोता पक्षी का उल्लेख ऋग्वेद में एक बार आया है, जहाँ सूर्य से प्रार्थना में कहा गया है कि वे हरिमाण (पीत-रोग) को शुकों और रोपणाकाओं में स्थानान्तरित कर दें। इससे शुक की हरितमा या पीलेपन का ग्रहण सरल है। मन्त्र के अगले भाग में पुनः हरिमाण रोग को 'हारिद्रव' में स्थापित करने की प्रार्थना है ।[६८]

(९) चक्रवाक

चकवा पक्षी के लिए संस्कृत नाम 'चक्रवाक' का प्रयोग ऋग्वेद से ही देखा जा सकता है । संहिता में इसका एक बार द्विवचन में अश्विनौ के लिए उपमान के रूप में प्रयोग हुआ है । जिससे सरलतया चक्रवाक और चक्रवाकी का ग्रहण किया जा सकता है ।[६९] ध्यातव्य है कि साहित्य में इनका बहुचर्चित युग्म रूप ही ऋग्वैदिक सन्दर्भ का भी प्रतिपाद्य है।

(१०) चाष

नीलकण्ठ पक्षी का वाचक नाम 'चाष' ऋग्वेद के एक मन्त्र में प्रयुक्त हुआ है ।[७०] मन्त्र में यक्ष्म रोग को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि चाष और किकिदीवि पक्षी जैसे अत्यन्त वेग से उड़ जाते हैं, वैसे ही तुम भी उड़ जाओ। सायण ने इसे चाष नामक पक्षी और कीथ ने नीलां कठफोड़वा पक्षी के अर्थ में ग्रहण किया है ।

अस्पष्ट स्वरूप वाले पक्षी

(१) किकिदीवि

'चाष' के साथ केवल एक बार ऋग्वेद में प्राप्त होने वाला नाम 'किकिदीवि' स्पष्टतया पक्षी का वाचक होकर भी किस विशेष पक्षी को द्योतित कर रहा है- स्पष्ट नहीं हो पाता है । संस्कृत में यह नीलकण्ठ और चकवा के लिए प्रयुक्त प्रचलित नाम है । रॉथ ने इससे 'नीलकण्ठ' और अन्यत्र सायण ने इससे 'त्तित्तिर' का अर्थ लिया है ।[७१]

(२) हारिद्रव

'शुक' के प्रसंग वाले मन्त्र में ही 'हारिद्रव' का उल्लेख हुआ है, जिसमें

हरिमाण रोग के स्थानान्तरण की प्रार्थना की गयी है। अन्यत्र एक बार और 'हारिद्रव' का वनों के सान्निध्य में उल्लेख हुआ है।[७२] हरे रंग वाले 'हरिद्रव' से शुक ही अभिप्रेत है या कोई और पक्षी या वनस्पति– यह स्पष्ट नहीं हो पाता है। कीथ के अनुसार यह एक पीतवर्ण पक्षी है, जो सम्भवतः जलीय 'गोपीतनक' का नाम है। सायण ने इसे पौधा माना है और गेल्डनर ने इसकी खरद्रि अर्थात् ओस से तुलना की है।[७३]

(३) खर्गला

ऋग्वेद में केवल एक बार प्रयुक्त होने वाला शब्द 'खर्गला' रात्रि में अपने शरीर को छिपाकर चलने वाली राक्षसी के लिए उपमान की तरह व्यवहृत हुआ है।[७४] यह भाष्यकारों द्वारा उलूक या उलूकी के अर्थ में ग्रहण किया गया है। यह उल्लू ही है या कोई अन्य अशुभ-सूचक और रात्रि में विचरण करने वाला पक्षी– यह वैदिक सन्दर्भों से स्पष्ट नहीं हो पाता है।

(४) तार्क्ष्य

ऋग्वेद में 'तार्क्ष्य' नाम का प्रयोग दो बार हुआ है। एक बार अरिष्टनेमि तार्क्ष्य से स्वस्ति की कामना की गयी है।[७५] ऋ. १०/१७८ सूक्त में 'तार्क्ष्य' देवता है और 'अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्य' ऋषि। यहाँ भी तार्क्ष्य को अरिष्टनेमि कहा गया है, जिनका रथ या आयुध कभी भी नष्ट नहीं होता है। इसकी गति सहस्रों धनों को देने वाली है और बाण के लक्ष्य में संलग्न होने के समान इनकी गति को कोई रोक नहीं सकता है।[७६] तार्क्ष्य की उड़ानसम्बन्धी गतिविधियों को धनदायक रूप में शुभ कहा गया है, इससे उसको सुपर्ण पक्षी का ही एक विशेष नाम माना जा सकता है। कीथ के अनुसार यह नाम ऋग्वेद में एक दिव्य अश्व का वाचक है।[७७] खिल २/४/१ में यह पक्षी के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो सूर्य का प्रतीक भी है। एक अन्य दृष्टिकोण से तार्क्ष्य सुदृढ़ नेमि वाले शीघ्रगामी रथ का वाचक है।[७८]

(५) कपिञ्जल

ऋ. २/४२ और २/४३ में कपिञ्जलरूपी इन्द्र देवता है। 'कपिञ्जल' शब्द ऋग्वेद के मन्त्रों में नहीं आया है। उक्त सूक्तों में शकुन और शकुन्ति नाम से किसी सामान्य या विशेष पक्षी की चर्चा है जो सुमंगल और भद्रवादी

है। उससे अनुरोध है कि वह घरों में दाहिनी ओर बैठकर बोले।[७६] घर के दायीं ओर बैठकर उस पक्षी का बोलना शुभ समझा गया है। 'शकुन' से कपिञ्जल का ग्रहण सन्देहास्पद है। यजुर्वेद की संहिताओं में कपिञ्जल का अशुभसूचक कपोत, उलूक आदि से समीकरण करके उसका मृत्यु की देवता निर्ऋति से सम्बन्ध स्थापित किया गया है, जबकि ऋग्वेद में वर्णित 'शकुन' शुभाशंसि पक्षी है। यजुर्वेद के आधार पर कीथ ने इसे तित्तिर या तीतर का नाम बताया है[८०] और सूर्यकान्त ने चातक या पपीहे का।[८१] ऋग्वेदीय शकुन छोटे आकार और सामान्य वर्ण वाली कोई छोटी चिड़िया प्रतीत होती है।

(६) वर्तिका

ऋग्वेद में 'वर्तिका' नाम से एक पक्षी का उल्लेख तीन बार के लगभग हुआ है, जिसको अश्विनौ ने कष्ट से छुड़ाया था[८२] और भेड़िया के मुँह से बचाया था।[८३] एक अन्य मन्त्र में भी समान रूप से भेड़िये के मुँह में गिरी हुई वर्तिका को अश्विनौ द्वारा बचाये जाने का विवरण प्राप्त होता है।[८४] कीथ ने इससे एक पक्षी, सूर्यकान्त ने बटेर, सायण ने चटक-सदृशी शकुनि और सातवलेकर ने चटका या बटेर का अभिप्राय लिया है।

(७) कृष्ण

ऋग्वेद के एक सन्दर्भ में प्रयुक्त 'कृष्ण' शब्द किसी श्यामवर्ण पशु या पक्षी का द्योतक प्रतीत होता है।[८५] तैत्तिरीयसंहिता आदि दूसरे वैदिक ग्रन्थों के प्रमाण पर कीथ और सूर्यकान्त ने इससे हिंसक या शिकारी पक्षी का अभिप्राय लिया है।

(८) कोक

ऋग्वेद में 'कोक' नाम से किसी पक्षी का उल्लेख केवल एक बार **कोकयातु** समस्त पद के अन्तर्गत हुआ है। यह शब्द अथर्ववेद में भी केवल दो बार आया है। तीनों स्थानों पर सायण ने इससे 'चक्रवाक' का ग्रहण किया है। रॉथ ने इसे एक विनाशकारी परोपजीवी पशु माना है और कीथ ने इसे 'कोयल' का द्योतक बताया है।[८६]

(९) चिच्चिक

अरण्यानी के सूक्त में 'चिच्चिकः' नाम से 'ची ची शब्द करने वाले'

एक पक्षी का उल्लेख हुआ है, जो सम्पूर्ण ऋग्वेद में इसका एकमात्र विवरण है।[८७] यह अरण्य में रहने वाला कोई अज्ञात पक्षी प्रतीत होता है। अपने नाम से ही यह अनुकरणात्मक ध्वनि निकालने वाला एक छोटा पक्षी लगता है।

(१०) वृषारव

'चिच्चिक' के साथ ही ऋग्वेद में केवल एक बार प्रयुक्त नाम 'वृषारव' अपने अर्थ के आधार पर जोर से शब्द करने वाले किसी प्राणी या पक्षी का अभिप्राय देता है, किन्तु इसका स्वरूप अज्ञात ही है। सूर्यकान्त के अनुसार यह वृष के समान रांभने वाला पशु हो सकता है।[८८]

(११) वायस

ऋग्वेद में एक बार मिलने वाला 'वायस' नाम 'सुपर्ण' का विशेषण या विशेष्य है और इसलिए 'गमनशील' अर्थ में किसी पक्षी का वाचक माना जा सकता है।[८९] निरुक्त (४/१७) के आधार पर कीथ ने इससे किसी बड़े पक्षी का अभिप्राय लिया है। इसको षड्विंश ब्राह्मण (६/८) में काक के अर्थ में ग्रहण किया गया है। ऋग्वेद में इसका अर्थ अनिश्चित है।

(१२) आति

ऋग्वेद के एक प्रसंग में 'आति' नाम से किसी जलपक्षी का सङ्केत मिलता है। पुरुरवा और उर्वशी की कथा में अप्सराएँ उनके सम्मुख 'आतियों' के रूप में आती हैं।[९०] सायण ने 'आतिभूताः' अर्थ लिखा है और कीथ के अनुसार यह सम्भवतः हंसों का वाचक पद है।[९१] इस पक्षी का उल्लेख यजुर्वेद की संहिताओं में हुआ है। जहाँ एक बार सायण ने इसका अर्थ चाष (नीलकण्ठ) किया है[९२], किन्तु ऋग्वेद में प्राप्त मात्र एक सन्दर्भ से इसके स्वरूप का निर्धारण करना कठिन है।

ऋग्वेद में अज्ञात पक्षी

यहाँ उन पक्षियों की चर्चा करना आवश्यक है, जो भारतीय जनों के लिए प्राचीन और सुपरिचित पक्षी हैं एवं वैदिक साहित्य में उल्लिखित भी हैं, किन्तु ऋग्वेद के मन्त्रों में जिनका नाम नहीं आया है। **कृकवाकु** अर्थात् मुर्गा यजुर्वेद और अथर्ववेद की संहिताओं में प्राप्त नाम हैं।[९३] निरुक्त ने इसको कालसूचक बताया है।[९४] मुर्गा के लिए प्रचलित संस्कृत नाम **कुक्कुट**

मात्र यजुर्वेद में प्राप्त होता है।[९५] कृष्णपक्षी **काक** का उल्लेख इस नाम से ऋग्वेद या दूसरी संहिताओं में भी नहीं हुआ है। 'कृष्ण' या 'वायस' नामों से इसका अधिग्रहण कदाचित् संदिग्ध है। संस्कृत में सुपरिचित पक्षी कोयल का **कोकिल** नाम काठक अनुक्रमणी में एक राजपुत्र के नाम के रूप में उपलब्ध होता है, जिससे प्राचीन काल में इसके अस्तित्व का मात्र अनुमान लगाया जा सकता है।[९६] **कङ्क** नाम से सम्भवतः क्रौञ्च् पक्षी का उल्लेख सर्वप्रथम यजुर्वेद-संहिताओं में मिलता है।[९७] तीतर के लिए प्रचलित नाम **तित्तिर** और **तित्तिरि** बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में ही मिल रहे हैं।[९८] अतः अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋग्वेद में इन पक्षियों की चर्चा यदि हुई है, तो सामान्य पक्षी-नामों से ही, अन्यथा नामतः ये अज्ञात ही हैं।

ऋषि और देवता के वाचक पक्षी

ऋग्वेद में वर्णित कुछ पक्षियों के नामों को ऋषि और देवता के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। कपोतो नैर्ऋतः, सुपर्णः काण्वः, अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः, सुपर्णस्तार्क्ष्यपुत्रः और पतङ्गः प्राजापत्यः– नाम से ऋषियों के सूक्त हैं,[९९] तो कपिञ्जलरूपी इन्द्रः, इन्द्र श्येनो वा, कपोतौपहतौ प्रायश्चितम्, तार्क्ष्यः, श्येनः– कुछ सूक्तों या मन्त्रों के देवता बताये गये हैं।[१००] स्पष्ट है कि पक्षी-नामों का प्रयोग प्रतीक रूप में भी किया गया है।

पक्षी-निग्रह

जाल के लिए 'निधा' और जाल रखने वाले (सम्भवतः बहेलिया) के लिए 'निधापति' का प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है।[१०१] इससे संकेत ग्राह्य है कि पशुओं के आखेट के समान[१०२] पक्षियों को भी पाशबद्ध किया जाता था। यद्यपि स्पष्ट विवरणों का अभाव है। शतपथब्राह्मण में 'वायोविद्यिक' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसको 'पक्षी पकड़ने वाले' के अर्थ में लिया जाता है।[१०३]

पक्षियों से प्राप्त शकुन

शुभाशुभ सूचक 'शकुन' शब्द ऋग्वेद में पक्षी के लिए सामान्य नाम 'शकुन' से ही प्रचलित हुआ है– यदि यह स्वीकार किया जाये, तब यह तथ्य स्वतः स्थापित हो जाता है कि शकुन की धारणा का विकास ऋग्वेद से हुआ है। 'शकुन' नाम से सामान्य या विशिष्ट पक्षी के सुमंगल स्वर और दक्षिण

दिशा में बैठने को मांगलिक माना गया है। सुपर्ण शुभ पक्षी है। इसके विपरीत उलूक और कपोत को अशुभ और अनिष्ट का सूचक बताया गया है।

निष्कर्ष

ऋग्वैदिक पक्षी-विवरण के दो पक्ष हैं – (१) पक्षियों की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख (२) और विशेष पक्षियों की विशिष्ट विशेषताओं का उल्लेख। श्येन की अन्तरिक्ष में तीव्र गति, सुपर्ण के सुन्दर पंख और शक्ति, गृध्र की दूर दृष्टि, हंस की श्रेणि, मयूर की पूंछ, कपोत द्वारा अन्न-विनाश, उलूक की कर्कश ध्वनि, शुक का पीतवर्ण और चक्रवाक का दाम्पत्य रूप–ऋषियों के ध्यान को आकर्षित कर सका है। यही कारण है कि इनके उल्लेख उपमाओं में किये गये हैं। कुछ पक्षियों के नाम उनकी ध्वनि पर आधृत प्रतीत होते हैं–चिच्चिक, वृषारव आदि। हारिद्रव और कृष्ण नामों से पक्षियों के वर्ण को महत्त्व दिया गया है। स्वाभाविक है कि अपने प्राकृतिक परिवेश के महत्त्वपूर्ण वायव्य जीवों को मन्त्रों में उनकी विशिष्ट विशेषताओं के आधार पर ही यत्र-तत्र उल्लिखित किया गया है। अन्यथा पक्षी-सामान्य की साधारण विशेषताएँ बहुतायत से प्रेरणा, प्रतीक अथवा उपमानों के रूप में चित्रित हैं। ऋषि और देवता के नामों में उनको आम्नात करना उनके माहात्म्य का द्योतक है। ऋग्वेद की संहिता में प्राप्त पक्षियों का यह विवरण तत्कालीन समृद्ध प्राकृतिक एवं वन्य जीवन को प्रमाणित करता है। यह पक्षी-विषयक वैदिक ज्ञान में सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति की महत्ता सूचित करता है। निस्सन्देह इनमें से अनेक पक्षी-नाम आज तक उसी रूप में स्वीकार किये गये हैं। ऋग्वेद के पक्षी-विवरण में भारतीय पक्षी-विज्ञान का मूलस्रोत देखा जा सकता है।

सन्दर्भ–सङ्केत

१. य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः। ऋ. १०/१२१/३.
२. पशून्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये। ऋ. १०/९०/८.
३. ऋ. १/१६३/११, ६/२४/१०; अथर्व २/४/५; शत.ब्रा. १३/६/२/२०.
४. ऋ. १०/१४६.
५. ऋ. ४/२६/६, ९/८५/११, ९/८६/१३, ९/१०७/२०, ९/११२/२, १०/६८/७, १०/१०६/३, १०/१२३/६, १०/१६५/२.

६. ऋ. २/४२/१-२, २/४३/३.
७. ऋ. २/४३ के बाद खिल.
८. ऋ. १/१६१/१.
९. ऋ. २/४२/३, २/४३/१.
१०. अथर्व. ११/६/८.
११. ऋ. १/४८/५, १/१८२/५, ८/२०/१०, १०/१२७/५; अथर्व. ४/३४/४, ११/५/२१, १२/१/५१; का.सं. ३४/८; ऐ.ब्रा. ४/२३; बृह.उप. २/५/१८ इत्यादि.
१२. अथर्व. ३/२१/२, ३/५६/१, ७/६६/१, ८/७/२४; तै. सं. ३/१/१/१, ५/२/५/१ इत्यादि; पशवो वै वयांसि। शत. ब्रा. ६/३/३/७; निर्ऋतेर्वा एतन्मुखं यद् वयांसि यच्छकुनयः। ऐ.ब्रा. २/१५.
१३. पर्णं न वेः। ऋ. ४/४०/३, ४/२६/४-५.
१४. ऋ. १०/१७७/१-२, १/११८/४-५, १/११६/४; मैकडॉनल और कीथ, *वैदिक इण्डेक्स* (अनूदित), प्रथम भाग, पृ. ५३५.
१५. यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। यजु. ३२/८.
१६. ऋ. १/३३/२, ४/१/११,१२, १०/५/२, १०/५/६.
१७. अथर्व. ६/३/२०, १४/१/५७; तै. सं. ५/६/४/५; ऐ. ब्रा. १/२८; शत. ब्रा. ८/२/१/५ इत्यादि.
१८. ऋ. ६/१५/१६ (कुलायिनम्).
१९. *प्रश्नोपनिषद्* ४/७.
२०. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।ऋ. १/१६४/२०.
२१. अथर्व. २०/१३५/१२; तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति।ऋ. १/१६४/२०.
२२. श्येनाँ इव ध्रजतो अन्तरिक्षे। ऋ. १/१६५/२.
२३. श्येनो न भीतो अतरो रजांसि। ऋ. १/३२/१४.
२४. जुष्टां न श्येनो वसतिं पतामि। ऋ. १/३३/२.
२५. पर्णं न वेरनु वाति प्रगर्धिनः। ऋ. ४/४०/३.
२६. विभिः श्येनेव दीयतम्। ऋ. ५/७४/६.
२७. मा त्वा श्येन उद् वधीन्मा सुपर्णो त्वा। ऋ. २/४२/२.
२८. नीचायमानं जसुरिं न श्येनम्। ऋ. ४/३८/५.

२६. अथर्व. ७/४१/२.

३०. ऋजीपी श्येनो ददमानो अंशुं परावतः शकुनो मन्द्रं मदम् ।
ऋ. ४/२६/६.

३१. ऋ. १/१६४/२०, २/४२/२, ४/२६/४, ८/१००/८, ६/४८/३ इत्यादि.

३२. यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत् । ऋ. १/१४४/४.

३३. ऋ. २/४२/२.

३४. ऋ. ४/२६/४, १/३२/१४, ८/७१/६, ८/८४/३, ६/६८/६, ७/१०४/२२; कीथ और मैकडॉनल, वैदिक इण्डेक्स (अनूदित), द्वितीय भाग, पृ. ५०३.

३५. शाक्मना शाको अरुणः सुपर्ण
आ यो महः शूरः सनादनीळः ।
यच्चिकेत सत्यमित् तन्न मोघं
वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता ।। ऋ. १०/५५/६.

३६. एकः सुपर्णः समुद्रं आ विवेश । ऋ. १०/११४/४.

३७. सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तो बहुधा कल्पयन्ति ।
ऋ. १०/११४/५.

३८. ऋ. १/१६४/२०.

३६. दिव आजाता दिव्या सुपर्णा । ऋ. ४/४३/३.

४०. मै. सं. ४/६/१६; तै.आ. ४/२६.

४१. अथर्व २/३०/३, ५/४/२.

४२. प्र सु ष विभ्यो मरुतो विरस्तु प्र श्येनः श्येनेभ्य आशुपत्वा ।
अचक्रया यत् स्वधया सुपर्णो हव्यं भरन्मनवे देवजुष्टम् ।।
ऋ. ४/२६/४.

४३. श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानाम् । ऋ. ६/६६/६.

४४. गृध्रेव वृक्षं निधिमन्तमच्छ । ऋ. २/३६/१.

४५. सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र । ऋ. ७/१०४/२२.

४६. पश्यन् गृध्रस्य चक्षसा विधर्मन् । ऋ. १०/१२३/८.

४७. ऋ. १/१६०/७, ६/६७/५७.

४८. अथर्व. ११/१०/८,२४; कृष्णलाल शर्मा, *वैदिक साहित्य में शकुन एवं अद्‌भुत घटनाएं,* सहारनपुर, १६७०, पृ. १४२-४३.
४६. श्वसित्यप्सु हंसो न सीदन् । ऋ. १/६५/५.
५०. हंसा इव श्रेणियो यतन्ते । ऋ. १/१६३/१०.
हंसा एव श्रेणिशो यतानाः । ऋ. ३/८/६.
५१. हंसा इव कृणुथ श्लोकम् । ऋ. ३/५३/१०.
५२. हंसाविव पततमा सुताँ उप । ऋ. ५/७८/१.
५३. आ हंसासो न स्वसराणि गन्तन । ऋ. २/३४/५.
५४. ऋ. ७/५६/७.
५५. हंसाविव पतथो अध्वगाविव । ऋ. ८/३५/८.
५६. का.सं. ३८/१; मै.सं. ३/११/६; वा.सं. १६/७४; तै.ब्रा. २/६/२/१.
५७. मयूररोमभिः । ऋ. ३/४५/१; मयूरशेप्या । ऋ. ८/१/२५.
५८. त्रिः सप्त मयूर्यः...तास्ते विषं वि जभ्रिरे । ऋ. १/१६१/१४.
५६. कपोत इव गर्भधिम् । ऋ. १/३०/४.
६०. दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम । ऋ. १०/१६५/१.
हेतिः पक्षिणी न दुभात्यस्मान् । ऋ. १०/१६५/३.
यदुलूको वदति मोघमेतद्यत् कपोतः पदमग्नौ कृणोति ।
ऋ. १०/१६५/४.
६१. शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहेषु ।
ऋ. १०/१६५/२.
६२. हित्वा न ऊर्जं प्र पतात् पतिष्ठः । ऋ. १०/१६५/५.
६३. अथर्व. ६/२७/१, ६/२०/१, ६/८०/१.
६४. यदुलूको वदति मोघमेतत् । ऋ. १०/१६५/४.
६५. प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तम् । ऋ. ७/१०४/१७.
६६. उलूकयातुं शुशुलूकयातुम् जहि । ऋ. ७/१०४/२२.
६७. तै.सं. ५/५/१८/१; वा.सं. २४/३८.
६८. शुकेषु ये हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।
अथो हारिद्रवेषु मे हरिमाणं नि दध्मसि ।। ऋ. १/५०/१२.
६६. चक्रवाकेव प्रति वस्तोरुस्रा । ऋ. २/३६/३.

७०. साकं यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना । ऋ. १०/९७/१३.
७१. Roth and Bohtlingk, *St. Petersburg Sanskrit Worterbuch*; तै.सं. सा.भा. ५/६/२१/१.
७२. हारिद्रवेव पतथो वनेदुप । ऋ. ८/३५/७.
७३. कीथ और मैकडॉनल, *वैदिक इण्डेक्स*, द्वितीय भाग, पृ. ५५६; सूर्यकान्त, *वैदिक कोश*, पृ. ५९१; Geldner, *Rigveda, Glossar*, 213.
७४. ऋ. ७/१०४/१७.
७५. स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः । ऋ. १/८९/६.
७६. अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुम् । ऋ. १०/१७८/१; अथर्व. ७/९०/१.
सहस्रसाः शतसा अस्य रंहिर्न
स्मा वरन्ते युवतिं न शर्याम् । ऋ. १०/१७८/३.
७७. कीथ और मैकडॉनल, *वैदिक इण्डेक्स*, प्रथम भाग, पृ. ३४३.
७८. अथर्व. ७/९०/१; श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, *अथर्ववेद का सुबोध भाष्य*, पारडी ।
७९. अवक्रन्द दक्षिणतो गृहाणां सुमङ्गलो भद्रवादी शकुन्ते । ऋ. २/४२/३, २/४३/१.
८०. कीथ और मैकडॉनल, *वैदिक इण्डेक्स*, प्रथम भाग, पृ. १५२.
८१. सूर्यकान्त, *वैदिक कोश*, पृ. ८३.
८२. अमुञ्चतं वर्तिकामहंसो निः । ऋ. १/११८/८.
८३. अजोहवीदश्विना वर्तिका वाम् । ऋ. १/११७/१६.
८४. वृकस्य चिद् वर्तिकामन्तरास्यात् । ऋ. १०/३९/१३.
८५. आखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः । ऋ. १०/९४/५.
८६. ऋ. ७/१०४/२२; *वैदिक इण्डेक्स*, प्रथम भाग, पृ. २०९.
८७. वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः । ऋ. १०/१४६/२.
८८. सूर्यकान्त, *वैदिक कोश*, पृ. ४९२.
८९. दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तम् । ऋ. १/१६४/५२.
९०. ता आतयो न तन्वः शुम्भत स्वाः । ऋ. १०/९५/९.
९१. कीथ और मैकडॉनल, *वैदिक इण्डेक्स*, प्रथम भाग, पृ. ६४.
९२. तै. सं. ५/५/१३/१.

६३. तै. सं. ५/५/१८/१; मै. सं. ३/१४/१५; वा. सं. २४/३५, अथर्व. ५/३१/२, १०/१३६/१०.

६४. नि. १२/३.

६५. वा.सं. १/१६.

६६. Weber, *Indische Studien*, Vol. III, 460.

६७. तै.सं. ५/४/११/१; वा.सं. २४/३१; मै.सं. ३/१४/१२.

६८. तै.सं. २/५/१/२, ५/५/१६/१; मै.सं. २/४/१, ३/१४/१; का.सं. १२/१०; वा.सं. २४/३०/३६; शत.ब्रा. १/६/३/५, ५/५/४/६; जै.ब्रा. २/१५४/६.

६६. ऋ. १०/१६५, ८/५६, १०/१७८, १०/१४४, १०/१७७.

१००. ऋ. २/४२, २/४३, ४/२७/५, १०/१६५, १०/१७८, ४/२६/४-७, ४/२७/१-४.

१०१. गृभ्णाति रिपुं निधया निधापतिः । ऋ. ६/८३/४.

१०२. विश्वेश्वर नाथ रेउ, *ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि*, वाराणसी, १६६७, पृ.१६४-६५.

१०३. शत.ब्रा. १३/४/३/१३; सूर्यकान्त, *वैदिक कोश*, पृ. ४७६; कीथ और मैकडॉनल, *वैदिक इण्डेक्स*, द्वितीय भाग पृ. ३२२.

[**पावमानी, त्रैमासिक पत्रिका**, स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल प्रभात आश्रम, मेरठ, १६६७, द्वादश वर्ष, द्वितीय अङ्क, पृ. ३६-५१ **में प्रकाशित** ।]

***

१५

वाक्तत्त्व

वेद ज्ञानमय हैं । ज्ञान का कोई भी क्षेत्र इनका अविषय नहीं है। 'वाक्' ज्ञान का आधार है । वैदिक वाङ्मय में वाक्तत्त्व के विभिन्न पक्षों पर पर्याप्त विवेचन किया गया है। ऋग्वेद ही वाणी के स्वरूप, प्रकार, महत्त्व, अक्षरतत्त्व की महिमा और अर्थतत्त्व की महत्ता–जैसे अतिगम्भीर विषयों की सूक्ष्म समीक्षा प्रस्तुत करता है। विश्व में सर्वप्रथम भाषा पर किया गया चिन्तन यहीं उपलब्ध होता है । दर्शनीय है कि संहिता में 'भाषा' शब्द के प्रयोग का अभाव है । यहाँ भाषा के लिए सबसे अधिक 'वाक्' शब्द का प्रयोग किया गया है ।[१] इसके अतिरिक्त गिर, अघ्न्या, वाणी, धेनु और गो शब्दों का प्रयोग भी वाक् के अर्थ में किया गया है । कई बार 'अक्षर' और 'सुनृता' शब्द भी इस अर्थ में दिखायी देते हैं ।

ऋग्वैदिक दृष्टि में भाषा का संस्कारसम्पन्न स्वरूप 'वाक्' है । एक मन्त्र में कथन है कि इन्द्र ने अपनी वाणी की सिद्धि द्वारा विकृत बोलने वाले और अस्पष्ट बोलने वाले हजारों लोगों का संहार किया था।[२] सम्भवतः सुसंस्कृत वाणी 'वाक्', विकृत उच्चारणवाली वाणी विवाक् और अस्पष्ट वाणी 'मृध्रवाक्' है ।[३] कुछ संहिताओं एवं निरुक्त में मानव-व्यवहार की वाणी को सदा वाणी अथवा मानुषी वाक् कहा गया है-' ब्राह्मण दो तरह की वाक् बोलते हैं– दैवी और मानुषी ।'[४] इसे स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि दैवी वाणी मूलतः छन्दस् की वाणी है और मानुषी वाणी संस्कृत वाणी है ।[५]

ऋग्वेद में वाक्तत्त्व को विरूप और नित्य कहा गया है– 'वाचा विरूपनित्यया ।'[६] वाणी विरूप और अमूर्त होते हुए भी नित्य, अमर और शाश्वत है । ऋग्वेद की दृष्टि में वाक्तत्त्व का परम आधार ब्रह्म है, वही

वाणी का परम उत्पत्ति-स्थान है–

पृच्छामि वाचः परमं व्योम ।[७]

ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ।।[८]

वाक् के स्वरूप और प्रकारों के सम्बन्ध में एक ऋचा उल्लेखनीय है-

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।।[९]

अर्थात् 'वाणी चार प्रकार की है । मेधावी विद्वान् इसके ज्ञाता है। उसके तीन पद गुहा में निहित, बुद्धिगम्य और अज्ञात हैं; चौथे पद को ही साधारण मनुष्य बोलते हैं ।' इस मन्त्र की व्याख्या यास्क मुनि, पतञ्जलि आदि आचार्यों ने की है । यास्क की व्याख्या के अनुसार ऋषि का तात्पर्य है कि वाक्तत्त्व को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है । जैसे पद के चार रूप हैं, वैसे ही पदार्थ के भी । इन चारों के गूढ़ अर्थों को मेधावी और ज्ञानसम्पन्न ब्रह्मविद् ही जानते हैं । वाक् के तथाकथित चार पद कौन-कौन से हैं ? इस सम्बन्ध में यास्क ने नैरुक्त मत के अतिरिक्त कुछ दूसरे मत भी उद्धृत किये हैं :- (१) आर्षमत के अनुसार ओम्, भूः, भुवः, स्वः अर्थात् ओंकार और तीन महाव्याहृतियाँ- यही चार पद हैं । इसी मत का सम्पोषक विचार मनु का भी रहा है-

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च ।।[१०]

अर्थात् प्रजापति ने तीन वेदों से इन चार पदों को दुहा है - ओम्, भूः, भुवः और स्वः । सब वेदों का सार यही है। मेधावी ब्राह्मण इन्हीं चार पदों की खोज में सारी आयु बिता देते हैं । (२) वैयाकरणों के मत में ऋग्वेद में नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात - इन चार प्रकार के पदों का तात्पर्य है। इनमें तीन पद बुद्धिगम्य हैं और चौथे निपात पदों को सर्वसाधारण लोग बोलते हैं । (३) याज्ञिकों के मतानुसार यहाँ वाक् को मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण और व्यावहारिकी वाणी - इन चार भागों में विभक्त किया गया है । (४) और नैरुक्तों के विचार में वाक् को तो [illegible]

अथर्ववेद- इन चार भागों में विभाजित किया गया है। यास्क ने ब्राह्मणग्रन्थ का वचन उद्धृत किया है- 'उत्पन्न हुई वाणी चार प्रकार की हो गयी। उसके तीन भाग तीन लोकों में हैं और चौथा भाग पशुओं (मनुष्यों) में है। जो वाणी पृथिवी में है, वही अग्नि में है, वही रथन्तर-साम में है। जो वाणी अन्तरिक्ष में है, वही वायु में है, वही वामदेव्य-साम में है। जो वाणी द्युलोक में है, वही बृहत् साम में है, वही विद्युत् में है। और जो चौथी वाणी है, वह पशु अर्थात् मनुष्यों में है। उस चौथी से जो वाणी बढ़ी हुई है, उसको ब्राह्मणों में धरा हुआ है। इसीलिए ब्राह्मण दोनों प्रकार की वाणी बोलते हैं- एक देवताओं की, दूसरी मनुष्यों की - दिव्य और मानवी।[११]

पतञ्जलि ने उक्त ऋग्वैदिक मन्त्र की व्याख्या करते हुए वाक्तत्त्व के विषय में कहा है कि मनीषी ब्राह्मण ही उन विभागों को जानते हैं। टीकाकार नागेश ने पतञ्जलि की व्याख्या स्वीकार करते हुए चार वाक् परिमित पदों को दो चतुष्कों के रूप में ग्रहण किया है। इनमें से एक में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी – ये चार विभाग आते हैं तथा दूसरे में नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात-ये चार विभाग। इनके विचार में इनमें से तीन–परा, पश्यन्ती और मध्यमा गुहा में निहित हैं और चौथी 'वैखरी' ही मनुष्यों द्वारा बोली जाती है। अतः वाक् का चतुर्थांश ही ज्ञान का विषय है।[१२]

भर्तृहरि और उनके टीकाकार हेलाराज ने पूर्वोक्त मन्त्र से वैखरी आदि वाणी के चार प्रकारों का ग्रहण किया है और उनके स्वरूप आदि का विस्तार से विवेचन भी किया है।[१३] सायण ने भी उक्त मन्त्र में वाणी के इन्हीं चार भागों का अर्थ लिया है। वाणी के इन स्तरों में परा सूक्ष्मतम है और वैखरी स्थूल। अतः वाणी के चार स्तरों का चिन्तन ऋग्वेद से ही प्रारम्भ हुआ है। सामान्यतया मन्त्र से यह भाव ग्रहणीय है कि वाक्तत्त्व के तीन अंश व्यवहारातीत है और उसका केवल चतुर्थांश व्यवहार का विषय है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे ऋग्वैदिक पुरुषसूक्त का 'पुरुष' तीन अंशों से ऊपर उठ जाता है और एक अंश से ही सृष्टि के लिए यहाँ स्थिर रहता है–

त्रिपादुर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।[१४]

इस प्रकार वाक्तत्त्व के व्यापक स्वरूप से अवगत होने के कारण ऋषियों ने ऋग्वेद में व्यावहारिक और वैज्ञानिक दृष्टि से उसके विभाजन

का प्रयास किया गया है।

वाक्तत्त्व की महिमा है कि वह ब्रह्म के समान व्यापक है। ऋग्वेद में वर्णन है–

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था
यावद् द्यावापृथिवी तावदित् तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं
यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्॥[१५]

अर्थात् 'वाक्तत्त्व सहस्र प्रकार से व्याप्त है। जितनी और जहाँ तक द्युलोक और पृथिवी प्रतिष्ठित हैं, उतनी और वहाँ तक वाक्शक्ति प्रतिष्ठित है। इसकी महिमा और सामर्थ्य सहस्रों प्रकार से हैं। जहाँ तक या जितना अनेक प्रकार से ब्रह्मतत्त्व व्याप्त है, वहाँ तक या उतने ही प्रकार से वाक्तत्त्व भी व्याप्त है।' तात्पर्य है कि जैसे सहस्र महिमा वाले ब्रह्म का पार नहीं पाया जा सकता है, वैसे ही वाणी का पार भी नहीं पाया जा सकता है।

ऋग्वेद का विश्लेषण है कि अचेतन भी वाक्तत्त्व का उपयोग करते हैं, उनमें भी वाक्तत्त्व है **-यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि**।[१६] ऋषि आश्चर्य प्रकट करते हैं कि जब देवताओं को प्रसन्न करने वाला स्तोत्र प्रतिष्ठित होता है, तब चारों दिशाएँ अन्न और दूध अथवा जल का दोहन करती हैं, उसमें जो श्रेष्ठ वाक् है, वह किधर गमन करता है?[१७] उनका प्रतिपादन है कि वाक्तत्त्व को देवगण दीप्त करते हैं, उसी को विश्वरूप पशु और मनुष्य बोलते हैं। ऋषि आगे प्रार्थना करते हैं कि अन्न-रस प्रदात्री गाय के समान आनन्ददायिनी वह वाणी हमारे द्वारा स्तुत होती हुई हमको प्राप्त हो।[१८]

ऋग्वेद का वाक्सूक्त बड़ा ही विलक्षण और आकर्षक है। उसका ऋषि 'वागाम्भृणी' और देवता 'आत्मा' है। इसमें आठ मन्त्रों में वाक्तत्त्व ने अपने स्वरूप और महत्त्व का विवेचन उत्तम पुरुष के प्रयोगों द्वारा स्वगत शैली में किया है। ऋग्वैदिक ऋषि द्वारा वाक्तत्त्व के स्वरूप और महिमा का यह गम्भीर, स्पष्ट और विचारपूर्ण विश्लेषण भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी अध्ययनयोग्य है। इस सूक्त में वाक् का कथन है -'मैं रुद्रों, वसुओं, आदित्यों तथा विश्वदेवों के साथ विचरण करती हूँ। मैं मित्र और वरुण को धारण करती हूँ। मैं इन्द्र, अग्नि और अश्विनूद्वय को धारण करती हूँ। पाषाण

द्वारा पीस कर जो सोम प्रकट होते हैं, मैं उन्हें धारण करती हूँ। मैं त्वष्टा, पूषन् तथा भग का पालन करती हूँ। मैं यज्ञिय पुरुषों को ऐश्वर्य से समृद्ध करती हूँ। मैं राज्यों की अधिष्ठात्री और धन प्रदान करने वाली हूँ। मैं ज्ञान से सम्पन्न हूँ। मैं यज्ञ में प्रयुक्त साधनों में श्रेष्ठ हूँ। मैं प्राणियों में वास करती हूँ। देवताओं ने मुझे अनेक स्थानों में स्थापित किया है। प्राण-धारण, श्रवण, दर्शन, भोजन आदि सब कर्म मेरी सहायता द्वारा ही किये जाते हैं। मुझे न मानने वाले क्षीणता को प्राप्त होते हैं। हे विज्ञ ! मैं जो कहती हूँ, वही यथार्थ है। मैं स्वयं यह कहती हूँ कि देव और मनुष्य सभी मेरी उपासना करते हैं, मेरा आश्रय लेते हैं और मेरा उपयोग करते हैं। मेरी जिस पर दयादृष्टि होती है, उसको उग्र कर देती हूँ, उसको ब्रह्मवित् बना देती हूँ, उसको ऋषि बना देती हूँ, उसको मेधावी और प्रतिभाशाली बना देती हूँ। मैं ब्रह्मद्वेषी के विनाश के लिए रुद्र को शक्तिसम्पन्न करती हूँ। मैं ही आकाश-पृथिवी में व्याप्त होकर मनुष्य के लिए संग्राम करती हूँ। इस सृष्टि के मूर्धा में मैं इसके पिता को प्रेरित करती हूँ। मैं समुद्र के अन्तस्तल में वास करती हूँ, मुझसे ही समस्त विश्व का उद्भव हुआ है। मैं अपने शरीर से द्युलोक को स्पर्श करती हूँ। मैं जब लोकों को रचती हूँ, तब वायु के समान सर्वत्र विचरण करती हूँ। मैं द्युलोक और पृथिवी से परे हूँ। मैं इतनी महिमा से सर्वत्र विद्यमान हूँ'।[१९] अतः वाक् प्रेरिका, सर्जिका, पालिका और संहारिका शक्ति है।

ऋग्वेद के अनुसार अक्षरतत्त्व अमरत्व का साधन है, उसी में समस्त तत्त्वों का समावेश है। एक मन्त्र में कहा गया है कि समस्त देव अक्षर-तत्त्व के द्वारा ही सातों वाणियों अर्थात् सात छन्दों को नापते हैं -**अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः**।[२०] अर्थ है कि अक्षरतत्त्व के द्वारा ही सात छन्दों को रचा गया है। एक दूसरे मन्त्र के अनुसार परब्रह्म परमात्मा आकाश के समान व्यापक और वेदमन्त्रों के अक्षरों के समान अविनाशी है। जिस प्रकार परमात्मा में देवगण निवास करते हैं, उसी प्रकार वेदमन्त्रों के अक्षरों में उसकी वाणी निवास करती है। ऋचाएँ सर्वोत्कृष्ट सर्वरक्षक अक्षर में स्थित हैं। सब देवता उस पर आश्रय लिये हुए हैं। जो इस बात को नहीं जानता, वह ऋचा से क्या लाभ उठाएगा ? जो इसे जानता है, वह विद्वान् ही उत्तम

स्थान में बैठता है ।[२१] तात्पर्य है कि अक्षरतत्त्व वेद के प्रत्येक अक्षर में व्याप्त है, वही ज्ञान-विज्ञान का आधार है । निरुक्त में इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए यास्क ने प्रश्न किया है– कौन है वह अक्षर ?[२२] उत्तर में उन्होंने आचार्य शाकपूणि का मत उद्धृत किया है कि 'ओम्'- यह वाणी ही अक्षर है और ऋग्वेद आदि सब वेद इसी उत्कृष्ट सर्वरक्षक ओम्पदवाच्य अक्षर में स्थित हैं । नाना देवता वाले मन्त्रों में भी यही अक्षर प्रतिपादित है। कठोपनिषद् ने परम अक्षरतत्त्व के रूप में ओम् की महिमा गायी है- **एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम्** ।[२३] अतः अक्षर ब्रह्म है, ब्रह्म ही अक्षर है । दोनों ही नित्य हैं, शाश्वत हैं ।

वाक्तत्त्व का आवश्यक पक्ष है– अर्थतत्त्व । अर्थज्ञ प्रशंसनीय है और अज्ञानी निन्दनीय । ऋग्वेद में अर्थज्ञान की उपयोगिता और अनिवार्यता की सूक्ष्म मीमांसा प्राप्त है । ऋषि का कथन है–

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच-
मुत त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासाः ।।[२४]

अर्थात् एक व्यक्ति जो अर्थ का ज्ञान नहीं रखता है, वाणी को देखता हुआ भी उसे नहीं देखता है और इसको सुनता हुआ भी नहीं सुनता है, क्योंकि अर्थशून्य होने के कारण वह इससे कोई लाभ नहीं उठा पाता है । यह वाणी किसी अर्थग्राही के प्रति उसी प्रकार अपने शरीर को खोलकर रख देती है, जिस प्रकार कामयमाना शोभनवसना पत्नी पति के लिए स्वयं को विवृत कर देती है । ऋग्वैदिक दृष्टि में अर्थ को न जानने वाला व्यक्ति अफला, अपुष्पा वाणी को सुनता हुआ मानो नकली, दूध न देने वाली गाय रूपी वाणी के साथ विचरता रहता है । वाणी का अर्थ ही उसका पुष्प और फल है ।[२५] अवाग्विद् व्यक्ति अर्थों को न जानने के कारण वाणी से कोई भी प्रयोजन सिद्ध करने में असमर्थ रहता है । उसकी वाणी निष्फलवती होती है । अतः वाक्तत्त्व की सफलता यही है कि शब्दतत्त्व के साथ-साथ अर्थतत्त्व का भी ठीक-ठीक ज्ञान हो जाएँ । इसीलिए निरुक्तकार यास्क ने कहा है–

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद्

अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ।।[२६]

अर्थात् जो वेद को पढ़ता है, परन्तु उसका अर्थ नहीं जानता, वह भारवाहक के समान है। जैसे कोई वृक्ष फल, पुष्प आदि के बोझ से लदा रहता है किन्तु उसके उपभोग से वंचित रहता है, वैसे ही उस व्यक्ति का शास्त्राध्ययन निरर्थक है। जो व्यक्ति अर्थों को जानता है, वही समस्त कल्याण को प्राप्त कर सकता है। ज्ञान से झड़े हुए पाप वाला वह व्यक्ति स्वर्ग को जाता है।

अपने व्यवहार में मनुष्य वाणी का प्रयोग किस प्रकार करें, इस पर भी ऋचाओं में विचार प्रकट किये गये हैं। एक मन्त्र में कहा गया है, 'जैसे छाननी से शुद्ध करके सत्तू का प्रयोग करते हैं, वैसे ही धीर जन जब मनरूपी चलनी से वाणी को पवित्र करके उसका प्रयोग करते हैं; तभी सखाजन सखीभाव को जानते हैं, क्योंकि इन धीरजनों की वाणी को आधार बनाकर भद्रा लक्ष्मी स्थित होती है।'[२७] मूर्ख का मन वाणी में रहता है और ज्ञानी की वाणी मन में। ज्ञानी और समझदार लोग विचार करने के बाद बोलते हैं, इस से उनकी वाणी गरिमामयी बनती है और वे आदर के पात्र। मित्रों के बीच मित्रता भी उन्हीं की रह पाती है, जो मन से पवित्र करते हुए वाक् का प्रयोग करते हैं। वाणी का मन से अटूट सम्बन्ध है। वाणी मन का उत्तर पक्ष है क्योंकि पहले सोचते हैं, फिर कहते हैं। इसलिए वाणी का प्रयोग मनपूर्वक किया जाना चाहिये। वाक् शक्तिरूपिणी है, वह अपना दुरुपयोग करने वालों का ह्रास करती है। वाणी के दोषों का परिहार करते हुए क्रान्तदर्शी विद्वानों ने उसे पवित्र बनाया है **-वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः।**[२८]

अन्त में कह सकते हैं कि वाक्तत्त्व की गहनता और सूक्ष्मता ऋग्वैदिक ऋषियों के लिए कोई पहेली नहीं थी। मन्त्रों में वाक्तत्त्व के विविध पक्षों पर सहजरूप से प्रकट हुए उनके विचार भाषाविज्ञान की दृष्टि से सुविचारित और दूरदर्शितापूर्ण हैं। यजुर्वेद ने सत्य ही ऋग्वेद को वाक्तत्त्व की व्याख्या करने वाला कहा है - **ऋचं वाचं प्रपद्ये।**[२९]

सन्दर्भ–सङ्केत

१. ऋ. १/४०/६, ८/६/१६, ६/६५/५ इत्यादि.
२. यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान। ऋ. १०/२३/५.
३. हरिसिंह सेंगर, *भारतीय अर्थविज्ञान*, दिल्ली, १६७८, पृ. १७७.
४. तस्मात् ब्राह्मण उभे वाचो वदति दैवी च मानुषी च। मै. सं. १/११/५; का.सं. १४/५.
तस्मात् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्। नि. १३/६.
५. उदयनारायण तिवारी, *भाषा विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास*, इलाहाबाद, १६८३, पृ. १.
६. ऋ. ८/७५/६.
७. ऋ. १/१६४/३४.
८. ऋ. १/१६४/३५.
६. ऋ. १/१६४/४५; अथर्व. ६/१०/२७.
१०. मनु. २/७६.
११. नि. १३/६.
१२. *महाभाष्य*, आह्निक १.
१३. *वाक्यपदीय* १/१४४.
१४. ऋ. १०/६०/४.
१५. ऋ. १०/११४/८.
१६. ऋ. ८/१००/१०.
१७. चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम। ऋ.८/१००/१०.
१८. देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु।। ऋ.८/१००/११.
१६. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। ऋ. १०/१२५/१ इत्यादि.
२०. ऋ. १/१६४/२४.

२१. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा
अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद्
विदुस्त इमे समासते ।। ऋ. १/१६४/३६.

२२. नि. १३/१०.

२३. कठ उप. १/२/१६.

२४. ऋ. १०/७१/४.

२५. अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् । ऋ. १०/७१/५.

२६. नि. १/१८.

२७. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ।।
ऋ.१०/७१/२.

२८. ऋ. ६/७३/७.

२९. यजु. ३६/१.

[**भाषा, त्रैमासिक,** केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, मार्च १९८६, वर्ष पच्चीस, अंक तीन, पृ. ३०-३२ **में प्रकाशित** ।]

***

नपुंसकलिङ्ग-शब्द 'वसु'

ऋक्संहिता में 'वसु' शब्द पुंल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग- दोनों रूपों में प्राप्त होता है। पुंल्लिङ्ग एकवचन 'वसु' शब्द भास्वर, अच्छा, श्रेष्ठ, हितैषी, समृद्ध आदि अर्थों में कई देवों के लिए उपाधि या विशेषण के रूप में दिखायी देता है। अपेक्षाकृत अधिक बार इन्द्र और अग्नि को 'वसु' कहा गया है जहाँ यह 'सर्वस्य वासकः', 'सर्वेषामावासभूतः', 'वासयिता', 'निवासयिता', 'आच्छादयिता', 'निवासहेतुः' आदि अर्थों में ग्राह्य है। यह 'वसुः वासयति सर्वम्' व्युत्पत्ति द्वारा √ वस् (निवासे) + उ से 'सर्ववासक' और √ वस् (आच्छादने) + उ से 'सर्वाच्छादक' अर्थ में विशेषण है। ऋग्वेद में इसका बहुवचन रूप 'वसवः' एक विशेष देवगण का वाचक है।[१] यास्क ने देवतावाची 'वसु' पद को आच्छादनार्थक √ वस् से व्युत्पन्न माना है।[२] वसुगण का इन्द्र से विशेष सम्बन्ध है।[३] यास्क ने इन्द्र और अग्नि को 'वासवः' कहा है, क्योंकि वे वसुओं के साथ रहते हैं। मोनियर विलियम्स ने माना है कि ऋग्वेद में इन्द्र ही वसुओं के प्रधान हैं, जबकि परवर्ती वैदिक ग्रन्थों में अग्नि और विष्णु वसुओं के नेता के रूप में दिखायी देते हैं।[४]

वसुगण में वसुओं की संख्या आठ मानी गयी है। शतपथ ब्राह्मण में अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र– आठ वसु बताये गये हैं, क्योंकि इनके द्वारा सब ढ़का हुआ है।[५] ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में प्राणों को वसु बताया गया है, क्योंकि इनके द्वारा सब रहते हैं या निवास करते हैं।[६] महाभारत और विष्णुपुराण के अनुसार आठ वसुओं के नाम हैं - आप (या अह), ध्रुव, सोम, धर (या धव), अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास।[७]

नपुं० 'वसु' शब्द के अमरकोष में रत्नम् और धनम्; मेदिनीकोष में वृद्धौषधम् और श्यामम्; विश्वप्रकाश नामक कोष में हाटकम्; सिद्धान्तकौमुदी में जलम्; हलायुधकोष में धनम्, रत्नम्, हाटकम्, जलम्, वृद्धौषधम्, श्यामम् आदि; आप्टे-संस्कृत-इंगलिश-कोष में धनसम्पत्ति, रत्नादि, स्वर्ण, जल, लवणविशेष (रोमक) इत्यादि; मोनियर विलियम्स के संस्कृत-इंगलिश-कोष में धन-सम्पत्ति, जायदाद, वैभव; मैकडॉनल के संस्कृत-इंगलिश-कोष में धन-सम्पत्ति, स्वर्ण, रत्न; रॉथ और बोथलिंक के संस्कृत-जर्मन-कोष में धनसम्पत्ति, जायदाद इत्यादि; ग्रासमान के संस्कृत-जर्मन-कोष में सम्पत्ति; सूर्यकान्त के वैदिक-कोश में धन तथा कीथ और मैकडॉनल के वैदिक इण्डेक्स में धन अथवा सम्पत्ति–अर्थ प्राप्त होते हैं । यहाँ ऋक्संहिता में नपुं० 'वसु' शब्द के प्राप्त सभी प्रयोगों की विवेचना करते हुए उसके अर्थ के अवबोधन का प्रयास किया जा रहा है ।

ऋग्वेद की संहिता में नपुं० 'वसु' के विभक्तिरूपों का प्रयोग लगभग २३६ बार हुआ है । स्कन्दस्वामी, वेङ्कटमाधव, मुद्गल, सायण प्रभृति प्राचीन और सातवलेकर, ग्रिफिथ, विलसन, गेल्डनर आदि अर्वाचीन भाष्यकारों ने अधिकतर स्थलों पर उससे 'धन' का अभिप्राय लिया है । सायण ने 'वसु' के 'धन' अर्थ की व्याख्या वेदार्थ की सङ्गति के अनुसार मनुष्यों द्वारा इच्छित विविध भौतिक पदार्थों के रूप में की है, यथा-ऐहिकभोग-साधन और स्वर्गाख्य धन[८], गवादिलक्षणधन[९], गवाश्वादिरूपधन[१०], हविर्लक्षण-धन[११], यज्ञसाधनभूतहविरादि[१२], आज्यादिरूप धन[१३] इत्यादि । स्वामी दयानन्द ने 'वसु' को **वासक तत्त्व** मानते हुए उसकी व्याख्या अलग-अलग रूपों में की है, यथा– विद्या, आरोग्य, सुवर्ण आदि[१४], विज्ञान[१५], धन[१६], विद्यादिधनसमूह[१७], जल[१८] इत्यादि । सायण ने 'धन' के अतिरिक्त कुछ दूसरे अर्थ भी लिये हैं, जिनकी संख्या कम ही है, यथा, हवियों के वासक 'यजमान' वसु हैं[१९], हमारे निवास की हेतुभूत उषःकालीन ज्योति 'वसु' है[२०] और हविष् 'वसु' है ।[२१] उन्होंने वसु को √ वस् (आच्छादने) से व्युत्पन्न मानकर 'आच्छादक' अर्थ में कभी वस्त्र[२२], तेजस्[२३] और तमस्[२४] का बोधक भी स्वीकार किया है । ऋक्संहिता में ९९ बार प्रयुक्त नपुं० 'वसु' पद को सायण ने दो स्थानों[२५] के अतिरिक्त सर्वत्र धनवाची माना है । इससे सिद्ध होता है कि ऋक्संहिता में 'वसु' से **धन**

का अभिप्राय ही उन्हें अधिक अभिप्रेत रहा है। निश्चय ही इसका आधार निघण्टु है,[२६] जहाँ धन के २८ पर्यायों में 'वसु' भी परिगणित है।

आचार्य यास्क ने निरुक्त में 'धन' अर्थ में 'वसु' पद की निरुक्ति नहीं दी है। सायणभाष्य के अनुसार √वस् (निवासे) में 'उ' प्रत्यय[२७] लगकर 'वसु' शब्द की सिद्धि हुई है। इसीलिए 'वासयति सर्वम्'[२८], 'सुखेन वसन्ति येन तद्',[२९] 'वसति अनेन इति वसु'[३०] इत्यादि व्याख्याओं के आधार पर अर्थ किये गये हैं–निवासहेतु, निवासयोग्य, निवासभूत, वासक, निवासक, आच्छादक इत्यादि। अतः व्युत्पत्तिजन्य अर्थ के अनुसार 'वसु' वह तत्त्व है, जिसके द्वारा बसा जाता है अर्थात् जो निवास का हेतु है। ऋचाओं में 'वसु' उस तत्त्व का नाम है, जो मनुष्यों के लिए श्रेष्ठ है, उत्तम है, वरेण्य है, वरणीय है। सामान्यरूप से यह ऐश्वर्य या धन-सम्पत्ति का वाचक है, क्योंकि वही सुखपूर्वक निवास का आधार है। परन्तु अर्थव्याप्ति से मनुष्य द्वारा अभीष्ट सभी पदार्थ 'वसु' नाम से जाने जा सकते हैं। अतः साधारण जन के लिए 'वसु' यदि सुवर्ण, रत्न, धन आदि है, तो विद्वान् और ज्ञानी के लिए वह प्रशस्त विद्या या उत्तम ज्ञान है। जो भी हो, 'वसु' वह तत्त्व है, जो मनुष्यों के वास्तविक अस्तित्व के लिए अति आवश्यक माना गया है और इसीलिए वह बार-बार प्रार्थनीय रहा है। अनेक देवों से, जैसे-इन्द्र[३१], वरुण[३२], पूषन्[३३], अग्नि[३४], द्रविणोदाः[३५], राका देवी[३६] और मण्डूक[३७] से 'वसु' चाहा गया है।

ऋग्वेद में नपुं० 'वसु' के स्वरूप का किञ्चित् वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम विचारणीय है कि 'वसु' का अधिष्ठाता कौन है? **वसुपति** शब्द का प्रयोग ऋचाओं में १५ बार हुआ है। जिनमें से ९ बार इन्द्र को, ५ बार 'अग्नि' को और एक बार 'सविता' को 'वसुपति' कहा गया है। अतः ऋषियों के अनुसार इन्द्र और अग्नि वसु के अधिपति हैं।[३८] ऋग्वेद में एक मात्र इन्द्र को ही **वसुदा** विशेषण दिया गया है, जहाँ वसु के दाता इन्द्र की स्तुति का आदेश है।[३९] अन्यत्र कहा गया है कि वे वसु को देना जानते हैं।[४०] वसुपति इन्द्र ही वसुओं का स्वामित्व करते हैं।[४१] संसार का सारा वसु इन्द्र के हाथों में बताया गया है– उनके हाथों में पांच प्रकार की प्रजाओं का सारा वसु रहता है।[४२] वे अकेले सब वसुओं के राजा है।[४३] इन्द्र के पास ही सर्वाधिक वसु है।[४४] इन्द्र पार्थिव वसु के एकमात्र स्वामी, निधानभूत

और ईश्वर हैं ।[४५] इन्द्र स्वयं घोषित करते हैं कि 'मैं वसु का मुख्य असाधारण पति हूँ' ।[४६] इन्द्र के समान ही अग्नि भी वसुओं के अधिष्ठाता बताये गये हैं । कहा गया है कि अध्वर में शोभित होने वाले अग्नि वसुओं के निवासयिता या स्थान हैं ।[४७] वे वसुओं पर शासन करते हैं [४८] और उसकी प्राप्ति कराते हैं ।[४९] अग्नि सभी वसुओं को प्राप्त करने वाले हैं ।[५०] तीनों लोकों में विद्यमान 'वसु' अग्नि की कृपा से ही प्राप्त होता है ।[५१] इसीलिए वे **वसुपति** और **वसुदावन्** हैं ।[५२] इस प्रकार इन्द्र और अग्नि से वसुतत्त्व का सम्बन्ध बहुविध है। देवता अधिकारी को ही 'वसु' देते हैं । दाता, स्तोता और यज्ञकाम अभिषवणकर्त्ता वसुप्राप्ति के योग्य होता है ।[५३] अनेक बार इन्द्र आदि देवों द्वारा दानी मनुष्य के लिए वसु देने की बात की गयी है ।[५४] अश्विनद्वय कान्ति वाले रथ से दानी के लिए हमेशा 'वसु' ढोकर पहुंचा देते हैं ।[५५] अतः ऋक्संहिता की दृष्टि में दान आदि कई मानवीय सद्गुणों से सम्पन्न व्यक्ति द्वारा ही 'वसु' प्राप्त किया जा सकता है । विमद ऋषि के लिए 'वसु' पहुँचाने की चर्चा[५६] का निहितार्थ सम्भवतः यही है कि वसु की प्राप्ति अहंकाररहित व्यक्ति को होती है ।[५७] **श्रद्धया विन्दते वसु** के अनुसार श्रद्धावान् ही वसु को प्राप्त करते हैं ।[५८]

ऋचाओं में नपुं० 'वसु' के लिए जिन विशेषण-पदों का प्रयोग किया गया है, उनकी समीक्षा से 'वसु' शब्द के वैदिक अभिप्राय पर किञ्चित् प्रकाश पड़ता है । 'वसु' को सायण द्वारा वरणीय और सातवलेकर द्वारा सर्वश्रेष्ठ या उत्कृष्ट होने से 'वार्य'[५९] और 'वरेण्य'[६०], वननीय होने से 'वाम'[६१], अतिशय प्रशस्त होने से 'श्रेष्ठ'[६२], स्पृहणीय होने से 'स्पार्ह',[६३] बहुतों द्वारा स्पृहणीय होने से 'पुरुस्पृह'[६४] और 'स्पृहयाय्य'[६५] इच्छित या कमनीय होने से 'काम्य'[६६], अच्छी तरह से ले जाने योग्य होने से 'सुनर'[६७], अभीष्ट होने से 'प्रिय'[६८], इच्छा का पूरक होने से 'संपारण'[६९] इत्यादि कई विशेषण बार-बार दिये गये हैं । स्पष्ट है कि वसु मनुष्यों के लिए महनीय और अभीष्ट तत्त्व है। अनेक बार 'विश्वं वसु' या 'विश्वा वसूनि' का उल्लेख हुआ है,[७०] जिससे सभी प्रकार के वसु या सम्पूर्ण वसु अभिप्रेत हैं । ऋचाओं में वसु के प्रकारों का यदा-कदा वर्णन उनके अनेकविध होने का प्रमाण है । 'दिव्यम्' और 'पार्थिवम्' वसु का साथ-साथ कई बार उल्लेख हुआ है ।[७१] इसीलिए जब

द्विता वसूनि कहा गया है,[७२] तब सायण द्वारा 'दिव्यपार्थिवरूपेण द्वैधं वर्तमानानि वसूनि' व्याख्या दी गयी है। यहाँ पर 'विश्वानि' विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है, जिससे दोनों प्रकारों के भी अनेकशः होने का भाव प्रकट होता है। कभी केवल पार्थिव वसु का उल्लेख हुआ है।[७३] अन्यत्र वसु को तीनों लोकों से सम्बद्ध किया गया है-दिव्य, आन्तरिक्ष्य और पार्थिव वसु।[७४] एक मन्त्र में स्तोता ने अग्नि से तीनों लोकों में स्थित वसु की याचना की है।[७५] अतः ऋग्वैदिक दृष्टि में वसु वह अतिव्यापक तत्त्व है, जो स्वरूपतः सीमित नहीं है।

कुछ मन्त्रों में 'वसु' के स्वरूप पर भी विस्तार से वर्णन किया गया है। अग्नि से प्रार्थना है कि वे ऐसा 'वसु' शीघ्र प्रदान करें, जो सहस्रसंख्यक, पुत्रपौत्रादिसहित, पोषकारक, दीप्तिमान्, सामर्थ्यशाली, अतिशयवृद्ध और व्यय करने पर भी क्षीण न होने वाला हो।[७६] यहाँ वसु के स्वरूप के प्रकाशक सात विशेषण पद हैं। यद्यपि सायण ने 'वसु' को 'रत्नकनकपश्वादिलक्षण' मानते हुए 'पुष्टिमत्' से क्षीर द्वारा शरीर को बल-आरोग्य प्रदान करने वाली गाय और 'द्युमत्' से चमकने वाले रत्न, कनक आदि का ग्रहण किया है, तथापि 'वसु' को मात्र धनसम्पत्ति मान लेना सङ्गत नहीं है। यहाँ प्रार्थनीय है– वह विशिष्ट और उत्तम वासक तत्त्व, जो उपासकों की सुखपूर्वक अवस्थिति के लिए परमावश्यक है। वह तत्त्व तो दिव्य भी है और पार्थिव भी। वह निवासहेतु है अथवा निवासहेतुओं का समुच्चितरूप है। उसकी प्राप्ति से मनुष्य के निवास को आधार मिलता है। उसका स्वरूप व्यापक और असीमित है। उसे विशद करने के उद्देश्य से कुछ विशेषणों से मण्डित किया गया है। जिनसे प्रकट होता है कि उसके व्यापक स्वरूप में भौतिक सुख, पुत्र, पोष, स्वास्थ्य आदि सहजतया अन्तर्भूत हो जाते हैं। वसु तो हजार रूपों में है। वह व्यय से घटता नहीं है, अपितु देवकृपा से बढ़ता ही जाता है। वह कार्यों के लिए व्यक्ति को समर्थ बनाता है। वह अलौकिक और अमूर्त होकर भी दीप्ति से सम्पन्न है। एक अन्य मन्त्र के अनुसार इन्द्र ऐसे वसु को धारण करते हैं, जो विश्व है, असाधारण (केवलानि) है और जो या तो आविर्भूत है या निगूढ़ प्रदेश (गुहा) में वर्तमान हैं।[७७] अन्यत्र गुप्त वसु को प्रकट करने के लिए कहा गया है।[७८] अतः वसु व्यक्त और अव्यक्त रूपों में है। श्रुति के प्रामाण्य से माना जा सकता है कि व्यापक

वसुतत्त्व के व्यक्त पक्ष से पार्थिव निवासहेतुओं की ओर सङ्केत है, तो अव्यक्त पक्ष से बुद्धिरूपी गुहा में निहित दिव्य निवासहेतुओं का अभिप्राय है। वसु के द्विविध–दिव्य और पार्थिव रूपों की चर्चा ऋचाओं में की भी गयी है। अतः मनुष्यों के लिए जो भी वासहेतु है, वह 'वसु' है। वह एक है और एकाधिक भी, इसीलिए 'वसु' शब्द का सभी वचनों में प्रयोग हुआ है।

निवासहेतुक सांसारिक पदार्थों में धनसम्पत्ति का आत्यन्तिक महत्त्व है, इसीलिए अधिकांश स्थलों में 'वसु' धनपर्याय सा प्रतीत होता है – दिवोदास से हमने 'वसु' प्राप्त किया, जो शम्बर ने अपने अधिकार में कर लिया।[७९] सोम पणियों से वसु को प्राप्त करते हैं।[८०] 'वसु' पद सामान्यतया धनवाची हो जाता है, जब उसका हाथों से सम्बन्ध दिखाया जाता है- इन्द्र के दोनों हाथों में वसु रहता है।[८१] इन्द्र दक्षिण हस्त से नाना प्रकार के वसु देते हैं।[८२] सोम दानार्थ वसु को हाथों में धारण करते हैं।[८३] वे विश्व और वार्य वसु को स्तोता के हाथों में देते हैं।[८४] जब इन्द्र से शत्रुओं का वसु देने[८५] और अश्विनौ से वसु को रथ में रखकर लाने की प्रार्थनाएँ हैं[८६], तब भी वसु से भौतिक धन-सम्पत्ति ही अभिप्रेत प्रतीत होती है।

अनेक स्थानों पर 'वसु' को सामान्य रूप से धनवाची मानना सम्भव नहीं है। जैसे– जब कहा गया है कि दूधरूपी अमृत देने वाली गाय सम्पूर्ण वसुओं को देती है, तब प्राणिमात्र के लिए उपयोगी दूध या आज्य का अभिप्राय सुस्पष्ट है।[८७] इसीप्रकार 'वृष्टिरूप जलों के स्थान पर वसु' अर्थ देने वाले मन्त्रांश[८८] से सायण, मुद्गल आदि भाष्यकारों ने 'अन्तरिक्ष पर आविर्भूत होने वाली निवासहेतुभूत उषःकालीन ज्योति' का अभिप्राय लिया है। जब 'रयि' (धन) और 'श्रवस्' (अन्न) के साथ 'वसु' की कामना की जाती है,[८९] तब भी वसु से धन से भिन्न अन्य वासकतत्त्वों का ग्रहण सङ्गत प्रतीत होता है। किंवा जब इन्द्र को **वसुभिः वसुः** कहा जाता है,[९०] तब इन्द्र के निवासयिता होने का आधार मात्र धनसम्पत्ति रूप वसु न होकर सम्पूर्ण वासकतत्त्व होते हैं। एक मन्त्र में 'वसु' शब्द का एक साथ एकवचन और बहुवचन में प्रयोग किया गया है कि वसुओं और वसु के दान के लिए[९१]। सायण ने 'वसूनाम्' से 'ऐहिकभोगसाधनरूप धन' और 'वसुनः' से निवासयोग्य 'स्वर्गाख्य

धन' का अर्थ लिया है ।

अतः ऋग्वेद में वसु का अभिप्राय मनुष्यों द्वारा प्राप्तव्य अनेक उत्तम और श्रेष्ठ वासकतत्त्वों से है । तभी वह अपरिमित है । उसका स्वरूप लौकिक पदार्थों की तरह निश्चित नहीं है । वह दिव्य और अदिव्य एवं प्रकट और गुप्त है । वह उत्तम, वरेण्य और आधारभूत है । वसु के समकक्ष अवेस्ता में 'वन्हुस्' (Van-hus) शब्द मिलता है, जिसका अर्थ है- अच्छा, श्रेष्ठ। भाषावैज्ञानिक आधार पर भी 'वसु' वरणीय वासक तत्त्व या तत्त्वों का वाचक सिद्ध होता है । अतः एक विस्तृत अर्थ को अपने में समेटने वाला ऋग्वैदिक नपुंसक 'वसु' शब्द कालान्तर में अर्थ-संकोच की प्रक्रिया द्वारा कतिपय स्थूल पदार्थों के बोधार्थ प्रयुक्त हुआ है ।

सन्दर्भ–सङ्केत

१. ऋ. २/३/४, ३/८/८, ६/५०/१५.
२. वसवः यद् विवसते सर्वम् । नि. १२/४१.
३. ऋ. ७/१०/४, ७/३५/६.
४. Williams, *A Sanskrit English Dictionary*, p. 930.
५. अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ते । ते यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसव इति । शत.ब्रा. ११/६/३/६.
६. प्राणः वाव वसवहेतु हीदं सर्वं वासयन्ति । छा.उप. ३/१६; प्राणा वै वसवः ।प्राणा हीदं सर्वं वस्वाददते । जै.उ.ब्रा. ४./.२/३; प्राणा वै वसवः । तै.ब्रा. ३/२/३/३.
७. आपो ध्रुवश्च सोमश्च धरश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ।।
८. ऋ. १०/५०/७.
९. ऋ. १०/६६/६.
१०. ऋ. ६/१/१३.
११. ऋ. ६/५/२.
१२. ऋ. १/१२३/६.

१३. ऋ. १/१३४/४.
१४. ऋ. १/१०/६.
१५. ऋ. १/५५/८.
१६. ऋ. २/२२/३.
१७. ऋ. १/४७/६.
१८. ऋ. ६/४७/२२.
१९. ऋ. ८/३९/४.
२०. ऋ. १/४६/९.
२१. ऋ. ७/११/३.
२२. ऋ. ९/६३/३.
२३. ऋ. १०/३/२.
२४. ऋ. ७/६/७.
२५. ऋ. १/४६/९,८/१०१/६.
२६. निघ. २/१०.
२७. शृस्वृस्निहि०। उ.सू. १/१०.
२८. ऋ.सा.भा. १/४३/५.
२९. ऋ.दया.भा. १/१०/६.
३०. *शब्दकल्पद्रुम, हलायुधकोष*-'वसु' ।
३१. ऋ. २/३०/१०, ६/३०/१.
३२. ऋ. ७/८४/४.
३३. ऋ. १/४२/१०.
३४. ऋ. ३/१३/४.
३५. ऋ. १/१५/८.
३६. ऋ. २/३२/५.
३७. ऋ. ७/१०३/१०.
३८. तथा करत् वसुपतिर्वसूनाम् । ऋ. ६/५२/५.
विद्मा हि त्वा वसुपतिं वसूनाम् । ऋ. ३/३६/९.
त्वा अग्ने वसुपतिं वसूनाम् । ऋ. ५/४/१.
वसुर्वसुपतिर्हि कमस्यग्ने विभावसुः ।ऋ. ८/४४/२४.

३६. अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि । ऋ. ८/६६/४.
४०. यो वसूनां चिकेतद् दातुम् । ऋ. ५/३६/१.
४१. त्वमीशिषे वसुपते वसूनाम् । ऋ. १/१७०/५.
४२. यस्य विश्वानि हस्तयोः पञ्च क्षितीनां वसु । ऋ. १/१७६/३.
४३. य एकश्चर्षणीनां वसूनाम् । ऋ. १/७/६.
४४. भूरि ते वसु । ऋ. १/८१/२,६, ८/३२/८.
४५. स हि विश्वानि पार्थिवाँ एको वसूनि पत्यते । ऋ. ६/४५/२०;
इन्द्रमुत्सं न वसुनः सिचामहे । ऋ. २/१६/७;
दुरो यवस्य वसुन इनस्पतिः । ऋ. १/५३/२.
४६. अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिः । ऋ. १०/४८/१.
४७. वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे ।ऋ. १/६४/१३.
४८. अग्निरीशे वसूनाम् । ऋ. १/१२७/७.
४६. रायो बुध्नः संगमनो वसूनाम् । ऋ. १/६६/६.
५०. अग्निं विश्वेषामरतिं वसूनाम् । ऋ. १/५८/७.
५१. यतो नः प्रुष्णवद् वसु दिवि क्षितिभ्यो अप्स्वा । ऋ. ३/१३/४.
५२. वसुपते वसुदावन् । ऋ. २/६/४.
५३. यः सुन्वते स्तुवते काम्यं वसु सहस्रेणेव मंहते ।
ऋ. ८/५०/१, २/२२/३.
५४. ऋ. १/८४/७, ३/२/११, ५/३४/७, ५/५७/३.
५५. येन शश्वदूहथुर्दाशुषे वसु । ऋ. १/४७/६.
५६. ससेन चिद् विमदायावहो वसु । ऋ. १/५१/३.
५७. सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य,* प्रथम भाग, पारडी,
१६८३, पृ.१२३.
५८. ऋ. १०/१५१/४.
५६. ऋ. ८/४३/३३, ६/१८/४, ६/६३/३०.
६०. ऋ. ६/१६/३३.
६१. ऋ. ६/१६/५, ८/१/३१.
६२. ऋ. ६/७१/२.
६३. ऋ. १/१२३/६, ८/४५/४०-४२.

६४. ऋ. १/४७/६.
६५. ऋ. ६/७/३.
६६. ऋ. ८/५०/१, २/२२/३, १०/२१/६.
६७. ऋ. १/४०/४.
६८. ऋ. ४/८/३.
६९. ऋ. ३/४५/४.
७०. ऋ. १/४१/६, १०/२१/६, १०/८३/३.
७१. दिव्यं पार्थिवं वसु । ऋ. ९/१९/१;
अस्मे वसूनि धारय सोम दिव्यानि पार्थिवा । ऋ. ९/६३/३०;
त्वं वसूनि पार्थिवा दिव्या च सोम पुष्यसि। ऋ. ९/१००/३.
७२. यस्य विश्वानि हस्तयोरूचुर्वसूनि नि द्विता । ऋ. ६/४५/८.
७३. ऋ. ६/४५/२०, १०/१११/१०. इत्यादि.
७४. ते विश्वा दाशुषे वसु सोमा दिव्यानि पार्थिवा ।
पवन्तामान्तरिक्ष्या ।। ऋ. ९/६४/६.
७५. ऋ. ३/१३/४.
७६. नू नो रास्व सहस्रवत् तोकवत् पुष्टिमद् वसु ।
द्युमदग्ने सुवीर्यं वर्षिष्ठमनुपक्षितम् ।। ऋ. ३/१३/७.
७७. त्वं विश्वा दधिषे केवलानि यान्याविर्या च गुहा वसूनि। ऋ.१०/५४/५.
७८. आविर्गूळहा वसू करत् । ऋ. ६/४८/१५.
७९. ऋ. ६/४७/२२.
८०. ऋ. ९/१११/२.
८१. ऋ. ६/४५/८.
८२. ऋ. १०/१८०/१.
८३. ऋ. ९/९०/१.
८४. ऋ. ९/१८/४.
८५. ऋ. ४/२४/१.
८६. ऋ. १/४७/३.
८७. तुभ्यं धेनुः सबर्दुघा विश्वा वसूनि दोहते । ऋ. १/१३४/४.
८८. वसु सिन्धुनाम् पदे । ऋ. १/४६/९.

८६. अस्मभ्यं रोदसी रयिं...श्रवो वसूनि संजितम् । ऋ. ६/७/६.

६०. ऋ. १/११०/७.

६१. वसूनाम् च वसुनश्च दावने । ऋ. १०/५०/७.

[**Studies in Indology and Musicology,** Dr. P.N. Kawthekar Felicitation Volume, ed. Dr. S. Kulshreshtha & Dr. J.P. Sinha, Delhi-1993, pp.102-107. में प्रकाशित ।]

* * *

१७

गृहवाचक शब्द

ऋग्वेदसंहिता से प्राप्त आवासविषयक जानकारी की पुष्टि और विस्तार के लिए संहिता में प्रयुक्त हुए आवास एवं गृह के वाचक शब्दों की अर्थगत मीमांसा अपेक्षित है। ऋग्वेद में बड़े आकार वाले निवासस्थानों से लेकर गुहा, श्मशान और छाया तक को आश्रय का हेतु या निवास का आधार होने से आवासवाची या गृहवाची नाम माना गया है। यहाँ आवास के अर्थ में लगभग तीस शब्दों का प्रयोग हुआ है :– गृहम्, गयः, पस्त्यम्, दुरोणम्, दुर्यः, दमः, दम्, ओकः, योनिः, धामन्, निवेशनम्, वसतिः, छर्दिस्, वर्तिः, वेश्मन्, वरूथम्, शरणम्, वास्तुः, शर्मन्, सदनम्, सदस्, सद्मन्, हर्म्यम्, विदथम्, गुहा, अस्तम्, क्षयः, अमा, स्वसराणि, अज्मन् और छाया। कुछ शब्द आवास के अर्थ में सन्दिग्ध हैं - गोत्र, स्ति, क्षोण।

निघण्टु में बाईस गृहपर्याय बताये गये हैं :- गयः, कृदरः, गर्तः, हर्म्यम्, अस्तम्, पस्त्यम्, दुरोणे, नीळम्, दुर्याः, स्वसराणि, अमा, दमे, कृत्तिः, योनिः, सद्म, शरणम्, वरूथम्, छर्दिः, छदि, छाया, शर्म, अज्म।[1] इनमें से **कृदरः** ऋग्वेद में अप्राप्त है। **गर्तः** बहुप्रयुक्त है, किन्तु निरुक्तकार ने उसे √गृ (निगलना) से व्युत्पन्न मानकर 'श्मशान' और √गृ (प्रशंसा करना) से व्युत्पन्न मानकर 'रथ' के अर्थ में ग्रहण किया है।[2] **छदिस्** आवासीय अवयव का वाचक है। **नीळम्** का प्रयोग एक बार ही हुआ है, जहाँ वह एक स्थान पर रहते हुए यजमानों का बोधक है।[3] **कृत्तिः** शब्द भी सम्भवतः एक बार व्यवहृत हुआ है।[4] वहाँ इसका अर्थ सायण द्वारा यश अथवा अन्न किया गया है। यास्क ने भी √कृत् (छेदना) से निष्पन्न मानकर इसको यश या अन्न का वाचक बताया है।[5] इस प्रकार यदि इन पाँच शब्दों को छोड़ भी

दें, तब भी निघण्टु के सत्तरह गृहपर्याय संहिता में 'गृह' के बोधक दिखायी देते हैं। इनमें से भी यास्क ने गयः, हर्म्यम्, अस्तम्, नीळम्, दुर्याः, सद्म, वरूथम्, छर्दिः, छदिस्, छाया- शब्दों की निरुक्ति या कोई चर्चा नहीं की है। शेष में से कुछ शब्द ही उनके द्वारा गृह या आवास के अर्थ में व्युत्पन्न किये गये हैं। ऋग्वेद में प्राप्त होने वाले अन्य आवासवाची शब्दों को निघण्टु में न गिनाये जाने का कोई तर्कसंगत कारण अनुमानयोग्य नहीं है। सम्भव है निरुक्तकार की दृष्टि में दूसरे शब्द घर से भिन्न आवासों को परिलक्षित करते हों। अनन्तर संस्कृत साहित्य और संस्कृत भाषा में गृह के अर्थ में दूसरे कई शब्द प्रचलन में आये,[६] और ऋग्वेद के पस्त्यम्, वेश्मन्, वसतिः, सदनम्, शरणम्, सद्मन् आदि कुछ शब्द इस अर्थ में व्यवहृत होते रहे।

१. गृहम्

घर के लिए सर्वाधिक मान्य और निघण्टु के पर्यायवाची पदों का मूल शब्द 'गृह' ऋक्संहिता में आवास या घर के अर्थ में लगभग तीस बार प्रयुक्त हुआ है। गृहपतिः, गृहपत्नी, गृहमेधासः आदि समस्तपदों में भी यह है। यास्क ने 'गृह' को ग्रहणार्थक √गृह् या √ग्रह् से व्युत्पन्न माना है, क्योंकि यह लोगों या वस्तुओं को ग्रहण करते हैं।[७] तात्पर्य है कि लोगों को सेवा से ग्रहण करते हैं और वस्तुओं को स्थान देकर ग्रहण करते हैं। अथवा जीवन के लिए धान्यादि को ग्रहण करते हैं।[८] अथवा जिसे धर्माचरण के लिए ग्रहण किया जाता है, वह 'गृह' है।[९] इन व्युत्पत्तियों से स्पष्ट है कि ग्रहणशीलता ही गृह का आधारतत्त्व है। सायण ने अधिक बार ऋचाओं में 'गृहम्' से 'यज्ञगृहम्' का अभिप्राय लिया है, क्योंकि उसका प्रयोग सोमिनः, दाशुषः, सुन्वतः जैसे षष्ठ्यन्त पदों के साथ हुआ है।[१०] अवेस्ता में देवों की निवासभूत गुफा के लिए 'gereda'- पद का प्रयोग गृह शब्द के समकक्ष है।[११]

२. गयः

ऋग्वेद में अनेक बार प्रयुक्त होने वाला 'गयः' एक साधारण शब्द है, जिसका बाद की संहिताओं में भी प्रयोग हुआ है।[१२] निघण्टु में यह गृहनामों के अतिरिक्त अपत्यनामों और धननामों में भी समाम्नात है।[१३] कीथ और मैकडॉनल के मत में 'गय' में घर के प्राणी और सामान आदि आ जाते हैं, अतः यह 'गृहस्थी' के आशय में है।[१४] वैदिक वाङ्मय में यह शब्द

सोम, ऋभु, इन्द्र आदि के विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। सायण के अनुसार √गम् या √गै से इस शब्द की निष्पत्ति हुई है, जिसमें निवास के लिए सभी जाते हैं वह घर 'गय' है या जिसकी सभी स्तुति करते हैं, वह धन 'गय' है।[१५] शतपथब्राह्मण के अनुसार जो गतिशील है, वह 'गयः' है।[१६] धन गतिशील है, घर की ओर लोग अथवा वस्तुएं जाती हैं और सन्तति सतत प्रवहमान है, अतः इस निरुक्ति से धन, घर और सन्तान 'गय' है। इसी दृष्टिकोण से प्राण का भी 'गय' नाम है क्योंकि वे शरीर को गतिशील रखते हैं या शरीर से गति करते हैं।[१७] अवेस्ता में जीवनपद्धति के अर्थ में `gaya' शब्द मिलता है।[१८] संस्कृत-साहित्य और कोशग्रन्थों में इस शब्द के अर्थ का विस्तार दिखायी देता है। वहाँ घर, धन, सन्तति, निवास, आकाश आदि अर्थों में इसका प्रयोग हुआ है। 'गय' पद से आवासस्थान के प्रति आत्मीयता और आकर्षण व्यक्त होता है। ध्यातव्य है कि ऋचाओं में अधिक बार इसके साथ 'नः' (अस्माकम्) पद प्रयुक्त है।[१९]

३. पस्त्यम्

संहिता में कुछ बार प्रयुक्त होने वाले 'पस्त्यम्' पद पर निरुक्तकार ने स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं किया है। निघण्टु के गृहपर्यायों में यह आम्नात है। यास्क ने 'वाजपस्त्यम्' को 'वाजपनतम्' के रूप में व्याख्यात किया है, जिसे टीकाकार दुर्गाचार्य ने सोमवाची माना है क्योंकि उसकी ओर देवता गिरते या जाते हैं।[२०] भारोपीय भाषा में 'पस्त्य-' का 'पतन' से कोई सम्बन्ध दिखायी नहीं देता है, वहाँ तो `Pasto'- का अर्थ है-मजबूत।[२१] ऋग्वेद में एक बार ही 'पस्त्यसद्' समस्तपद का प्रयोग हुआ है,[२२] जहाँ वह 'यज्ञशाला में बैठने वाले' अर्थ में यजत्रा देवों का विशेषण है। 'अप' उपसर्गपूर्वक 'एकत्रित होना' अर्थ वाली √स्तयै से निष्पन्न मानकर कोशों में इसका अर्थ-'जहाँ लोग एकत्र होकर बैठते हैं'- किया गया है।[२३] शतपथब्राह्मण में 'विशः' को ही 'पस्त्याः' कहा गया है।[२४] अतः 'पस्त्यम्' नाम से उस गृह का आशय है, जिसमें काम-काज समाप्त करने के बाद रहने वाले लोग इकट्ठा होकर बैठते हैं। व्युत्पत्ति और 'पस्त्यसद्' के ऋग्वैदिक प्रयोग से इसी तात्पर्य का सङ्केत मिलता है।

४. दुरोणम्

'दुरोणम्' शब्द निवासस्थान के लिए कई बार प्राप्त होता है। ऋग्वेद के पदपाठकार ने इसका पदपाठ नहीं किया है, जबकि तैत्तिरीयसंहिता और सामवेद के पदपाठों में इसको 'दु:ऽओन' रूप में विश्लेषित किया गया है।[२५] परन्तु 'ओन' पदान्तीय के रूप में संस्कृत में अन्यत्र अप्रयुक्त ही है। यास्क ने 'दुरोण' को दुस्+√अव् (तृप्त करना) से व्युत्पन्न माना है। जिसका अर्थ है- जिन (घरों) को तृप्त करना अत्यन्त कठिन है।[२६] ऋग्वेद में ही 'शतदुरेषु' प्रयोग के आधार पर सिद्धेश्वर वर्मा दुरोण से उस गृह का अभिप्राय लेना उपयुक्त समझते हैं, 'जिसमें दरवाजे लगे हैं।' उन्होंने भारोपीय शब्द √दुर्+ओ+न से इसकी निष्पत्ति मानी है और यास्क की व्युत्पत्ति को अयुक्त ठहराया है।[२७]

सायण ने अपने भाष्य में दुरोण शब्द को दुर्+ √अव् (रक्षा करना) + नक् से व्युत्पन्न मानकर सम्भवतः 'जिसकी रक्षा करना कठिन है' इस अर्थ में स्वीकार किया है।[२८] ग्रासमान ने 'दुरोण' को 'दुर' से सम्बद्ध मानकर 'द्वार वाले निवासस्थान' का वाचक कहा है।[२९] किन्तु इस व्याकृति में 'दुरोण' शब्द के अन्तिम भाग पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। **दुर्योण**[३०] से तुलना भी किसी निष्कर्ष तक पहुंचने में सहायक नहीं है। सूर्यकान्त ने 'दुर्' शब्द में रक्षणार्थक √अव् के संयोग से इस शब्द की निष्पत्ति मानकर 'दरवाजों से सुरक्षित आवास' का अर्थ लिया है।[३१] 'दुरोणयुः' अर्थात् घर का शौकीन[३२] और 'दुरोणसत्' अर्थात् घर में बैठने वाला[३३] यानी कलश में रहने वाला सोम- इत्यादि प्रयोगों से प्रकट होता है कि गृह के 'दुरोण' नाम में सुरक्षा पर अधिक बल है। √अव् से पूर्व 'दुर्' यद्यपि उपसर्ग और नाम दोनों हो सकता है, तथापि 'दुर्याः' गृहनाम और 'दुर्' गृह-अवयव के आधार पर इससे द्वार का ग्रहण अधिक समीचीन है। अतः 'दुरोण' नाम द्वारों से सुरक्षित निवासस्थान या आवास को दर्शाता है।

५. दुर्यः

'दुर्यः' पद 'दुर् से सम्बद्ध' अथवा 'सम्पन्न' अर्थ में विशेषण[३४] और गृहवाची नामपद[३५] के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह दुर्+यत् (भवे छन्दसि) से निष्पन्न है।[३६] यह 'दुरोण' के समकक्ष भावार्थ को देता है। ब्राह्मणग्रन्थों

में भी इसे गृहवाची कहा गया है।[३७]

६. दमः/दम्

संस्कृत में 'दम' गृह के अर्थ में सामान्यतया व्यवहृत नहीं होता है, जबकि ऋग्वेद में यह हलन्त और अजन्त– अपने दोनों रूपों में बहुविध गृहवाची है।[३८] दम् से ही दम्पति शब्द बना है। यास्क ने 'दम' को गृहनाम बताते हुए गृहस्थवाची 'दमूना' शब्द का एक निर्वचन किया है - दम में जिसका मन लगा हो।[३९] उन्होंने 'दम' का निर्वचन नहीं किया है। स्वामी दयानन्द की निरुक्ति के अनुसार यह शब्द उपशमन अर्थ वाली √दम् में घञ् प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। तदनुसार 'दम' वह घर है, जहाँ दुःखों की शान्ति होती है।[४०] निहितार्थ है कि घर केवल निवासस्थान नहीं, यह तो शान्ति और पारिवारिक प्रेम से सार्थक होता है और तभी 'दम' कहलाता है। ग्रासमान ने 'दम' को 'बाँधना' अर्थ वाली √दम् से व्युत्पन्न माना है, तदनुसार 'दम' वह घर है, जो सब कुछ बाँधकर सुरक्षित रखता है।[४१] रॉथ के अनुसार नियन्त्रण करने के अर्थ वाली √दम् से व्युत्पन्न 'दम' उस स्थल का द्योतक है, जहाँ मनुष्य अनियन्त्रित शक्ति से युक्त होता है।[४२] भारोपीय और लैटिन में प्राप्त 'domus' शब्द ऋग्वैदिक दम के समकक्ष ही नहीं, उसी के समान गृहवाची भी है।[४३] ऋग्वैदिक 'दम' नाम घर के मूलभूत भावात्मक स्वरूप पर प्रकाश डालता है।

७. ओकः

ऋग्वेद में यास्क ने 'ओकः' को निवास का नाम बतलाया है।[४४] सायण ने भी इससे निवास, निवासस्थान गृह, आवास, निवासयोग्य (स्थान), निवास-स्थान, स्वकीय गोष्ठ आदि अर्थ लिये हैं।[४५] एक मन्त्र में ओकः, स्थानम्, गृहाः और दुरोणम् का एक साथ प्रयोग इनके भावार्थ में भेद को इंगित करता है।[४६] 'जमा करना' अर्थ वाली √उच् से 'ओकस्' शब्द आसानी, प्रसन्नता, सुविधा का अर्थ देता है, इसीलिए इसे देने वाले या देने में समर्थ निवास को 'ओकः' कहते हैं। सबको समवेत करने वाले अथवा बसाने में योग्य आवासस्थान को अधिकतर 'ओक' कहा गया है। संस्कृत में भी गृह से अधिक इसका अभिप्राय 'आश्रय' से होता है।

८. योनिः

'योनिः' निघण्टु के अनुसार गृहनाम और उदकनाम है।[४७] ऋग्वेद में यह स्त्रीयोनि, उत्पत्तिस्थान , सवन, उदक, स्थान, गृह आदि कई अर्थों में समान रूप से बहुत बार प्रयोग में दिखायी देता है। सायण ने सन्दर्भानुसार इससे 'गृह' का अर्थ ग्रहण किया है।[४८] वेदि को 'ऋतस्य योनिः' कहा गया है।[४९] यास्क ने √यु (घेरना) से व्युत्पन्न मानते हुए योनि को अन्तरिक्ष और गर्भाशय का वाचक माना है, क्योंकि वे क्रमशः वायु और रक्त आदि से घिरे होते हैं ।[५०] अवेस्ता में प्राप्त 'yaonem' शब्द स्थान या घर का अर्थ देता है।[५१] √यु (मिश्रण करना, अमिश्रण करना) से 'नि' प्रत्यय लगकर बने 'योनि' शब्द का अर्थ है - जो (कार्यों में या कारणों में) मिलाता है या अलग करता है, वह 'योनिः' है।[५२] इसीलिए दुःखवियोजक या सुखसंयोजक अनेक पदार्थ इस नाम से जाने जा सकते हैं ।

९. धामन्

ऋग्वेद में और बाद में[५३] 'आवास' और 'गृह' अथवा कभी-कभी[५४] उसमें रहने वाले व्यक्तियों का द्योतक है । इसके अतिरिक्त नियम या विधान, तेज, जन्म आदि अर्थों में भी इसका प्रयोग ऋचाओं में हुआ है।[५५] जबकि संस्कृत में यह रश्मि, गृह, प्रभाव, जन्म आदि अर्थों में व्यवहृत होता है। यास्क ने स्थान, नाम और जन्म को धाम संज्ञा दी है।[५६] √धा (स्थापित करना) + मनिन् से निष्पन्न यह शब्द गृह या आवास अर्थ में गृहस्थादिक पदार्थों को धारण करने के आश्रय से सम्पन्न है।[५७] निघण्टु ने इसे गृहपर्यायों में नहीं गिनाया है। ऋग्वैदिक प्रयोगों से स्पष्ट होता है कि अधिकतर यह शब्द स्थान या आवास का वाचक है, जो स्वरूपतः 'धारण करने वाला' है। तैत्तिरीयसंहिता में देवता के परम धाम से 'स्थान' ही अभिप्रेत है।[५८] ऋग्वेद में इन्दु सोम को एक बार 'धामधा' अर्थात् 'निवासों का धर्ता' कहा गया है।[५९]

१०. निवेशनम्

नि + √ विश् (प्रवेश करना) + ल्युट् से 'निविशत्यस्मिन्निति निवेशनम्' अर्थात् 'जिसमें प्रवेश करते हैं' अर्थ देता हुआ 'निवेशनम्' शब्द ऋग्वेद में पाँच-छह बार ही प्रयुक्त हुआ है।[६०] यह अधिक बार 'निवेशस्थान' के अभिधार्थ को देता हुआ भाष्यकारों द्वारा 'गृह' अर्थ में ग्रहण किया गया

है ।[६१] बाद में लौकिक संस्कृत में 'गृह' अर्थ में इसका प्रयोग साधारण हो गया है। निघण्टु में इसे गृहनाम नहीं कहा गया है। 'निवेशनी' निवेश-स्थानभूता या आधारभूता पृथिवी है ।[६२]

११. वसतिः

√वस् (निवास करना) + अति से सम्पन्न 'वसति' शब्द ऋग्वेद में 'वास' या 'आवास' के अर्थ में कुछ बार ही प्रयुक्त हुआ है । यह निघण्टु के गृहपर्यायों में अप्राप्त है, तथापि भाष्यकारों ने कभी-कभी इससे 'निवासभूतगृह' या 'आश्रय' का अर्थ लिया है ।[६३] द्रष्टव्य है कि ऋचाओं में यह प्रायः पक्षियों के आवासस्थान अर्थात् 'नीड' को अभिहित करता है।[६४]

१२. छर्दिस्

ऋग्वेद में एक बार ही प्रयुक्त और निश्चित रूप से आवास के एक अवयव 'छत' के बोधक 'छदिस्' से लगभग मिलता हुआ 'छर्दिस्' शब्द इस संहिता में बहुप्रयुक्त है । यह सुरक्षित आवास-स्थान या गृह का द्योतक है। बाद की संहिताओं में अपेक्षाकृत इसका प्रयोग कम हुआ है।[६५] देवताओं से अनेक बार 'छर्दिः' की कामना की गयी है ।[६६] एक मन्त्र में शर्म, वर्म और छर्दि चाहा गया है ।[६७] जहाँ सायण ने शर्म से सुख और छर्दि से गृह का अभिप्राय लिया है । सामान्य व्युत्पत्ति के अनुसार 'छर्दिस्' शब्द वमनार्थक √छर्द् में 'इसि' प्रत्यय लगकर बना है और सीधे-सीधे 'वमन-व्याधि' का अर्थ देता है।[६८] सम्भवतः इसीलिए रॉथ कहते हैं कि ऋग्वेद में 'छर्दिस्' के स्थान पर 'छदिस' पढ़ा जाना चाहिए[६९] और बार्थोलोमाइ का विचार है कि इसका दूसरा रूप जैसे 'छडिस्' होना चाहिए ।[७०] संस्कृत में छर्दिस् का गृह अर्थ लगभग नहीं के बराबर है, अतः इसे 'छदिस्' से सम्बद्ध मानकर छतवाले आवास या सुरक्षित निवासस्थान का द्योतक मानना उपयुक्त प्रतीत होता है। सायण ने इसकी निरुक्ति √छृ (दीपित होना) से की है, तदनुसार जो सुवर्ण आदि धनों से प्रकाशित होता है वह 'छर्दिः' अर्थात् गृह है ।[७१] अथवा आच्छादनार्थक √छद् से निष्पन्न मानकर इसे आच्छादक अथवा विघ्नों के निवारक के अर्थ में सुरक्षित गृह का व्यञ्जक माना जा सकता है । सायण ने एक बार 'छर्दिः' से आयुधों के निवारक या छादनभूत कवच का अभिप्राय लिया है ।[७२]

१३. वर्तिः

संस्कृत में 'वर्तिः' शब्द आवास के अर्थ में प्रचलित नहीं है और न हीं यह निघण्टु के गृहपर्यायों में परिगणित है, तथापि ऋग्वेद में इसके प्रयोग को भाष्यकारों द्वारा बहुधा 'गृह' के अर्थ में ग्रहण किया गया है।[७३] सायण ने इसे स्पष्टतः गृहनाम बताया है।[७४] उन्होंने √वृत् (विद्यमान होना) + इ प्रत्यय से व्युत्पन्न इस शब्द की 'वर्तितेऽत्र इति वर्तिः गृहम्' व्युत्पत्ति[७५] और 'वर्तनाधिकरण गृह' अर्थ किया है।[७६] स्पष्ट ही ऋग्वेद ने इस पर्याय द्वारा गृह को उसके निवासियों के वहाँ होने का प्रधान कारण बताया है।

१४. वेश्मन्

संस्कृत में घर के लिए अत्यन्त प्रचलित शब्द वेश्मन् ऋक्संहिता में दो बार प्रयुक्त हुआ है [७७] और बाद में अपेक्षाकृत कुछ अधिक बार प्रयोग में आया है। ऋचाओं में इसका अभिप्राय प्रायः गृह से है। अतः √विश् (प्रवेश करना) + मनिन् से निष्पन्न इस शब्द से उस गृह का तात्पर्य है, जहाँ मनुष्य प्रवेश करता है और बसता है।

१५. वरूथम्

निघण्टु के गृहनामों में आम्नात 'वरूथम्' शब्द ऋग्वेद में अनेकशः प्रयुक्त हुआ है। कभी यह सीधे-सीधे घर का द्योतक है[७८] और कभी 'वरणीय' या 'वारक' अर्थ में घर का विशेषण है।[७९] 'वरणीय' अर्थ में ही भेषज, अग्नि, धन आदि को भी 'वरूथ' कहा गया है।[८०] वस्तुतः √वृ (वरण करना) + ऊथन् प्रत्यय से निष्पन्न 'वरूथ' शब्द से कमनीय, प्रशस्त, वरणीय आदि अर्थ सरलतया ग्राह्य है, तो √वृ (रोकना) + ऊथन् से निष्पन्न 'वरूथ' शब्द के निवारक, आच्छादक आदि अर्थ है, तभी वरूथ 'कवच' को भी कहते हैं। अतः शीत, आतप, वर्षा आदि का वारक[८१] या दूसरे अनिष्टों का निवारक[८२] होने से और वरणीय होने से आवासस्थान को ऋग्वैदिक आर्यों ने 'वरूथ' नाम दिया है। छर्दिस् का 'वरूथ्यम्' विशेषण भी समान अभिप्राय में प्रयुक्त हुआ है।[८३]

१६. शरणम्

शृ (टुकड़े-टुकड़े करना) + ल्युट् से बना 'शरण' शब्द रक्षा, आश्रय

आदि अर्थों में जिस प्रकार संस्कृत में प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार ऋग्वेद में यह इसी अभिप्राय के साथ गृहवाची है। सायण के अनुसार गृह शीत आदि क्लेशों को नष्ट करता है।[८४] ऋग्वैदिक आर्यों की व्यापक दृष्टि में कभी 'रोदसी' शरण है,[८५] तो कभी वृक्ष।[८६] इसी लिए यागगृह और शिक्षण के गृह भी शरण है।[८७] उल्लेखनीय है कि जब गृहवाची शर्म शब्द के साथ शरण का प्रयोग है,[८८] तब शर्म से सुख और शरण से गृह का अभिप्राय अधिकतर भाष्यकारों द्वारा ग्रहण किया गया है। 'शरण' नाम आवास के प्रयोजन और उद्देश्य से गर्भित है।

१७. वास्तुः

अल्पतया प्रयुक्त होकर भी 'वास्तु' नाम स्पष्टतः निवासस्थान का बोधक है। निवासार्थक √क्षि के क्रियापद के साथ इस शब्द का प्रयोग[८९] और 'वास्तोष्पति' का गृहपालक देवता होना इसके प्रमाण है। यह शब्द निवासार्थक √वस् + तुण् से निष्पन्न है।[९०] भारोपीय धातु ues (रहना) इसके समकक्ष है।[९१] गृह के लिए 'वास्तु' नामपद का प्रयोग आवास के प्रयोजन को दर्शाता है।

१८. शर्मन्

अनेकशः प्रयुक्त 'शर्मन्' शब्द ऋग्वेद में गृह के अतिरिक्त सुख के अर्थ में भी प्रयुक्त है। यह निघण्टु के सुखपर्यायों में आम्नात है।[९२] √शृ + मनिन् से निष्पन्न यह शब्द दुःख और क्लेश के अभावरूप सुख, रक्षा, सौख्य आदि के अतिरिक्त कई बार 'शरण' अर्थ में ही भाष्यकारों द्वारा व्याख्यात किया गया है।[९३] शतपथब्राह्मण ने 'शर्मन्' को चर्मन् से मिलाकर इसके मूल अभिप्राय 'आश्रय' और 'सुरक्षा' को रेखाङ्कित किया है।[९४] रक्षा और सुख के मुख्यार्थ से समवेत 'शर्मन्' शब्द का गृह के लिए प्रयोग प्रकट करता है कि ऋग्वैदिक दृष्टि में आवास की सार्थकता उससे प्राप्त सुरक्षा, आश्रयण और सुख-शान्ति में है।

१९-२१. सदनम्, सदस्, सद्मन्

√सद् (बैठना) से निष्पन्न ये तीनों शब्द[९५] ऋग्वेद में प्रचुर रूप में प्रयुक्त हुए हैं और 'आवास स्थान' के बोधक हैं। सदस् कभी आसन, सभा या बैठने के स्थान का वाचक प्रतीत होता है।[९६] परन्तु सदन और सद्मन् अपेक्षाकृत 'आवास' को अधिक दर्शाते हैं। वैसे सदन और सद्मन्

निघण्टुकार के अनुसार उदकवाची भी है।[९७] ये तीनों शब्द मूलतः बैठने के स्थान को अधिक अभिलक्षित करते हैं और कभी-कभी केवल स्थान में वाचक प्रतीत होते हैं । 'सदस्पति' सदस् के स्वामी या सभापालक का नाम है।[९८] लगभग समान अर्थ से समवेत इन तीनों शब्दों का प्रयोग प्रकट करता है कि आज के बैठक-गृह की तरह निवास का महत्त्वपूर्ण रूप विश्रामार्थ सदन प्रदान करने में माना गया है ।

२२. हर्म्यम्

निघण्टु के गृहपर्यायों में समाम्नात 'हर्म्यम्' शब्द ऋक्संहिता में लगभग बारह बार प्रयुक्त हुआ है और विशाल भवन को लक्षित करता है।[९९] इसमें सम्भवतः अनेक प्रकोष्ठ होते थे[१००] और जो सुरक्षा के लिए बन्द भी किया जा सकता था।[१०१] भाष्यकारों ने ऋ. ७/५५ में इससे प्रासाद (सायण) और राजप्रासाद (सातवलेकर) आदि अर्थ लिये हैं । एक मन्त्र में मरुतों को हर्म्य में स्थित शिशुओं की तरह 'शुभ्र' कहा गया है;[१०२] जिससे हर्म्य की सुख-सुविधा और मनोहारिता प्रकट होती है । सप्तम मण्डल में जिस अनिद्रा रोगग्रस्त, धनी के प्रासाद का चित्रण किया गया है, वह अत्यधिक विशाल और कई प्रकोष्ठों वाला है, उसे स्थिर और विशाल 'हर्म्य' कहा गया है।[१०३] वर्णन द्वारा इसके मध्यभाग में खुले आँगन और पिछले भाग में स्त्रियों के निवास के स्थान की प्रतीति होती है। √हृ (हरण करना) + यत् + मुट् से 'लोगों के मनों को हरने वाला' अर्थ देता हुआ यह शब्द बाद में संस्कृत-कोशों में इष्टिका, काष्ठ आदि से निर्मित पक्के भवनों का वाचक हो गया है।[१०४] ऋग्वैदिक मन्त्रों में इस नाम से आवास के सुखकर, विशाल और सुस्थिर होने का स्पष्ट संकेत है ।

२३. विदथम्

जिस प्रकार संस्कृत में √विद् अनेक अर्थों में व्यवहृत होती है,[१०५] उसी प्रकार ऋक्संहिता में उससे व्युत्पन्न 'विदथ' शब्द भी एक से अधिक अर्थों का द्योतक माना जाता है। यास्क ने इसे √विद् (जानना) + अथ प्रत्यय से व्युत्पन्न मानकर 'वेदन' अर्थ में ग्रहण किया है और कभी यज्ञनाम बताया है।[१०६] सायण ने प्रयोग की अर्थसंगति के अनुसार कभी यज्ञ, कभी गृह, कभी पतिगृह आदि अर्थ किये हैं ।[१०७] कीथ और मैकडॉनल की समीक्षा है

कि यह एक अस्पष्ट आशय वाला शब्द है और प्रमुखतः ऋग्वेद तक ही सीमित है । ओल्डनबर्ग ने इसके विधान, लुडविग ने ब्राह्मणों की सभा, गेल्डनर ने ज्ञान, विद्वत्ता आदि अर्थ लिये हैं। ओल्डनबर्ग की व्याख्या है कि पहले यह शब्द गृह के आशय में प्रयुक्त हुआ है और अनन्तर 'यज्ञ' को अभिहित करने लगा है ।[१०८] जिस आवास-स्थान में यज्ञ आदि सम्पादित किये जाते थे, सम्भव है उसे 'विदथ' कहा जाता हो ।[१०९] इस प्रकार 'विदथ' नाम आवास के यज्ञ-सम्बन्ध को व्यञ्जित करता है ।

२४. गुहा

बहुधा प्रयुक्त 'गुहा' शब्द स्पष्टतया आवास का द्योतक नहीं है, तथापि √गुह् (छिपाना) + क + टाप् से बना यह शब्द उस गुप्त स्थान का संकेतक है, जो दुर्गम, संचरण के अयोग्य, अप्रकाश्य और गूढ़ है।[११०] अधिकतर गायों के स्थान के रूप में इसका उल्लेख हुआ है ।[१११]

२५. अस्तम्

निघण्टु के गृहपर्यायों में आम्नात 'अस्तम्' शब्द ऋक्संहिता में बहुधा 'गृह' के अभिप्राय में प्रयुक्त हुआ है ।[११२] √अस् (फेंकना) से निष्पन्न मानकर सायण ने 'जिसमें सब जाते हैं ' और दयानन्द सरस्वती ने 'जो दुःखों को दूर करता है' अर्थ में इसे गृहवाची स्वीकार किया है ।[११३] संस्कृत में प्रायः यह सूर्यास्त जैसे अर्थ का वाचक है । सम्भव है गायों के अस्तकाल में अपने निवास की ओर वापस आने से 'अस्तं न गावः'[११४]–अस्त ही व्यञ्जित होकर लाक्षणिक रूप में 'गृह' वाचक हो गया है । आर्यों के लिए सूर्य के अस्तकाल और गृह का अनुमानतः यही सम्बन्ध रहा होगा, जो उनकी दिनचर्या का बोध कराता है ।

२६. क्षयः

निवासार्थक √क्षि प्रत्यय से बना 'क्षयः' शब्द ऋक्संहिता में गृह या निवास के अर्थ में प्राप्त होता है ।[११५] जिसमें लोग निवास करते हैं, उस गृह का नाम 'क्षय' है,[११६] इस शब्द का उल्लेख निघण्टु के गृहपर्यायों में नहीं है।

२७. अमा

ऋग्वेद में लगभग दस बार प्रयुक्त हुआ 'अमा' शब्द निघण्टु के अनुसार गृहवाची है । संहिता में तीन बार प्राप्त 'अमाजूर्' विशेषण पद,

जिसका अभिप्राय घर में ही वृद्धावस्था को प्राप्त होने वाली कन्याओं से लिया जाता है, इसी अर्थ की सम्पुष्टि करता है। भाष्यकारों ने इससे गृह और निवास के अर्थ ग्रहण किये हैं।[११७] यास्क का निर्वचन इस शब्द के स्वरूप पर विशेष प्रकाश नहीं डालता है।[११८] प्रतीत होता है कि तैत्तिरीयसंहिता में 'अमा' से लिया जा रहा 'सह' का अर्थ[११९] ही इसके मूल में विद्यमान है 'वह घर जहाँ सब साथ है।' कीथ ने ऋग्वेद में प्राप्त 'आमा' से कच्चा, बिना पका हुआ अर्थात् धूप में सुखाई ईटों का तात्पर्य लिया है।[१२०] इसकी यास्क-निरुक्ति से कुछ संगति बैठती है।

२८. स्वसरम्

निघण्टु के अनुसार गृह के अतिरिक्त 'स्वसराणि' दिन और पद का नाम भी है।[१२१] यह शब्द ऋग्वेद में गृह, दिन, बाडा, मार्ग, आत्मा और घोसला आदि कई अर्थों में व्यवहृत हुआ है। यास्क ने इसे स्व+√सृ (सरकना) से व्युत्पन्न मानकर स्वयं गमन करने वाले दिन का व्यञ्जक माना है।[१२२] जिधर उसके रहने वाले स्वभावतः या अनायास ही स्वयं जाते हैं, इस भावार्थ को देता हुआ ऋग्वेद में कुछ बार ही प्रयुक्त यह शब्द निवास और विशेषकर पक्षियों के सन्दर्भ में उनके घोसले[१२३] और गायों के सन्दर्भ में उनके गोष्ठ के लिए[१२४] प्रयुक्त हुआ है। यह गृहनाम अपने निवास के प्रति निवासियों के आकर्षण को प्रकट करता है।

२९. अज्मन्

निघण्टु के अनुसार 'अज्म' गृह के अतिरिक्त संग्राम का नाम है और यास्क ने इसे 'अजनिम्' और 'आजिम्' का समानार्थक बताया है।[१२५] वस्तुतः गति और क्षेपणार्थक √अज् में 'म' प्रत्यय से निष्पन्न 'अज्म' मार्ग या गमन का ही अधिकांश में द्योतक है,[१२६] परन्तु मनुष्यों या प्राणियों के लिए एकमात्र गन्तव्य होने से 'गृह' के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।[१२७]

३०. छाया

ऋक्संहिता में 'छाया' शब्द का प्रयोग पाँच बार हुआ है। इससे स्पष्टतः प्रकाश से विपरीत छाया या प्रतिरूप का अर्थ है। कहा गया है कि धूप से सन्तप्त व्यक्ति छाया का आश्रय लेता है।[१२८] अतः प्राणियों के लिए आश्रयभूत होने से इस शब्द को निघण्टु के गृहवाची नामों में सम्मिलित किया गया है।

कुछ अन्य शब्द

गोत्र यद्यपि गायों के 'बाडा' का वाचक है[१२९] तथापि 'मेघ' को भी कहा गया है।[१३०] **स्ति** दो बार प्रयुक्त है, एक बार सायण द्वारा गृह का वाचक माना गया है तो दूसरी बार उसमें रहने वाले अर्थात् उसमें आश्रित यजमानों का।[१३१] सूर्यकान्त ने इसको 'आश्रित' का वाचक बताया है[१३२] और सायण ने अन्यत्र 'स्ति' को √स्त्यै (एकत्र करना) से व्युत्पन्न मानकर 'गृह' कहा है।[१३३] ऋग्वेद में एक बार[१३४] ही प्रयुक्त **क्षोण** शब्द यास्क द्वारा 'क्षयण' अर्थात् निवास या आवास का वाचक माना गया है।[१३५] जबकि सायण के अनुसार दृष्टिराहित्य के कारण चलने में असमर्थ होने से एक ही स्थान पर स्थिर 'कण्वऋषि' का विशेषण है और निवासार्थक √क्षि में ल्युट् प्रत्यय लगकर बना है।[१३६] अतः ये शब्द आवास के सामान्य स्वरूप के ही वाचक हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि ऋग्वैदिक दृष्टि में आवास या गृह वह है जो व्यक्तियों और वस्तुओं को ग्रहण करता है (गृहम्); धारण करता है (धामन्); जिसकी ओर सब जाते हैं या आकर्षित होकर गमन करते है (गयः, अस्तम्, स्वसरम्, अज्मन्); जहाँ लोग इकट्ठा होते हैं (पस्त्यम्); समवेत होते हैं (ओकस्); प्रवेश करते हैं (वेश्मन्, निवेशनम्); जिसमें होते हैं (वर्तिः); बैठते हैं (सदनम् सदस्, सद्मन्); रहते हैं (वसतिः, वास्तुः, क्षयः); जहाँ यज्ञ करते हैं (विदथम्); जो आश्रय है (शरणम्, छाया); जो दुःखों को आच्छादित करता है (छर्दिस्); आतपादि क्लेशों का निवारण करता है (वरूथम्)। घर तो वह है जो प्रेम से सबको बाँध कर रखता (दमः) है। वह सुखरूप (शर्मन्) और मनोहारी (हर्म्यम्) है। आवास-स्थान सुरक्षा के लिए दरवाजों से युक्त होता है (दुरोण, दुर्यः)।

ऋग्वेद में गृह के मूलभूत प्रयोजन ही उसके स्वरूप की अवधारणा का आधार माने गये हैं। ऋग्वैदिक ऋषियों द्वारा प्रयुक्त विविध नामों के विवेचन से 'गृह' के वास्तविक धारक तत्त्वों की महत्ता और अनिवार्यता भी रेखांकित होती है।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. निघ. ३/४; नि. ३/१३/६.

२. श्मशानसञ्चयोऽपि गर्त्त उच्यते गुरतेरपगूर्णो भवति। रथोऽपि गर्त्त

उच्यते गृणातेः स्तुतिकर्मणः । नि. ३/५.

३. समानं नीळं वृषणो वसानाः । ऋ. १०/५/२.

४. महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र । ऋ. ८/६०/६;
कृतिर्यशो अन्नं वा–ऋ.सा.भा. ।

५. कृत्तिः कृन्ततेर्यशो वा अन्नं वा । नि. ५/२२.

६. हेमचन्द्र, *अभिधानचिन्तामणि* ४/५५-५८; *हलायुधकोष*; *वाचस्पत्यम्*; *शब्दकल्पद्रुम*-'गृहम्' शब्द ।

७. गृहाः कस्मात्, गृह्णन्तीति सताम् । नि. ३/१३.

८. गृह्णाति धान्यादिकं जीवनार्थम् । *हलायुधकोष, शब्दकल्पद्रुम* ।

९. गृह्यते धर्माचरणाय । *वाचस्पत्यम्* ।

१०. सोमिनो गृहम् । ऋ. १/४६/१, दाशुषो गृहम् । ऋ. १/११०/२, सुन्वतो गृहम् । ऋ. २/४१/२. इत्यादि.

११. Varma, *The Etymologies of Yaska*, Hoshiarpur, 1953, p. 20, 76.

१२. वा.सं. २७/३; अथर्व. ६/३/३, ६/८४/१.

१३. निघ. २/२, २/१०,

१४. कीथ और मैकडॉनल, *वैदिक इण्डेक्स* (अनूदित), प्रथम भाग, पृ. २४४.

१५. गम्यते निवासायेति गयं गृहम्, गीयते स्तूयत इति वा गयं धनम् । ऋ.सा.भा. ५/१०/३.

१६. तद् यद् गच्छति तस्माद् गयस्य गयत्वम् । शत.ब्रा. ३/६/३/२२; गो.ब्रा. (पू.) ५/१४.

१७. प्राणा वै गयाः । शत.ब्रा. १४/८/१५/७.

१८. Suryakanta, *A practical Vedic Dictionary*, Delhi, 1981, p. 269.

१९. ऋ. ५/१०/३, ६/७१/३, ६/७४/२.

२०. नि. ५/१५; यं सोममाभिमुख्येन देवाः पतन्ति गच्छन्ति सः वाजपस्त्यः सोमः । -*दुर्गाचार्यटीका* ।

२१. Varma, *The Etymologies of Yaska*, p. 138.

२२. ऋ. ६/५१/६.

२३. अपस्त्यायन्ति सङ्घीभूय तिष्ठन्ति जीवा यत्र । –*शब्दकल्पद्रुम; हलायुधकोषः* ।

२४. विशो वै पस्त्याः । शत.ब्रा ५/३/५/१६.

२५. तै.सं. १/२/१४/३; साम. २/६२४.

२६. दुरवा भवन्ति, दुस्तर्पाः । नि ४/५.
२७. ऋ. १/५१/३; Varma, *The Etymologies of Yaska*, p. 7.
२८. ऋ.सा.भा. ३/२५/५.
२९. Grassmann, *Worterbuch zum Rigveda*, Leipzig, 1873.
३०. ऋ. १/१७४/७.
३१. Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, p. 344.
३२. ऋ. ८/६०/१९.
३३. ऋ. ४/४०/५.
३४. दुर्यो न यूपः । ऋ. १/५१/१४; द्वारि निखाता स्थूणेव–ऋ.सा.भा.।
३५. प्र चरा सोम दुर्यान् । ऋ. १/६१/१९; ४/१/१८.
३६. दूरे भवो दुर्यः । 'भवे छन्दसि, इति यत्'- ऋ.सा.भा. १/५१/१४.
३७. गृहाः वै दुर्याः । ऐ.ब्रा. १/१३ ; शत.ब्रा. १/१/२/२२; तै.सं. ६/२/९/१.
३८. दमाम् । ऋ. १०/४६/७; दमे । ऋ. १/१/८; दमाय । ३/६/३.
३९. दमूना...दम इति गृहनाम । तन्मनाः स्यात् । नि. ४/५.
४०. दाम्यन्त्युपशाम्यन्ति जना यस्मिन् गृहे। ऋ.दया.भा. १/६१/९; राजवीरशास्त्री, *दयानन्द वैदिक कोष*, पृ. ४५०.
४१. Grassmann, *Worterbuch zum Rigveda.*
४२. Bohtlingk and Roth, *St. Petersburg Sanskrit Worterbuch.*
४३. Varma, *The Etymologies of Yaska*, p. 97.
४४. ऋ. ७/४/८; ओक इति निवास नामोच्यते । नि. ३/३.
४५. ऋ. सा.भा. १/१०४/५ २/१९/१, १/६६/२, ४/१६/१५, ५/७६/४.
४६. स्थानमोक इमे गृहा अश्विनेदं दुरोणम् । ऋ. ५/७६/४.
४७. निघ. १/१२.
४८. जायेव योनौ । ऋ. १/६०/३;
मा नो अकृते पुरुहुत योनौ ।ऋ. १/१०४/७.
४९. ऋ. ३/५/७.
५०. योनिरन्तरिक्षं महानवयवः परिवीतो वायुना ।।
अयमपीतरो योनिरेतस्मादेव परियुतो भवति । नि. २/८.
५१. Varma, *The Etymologies of Yaska*, p. 91.

५२. *दयानन्दवैदिककोषः, वाचस्पत्यम्, शब्दकल्पद्रुमः आदि* ।
५३. ऋ. १/१४४/१, २/३/२, ३/५५/१०; अथर्व. ४/२५/७, ७/६८/१; वा. सं. ४/३४.
५४. ऋ. ८/१०१/६, ९/६३/१४, इत्यादि; कीथ और मैकडॉनल, *वैदिक इण्डेक्स* (अनूदित), प्रथम भाग, पृ. ४४८.
५५. वही ; ऋ. ३/३/१० में सायण ने 'तेजांसि' और ऋ. १०/६७/१ में यास्क ने 'जन्म' अर्थ किया है ।
५६. धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति । नि. ९/२८/१.
५७. दधाति गृहस्थादिकं, धीयते द्रव्यजात-
मस्मिन्निति । *हलायुधकोषः* 'धामन्' शब्द ।
५८. या ते धामानि परमाणि । तै.सं. ४/६/२/५.
५९. त्वमिन्द्रो प्रथमो धामधा असि । ऋ. ९/८६/२८.
६०. ऋ. ४/१९/९, ७/१९/५, ६/७१/२ इत्यादि.
६१. ऋ.सा.भा. १०/१४२/७.
६२. स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी । ऋ. १/२२/१५.
६३. ऋ.सा.भा. १/३१/१५.
६४. वृक्षे न वसतिं वयः । ऋ. १०/१२७/४; न श्येनो वसतिं पतामि। ऋ. १/३३/२; विर्योना वसताविव । ऋ. ९/६२/१५.
६५. तै.सं. ४/२/९/२, ३/६/२/१; वा.सं. १३/१९, १४/१२.
६६. ऋ. ६/१५/३, ६/४६/९, ६/६७/२.
६७. शर्म वर्मच्छर्दिरस्मभ्यं यंसत् । ऋ. १/११४/५.
६८. *शब्दकल्पद्रुम; वाचस्पत्यम्* । उ. सू. २/२६८.
६९. Bohtlingk and Roth, *St. Petersburg Sanskrit Worterbuch*;
७०. कीथ और मैकडॉनल, *वैदिक इण्डेक्स* (अनूदित), प्रथम भाग, पृ. २९९ पर उद्धृत ।
७१. छृद्यते दीप्यते सुवर्णादिभिर्धनैः प्रकाश्यते इति छर्दिर्गृहम् । ऋ.सा.भा. १/१०४/५.
७२. छर्दिः छादनम् आयुधानां निवारकं कवचम् । ऋ.सा.भा. ६/४६/१२.
७३. ऋ.सा.भा. १/९२/१९, १/११६/१८, १/११९/४, १/१८४/५, ७/६७/१०; सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोधभाष्य*.

७४. ऋ.सा.भा. १/१८३/३.
७५. ऋ.सा.भा. १/३४/४.
७६. ऋ.सा.भा. १/११७/२.
७७. ऋ. १०/१०७/१०, १०/१४६/३.
७८. ऋ. १/५८/६.
७९. ऋ. ४/५४/४ शर्म का विशेषण।
८०. ऋ. १/२३/२१, १/१८६/६.
८१. ऋ.सा.भा. ५/४६/५, ६/४६/६, ६/६७/२.
८२. ऋ. १/५६/६.
८३. छर्दिर्यद् वां वरूथ्यं सुदानू। ऋ. ६/६७/२.
८४. शृणन्ति शीतादिक्लेशमिति शरणानि गृहाः। ऋ.सा.भा. ३/६२/३.
८५. बृहद् रोदसी शरणं सुषुम्ने। ऋ. ६/५०/३.
८६. शरणं न वृक्षम्। ऋ. ७/६५/५.
८७. ऋ. २/३/८, १/१५०/१.
८८. ऋ. ६/४६/७, ७/६५/५, ८/४७/१०.
८९. वास्त्वधि क्षितः। ऋ. ८/२५/५.
९०. वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः। नि. १०/१६; उ. सू. १/७० (√वस+तुण्).
९१. Varma, *The Etymologies of Yaska*, p. 52.
९२. निघ. ३/६.
९३. ऋ. ६/७५/११ पर यास्क (नि. ९/१६); ऋ. १/२२/१५ पर यास्क (९/३२) और सायण।
९४. चर्म वा एतत्कृष्णस्य (मृगस्य) तन्मानुषं शर्म देवत्रा।
शत. ब्रा. ३/२/१/८.
९५. सीदति अस्मिन् (√सद् + ल्युट्) इति सदनम्। सीदति अस्याम् (√सद् + असि) इति सदस्। सीदति अत्र (√सद् + मनिन्) इति सद्मन्।
९६. ऋ. १/८५/२, १/१२८/३; Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*. p.671. वरुणस्य ध्रुवं सदः। ऋ. ८/४१/९ और १/४७/१० में 'आवास' अर्थ ग्राह्य है।
९७. निघ. १/१२; 'सद्म' निघ. २/१७ में संग्राम और निघ. ३/३०

में द्यावापृथिवी का नाम भी बताया गया है।

९८. ऋ. १/२१/५.

९९. भयन्ते विश्वा भुवनानि हर्म्या। ऋ. १/१६६/४.

१००. कैलाशनाथ द्विवेदी, *ऋग्वैदिक भूगोल*, कानपुर, १९८४, पृ. २००.

१०१. Majumdar, *The Vedic Age*, London, 1952, p. 398.

१०२. ते हर्म्येष्ठाः शिशवो न शुभ्राः। ऋ. ७/५६/१६.

१०३. तेषां सं हन्मो अक्षाणि यथेदं हर्म्य तथा। ऋ. ७/५५/६.

१०४. हरति जनमनांसीति। *शब्दकल्पद्रुम*।

१०५. विद् ज्ञाने, विद् विचारणे, विद्लृ लाभे, विद् सत्तायाम्...।

१०६. नि. ३/११/१, ८/१२/२; निघ. ३/१७.

१०७. ऋ. १/११७/२५, १०/८५/२७, १०/८५/२६.

१०८. कीथ और मैकडॉनल, *वैदिक इण्डेक्स* (अनूदित), द्वितीय भाग, पृ. ३३१-३३२ पर उद्धृत।

१०९. H.P. Chakraborthy, *Vedic India*, Calcutta, 1981. p. 148.

११०. गुहासदृशे दुर्गमे। ऋ.सा.भा. १/२३/१४.
गवां संचारायोग्यं स्थानम्। ऋ.सा.भा. १/६७/३.
अप्रकाश्यम्, गूढम्। ऋ.सा.भा. २/११/५.
अतिगोप्ये प्रदेशे स्थापितम् गुहा निहितम्। ऋ.सा.भा. १/१३०/३.

१११. ऋ. १/६/५, १/६७/३.

११२. ऋ. १/११६/२५, ७/३७/६.

११३. अस्यते अस्मिन् सर्वमित्यस्तं गृहम्। ऋ.सा.भा. १/६६/५, १/११६/५;
अस्यन्ति दूरीकुर्वन्ति दुःखानि यस्मिंस्तद् गृहम्। ऋ.दया.भा. १/११६/५.

११४. ऋ. १/६६/५.

११५. ऋ. १/४०/७, १/१४४/७, ३/३/२, ३/११/७, ७/३६/५ इत्यादि.

११६. क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन्निति क्षयः। ऋ.सा.भा. १/४०/७.

११७. ऋ. १/१२४/१२, २/३८/६.

११८. अमा पुनरनिर्मितं भवति। नि. ५/१.

११९. अमैषां चितं प्रबुधा वि नेशत्। तै. सं. ४/७/१४/३;
Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, p. 86.

१२०. ऋ. २/३५/६; कीथ और मैकडॉनल, *वैदिक इण्डेक्स* (अनूदित),

प्रथम भाग, पृ. ६१३.

१२१. निघ. १/६, ४/२.

१२२. स्वसराण्यहानि भवन्ति स्वयं सारीण्यपि वा । नि. ५/४.

१२३. वयो न स्वसराणि । ऋ. २/१६/२; हंसासो न स्वसराणि । ऋ. २/३४/५.

१२४. वत्सं न स्वसरेषु धेनवः । ऋ. २/२/२.

१२५. निघ. २/१७; अज्मम् अजनिमाजिम् । नि. ४/१३.

१२६. ऋ. १/१६६/५, ६/३१/२, १/१६३/१०.

१२७. चक्रे अग्निर्जनुषाज्मान्नम् । ऋ. ६/४/४.

१२८. घृणीव च्छायामरपा अशीय । ऋ. २/३३/६.

१२९. ऋ. २/२३/१८, ८/५०/१०.

१३०. ऋ. ३/३०/२१, ३/४३/७.

१३१. ऋ. ७/१६/११, १०/१४८/४.

१३२. Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, p. 723.

१३३. स्त्यायन्त इति स्तयो गृहाः । ऋ.सा.भा. ७/६६/३.

१३४. ऋ. १/११७/८.

१३५. क्षोणस्य क्षयणस्य । नि. ६/६.

१३६. क्षोणाय क्षोणय....एकस्मिन्नेव स्थाने निवसति तस्मै । ऋ.सा.भा. १/११७/८.

[**प्रभात कौटुम्बिकी, पावमानी विशेषांक** सं.-डॉ. निरूपण विद्यालंकार, गुरुकुल प्रभात आश्रम, मेरठ, १९९८, पृ. ५०-६७ **में प्रकाशित** ।]

* * *

माता-पिता के वाचक शब्द

शब्दों का अर्थभेद वेदार्थ की भिन्नता का प्रधान कारण है। वेदार्थ की अनिश्चितता के कारण उनके आधार पर किये गये तत्कालीन समाज, धर्म, संस्कृति आदि से सम्बद्ध अध्ययन और उससे ग्राह्य निष्कर्ष स्वतः अप्रामाणिक और सन्देहास्पद हो जाते हैं। यदि वैदिक शब्दों के वास्तविक स्वरूप को समझा जा सके, तो न केवल मन्त्रार्थ विशद होगा, अपितु तदाश्रित अध्ययन भी पुष्ट होंगे। वैदिक वाङ्मय और निरुक्त के प्रामाण्य पर 'व्युत्पत्ति' को अर्थ-निर्धारण का एक मुख्य आधार माना जाता है। पर व्युत्पत्ति अर्थ-निर्धारण की एकमात्र प्रणाली नही हैं और न ही वह सर्वत्र सभी शब्दों के अर्थनिर्धारण में सहायक है। सही अर्थ-निर्धारण के लिए सभी प्रणालियों का आश्रयण अपेक्षित है। यहाँ ऋक्संहिता में प्राप्त 'माता' और 'पिता' के वाचक शब्दों की विवेचना व्याकृति, कोष, व्युत्पत्ति, निरुक्ति, प्रयोग, तुलना, भाष्य आदि के आधार पर करने का प्रयास किया जा रहा है। इस विवेचन से एक ओर शब्दों का वास्तविक अर्थ स्पष्ट होगा, तो दूसरी ओर माता और पिता के विषय में ऋग्वैदिक दृष्टिकोण भी व्यक्त हो सकेगा।

१. पिता-वाचक शब्द

ऋक्संहिता में पिता के वाचक चार शब्द प्राप्त हैं–पितृ, जनितृ, तत और ओणि।

(अ) पितृ

पिता के अर्थ में ऋक्संहिता में अनेकशः प्रयुक्त शब्द 'पितृ' है। माता और पिता के लिए एक साथ **पितरौ** और **पितरा** शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इनसे और कभी 'माता' शब्द के साथ[१] प्रयुक्त इस शब्द से आकाश और

पृथिवी का अर्थ लिया जाता है। बहुवचन पद 'पितरः' पितर या मृत पूर्वजों का उपलक्षक रहा है। 'पितृ' शब्द इण्डो-योरोपीय काल का है, इसीलिए इसके समकक्ष पद इण्डोयोरोपीय में `peter', ग्रीक में `pater', 'लैटिन' में `pater', गोथिक में `fadar', जर्मन में `vater' और इंगलिश में `father' प्राप्त है, जो पिता के वाचक हैं । निरुक्तकार ने इसे रक्षणार्थक √पा या √पाल् से व्युत्पन्न माना है।[२] सायणाचार्य ने कभी 'पालक'[३] और कभी 'पालयिता'[४] अर्थ लेकर इस व्युत्पत्ति को स्वीकार किया है। दयानन्द ने पालक, जनक,[५] पितृवत् पालन-निमित्तम्[६] इत्यादि अर्थों द्वारा पिता शब्द में निहित उक्त धातुओं को ही स्वीकार किया है। कीथ,[७] मैक्समूलर[८] आदि ने इसे रक्षणार्थक √पा से निष्पन्न माना है, तो हलायुधकोष में अपत्य की रक्षा करने से पिता के इस नाम की सिद्धि बतायी गयी है।[९] √पा में तृच् प्रत्यय लगकर 'पितृ' शब्द बना है।[१०] किन्तु बोथलिंक और रॉथ ने अपने कोश में 'मातृ' की टिप्पणी में बच्चों की बोली के 'मा' और 'पा' को अधिक प्राचीन माना है, जो माता और पिता के लिए प्राचीन अनुकरणात्मक शब्द हैं और बाद में 'मातृ' और 'पितृ' रूप ले लेते हैं ।[११] 'पितृ' शब्द अति प्राचीन है, उसके भारोपीय समकक्षों से यह सिद्ध होता है और पिता को यह नाम देने से प्रकट होता है कि उनमें विद्यमान सन्तान की रक्षा और पालन-पोषण की मूल भावना को ऋग्वैदिक ऋषियों द्वारा मनोवैज्ञानिक धरातल पर अङ्गीकार किया गया था। ऋग्वेद के विवरण जैसे - पिता पुत्र के लिए सुप्राप्य है,[१२] वह पुत्र को भुजाओं में उठाता है,[१३] उसे अपनी गोद में बैठाता है,[१४] पुत्र उसका ध्यान आकृष्ट करने के लिए उसका पल्ला पकड़कर घसीटता है[१५]–आदि से भी पिता की पुत्र के प्रति हितकामना और पुत्र की पिता के प्रति आत्मीयता व्यक्त होती है। 'पिता' नाम से एक दयालु, पालक या रक्षक की अनुभूति होने के कारण ऋग्वेद में अनेक बार ऐसे व्यक्ति को पिता कहा गया है,[१६] और अग्नि, इन्द्र, प्राण आदि कई देवों को 'पिता' या उससे भी अधिक बताया गया है।[१७]

अथर्ववेद और कुछ दूसरे वैदिक उद्धरणों में पालन-पोषण के अर्थ में √पृ से पिता शब्द की निरुक्ति की गयी है।[१८] अतः संहिता में सन्तान के पालक, पोषक और रक्षक के लिए यह शब्द विशेषतया पिता का वाचक है।

(आ) जनितृ

ऋक्संहिता में 'पिता' के अर्थ में अपेक्षाकृत कम बार प्रयुक्त हुआ

शब्द 'जनितृ' है ।[१९] इसके समानान्तर 'मातृ' के लिए 'जनित्री' शब्द प्रयोग में आया है । 'द्यौ' के लिए एक साथ 'पिता' और 'जनिता' शब्दों के प्रयोग से[२०] व्यक्त हो जाता है कि 'जनिता' पिता का पर्याय भी है और विशेषण भी । 'जनिता' पाणिनि के अनुसार छान्दस प्रयोग है । यास्क ने 'जनयिता' अर्थ देकर इसके वास्तविक रूप को बताया है ।[२१] √जन् प्रादुर्भाव के अर्थ में है, जिसमें णिच् और तृच् प्रत्यय लगकर 'जनयिता' शब्द सिद्ध होता है। किन्तु 'जनिता मन्त्रे' से तृच् लगने पर णिलोप हो जाता है ।[२२] सायण, वेङ्कटमाधव, स्कन्दस्वामी, स्वामी दयानन्द, सातवलेकर आदि भाष्यकारों ने इसे उत्पादयिता, उत्पादक, जनयिता आदि अर्थों में ग्रहण किया है ।[२३] अथर्ववेद और अन्य संहिताओं में भी इसका प्रयोग हुआ है ।[२४] कीथ ने इसे 'सन्तान उत्पन्न करने वाला' (Begetter of child) अर्थ में पिता का वाचक माना है। सत्य ही यह शब्द अपनी शब्दगत निरुक्ति के आधार पर 'पिता' के विषय में उत्पादकता का भाव व्यक्त करता है । यमयमीसूक्त में त्वष्टा को यम और यमी का 'जनिता' कहा गया है ।[२५] देवों को जिस प्रकार पालक होने से 'पिता' कहा जाता है, उसी प्रकार मनुष्यों के जन्म का कारण होने से 'जनिता' भी कहा जाता है। 'जनिता' से उत्पादक पिता का अन्य पिता से भेद ग्रहण करना उचित नहीं है । इस शब्द के समकक्ष लैटिन का शब्द `genitor' है, जिसका भी अर्थ उत्पादक है ।

(इ) तत

पिता के वाचक तीसरे शब्द 'तत' का प्रयोग ऋक्संहिता में केवल तीन बार हुआ है ।[२६] अनन्तर वैदिक वाङ्मय में अन्यत्र भी इसका प्रयोग दिखायी देता है ।[२७] ऐतरेयब्राह्मण, ऐतरेय-आरण्यक और अथर्ववेद में 'तत' शब्द का प्रयोग सम्बोधन के रूप में हुआ है ।[२८] मोनियर विलियम्स के अनुसार मुख्यतया वेदों में ही प्रयुक्त यह शब्द संस्कृत के **तात** की तरह एक स्नेहसूचक शब्द है । ग्रासमान के विचार से 'तत' बच्चों की बोली का शब्द है, जिसे स्नेह में पिता के लिए प्रयुक्त किया जाता था ।[२९] निरुक्त के अनुसार एक ऋचा[३०] में प्रयुक्त 'तत' नाम पिता अथवा पुत्र दोनों का हो सकता है ।[३१] तदनुसार विस्तार अर्थ वाली √तन् से कर्मकारक में 'क्त' प्रत्यय[३२] लगकर **तन्यते यः स ततः पुत्रः** अर्थात् जो किया जाता है, जिसे पैदा किया जाता है, वह पुत्र 'तत' है और अपादानकारक में 'क्त' प्रत्यय लगकर **तन्यते**

यस्मात् स ततः पिता अर्थात् जिससे विस्तार पाता है, जन्म लेता है, वह पिता 'तत' है। दुर्गाचार्य ने व्याख्या की है कि उक्त मन्त्र में 'नना' से यदि माता अर्थ लेंगे, तो 'तत' से पिता और यदि 'नना' से पुत्री अर्थ लेंगे, तो 'तत' से पुत्र का अर्थ ग्रहण होगा। तात्पर्य है कि 'मेरा पिता या पुत्र भिषज् है और मेरी माता या पुत्री उपल से अन्न पीसती है।' सायण, वेङ्कटमाधव, सातवलेकर आदि भाष्यकारों की इस सम्बन्ध में यास्क से सहमति है। 'पिता' से **पितामह** की तरह ही बाबा अर्थ में 'तत' से **ततामह** और **प्रततामह** शब्दों की संरचना भी हुई है, पर इनका प्रयोग अथर्ववेद में दिखायी देता है, ऋग्वेद में नहीं। 'तत' शब्द की प्राचीनता में प्रमाण है, लैटिन का `tata' शब्द, जो पितावाची ही हैं। 'तत' नाम पिता के अर्थ में बच्चों की ध्वनि के अनुकरण पर बना है, इसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ कालान्तर में इससे सम्बद्ध किया गया प्रतीत होता है। पिता और पुत्र दोनों का वाची होने से और संस्कृत में इसके समकक्ष स्नेहबोधक 'तात' शब्द के प्रचलन से ऋग्वैदिक 'तत' से पिता के पुत्र के प्रति स्नेही और निकटतम होने का अभिप्राय ग्रहण करना अधिक उपयुक्त है।

(ई) ओणि

√ओण् (अपनयने) में इक् प्रत्यय लगकर 'ओणि' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका शब्दार्थ रक्षण या रक्षक है। ऋग्वेद में प्रयुक्त ओणिम् पद को वेङ्कटमाधव एवं सातवलेकर ने 'रक्षण' अर्थ में और ग्रिफिथ ने 'रक्षक' अर्थ में लिया है, तो सायण और मुद्गल ने 'दुःखस्यापनायकं रक्षणम्' और दयानन्द ने 'दुःखान्धकारस्यापनयनम्' अर्थ में।[३३] 'ओणि' का द्विवचनान्त 'ओण्योः' रूप निघण्टु के द्यावापृथिवी नामों में पठित है।[३४] 'ओण्योः' प्रयोग को सायण, वेङ्कटमाधव, सातवलेकर आदि ने द्यावापृथिवी के अर्थ में लिया है,[३५] किन्तु **भुजे न पुत्र ओण्योः**[३६] मन्त्रांश में उपमा की व्याख्या करते हुए भाष्यकारों द्वारा 'जिस प्रकार रक्षक माता-पिता की बाहों में पुत्र' अर्थ लिया गया है। अतः 'ओणि' शब्द अपने द्विवचन रूप में मात्र एक स्थान पर ही स्पष्टतया माता के साथ पिता का अर्थ दे रहा है, अन्यथा आलङ्कारिक रूप में यह द्यावापृथिवी का निर्देशक है।[३७] कुछ विद्वानों ने 'ओण्योः' पद से सोम-अभिषवण में प्रयुक्त होने वाले प्रस्तर-खण्ड 'सोमग्रावा' का अर्थ लिया हैं।[३८] आप्टे के अनुसार 'ओणि' शब्द के तीन अर्थ हैं- सोम की तैयारी में प्रयोग आने वाला

पात्र, द्यावापृथिवी और रक्षण।[३९] वाचस्पत्यम् ने इसके 'अपनयनकारक' और 'द्यावापृथिवी' अर्थ दिये हैं।

ऋग्वेद में पिता के लिए प्रयुक्त जिन चार शब्दों की विवेचना की गयी, उनमें से 'पिता' और 'तत' इण्डो-योरोपीय काल के हैं, 'ओणि' ऋग्वेद में ही अपेक्षाकृत अप्रचलित शब्द है और 'जनितृ' शब्द का प्रयोग केवल ऋग्वैदिक मन्त्रों में हुआ है। **पिता जनिता** का एक साथ प्रयोग केवल देवों के लिए है, और अलग-अलग सामान्य पिता के लिए। अतः इस आधार पर पिता से पालक और जनिता से उत्पादक पिता के भेद का ग्रहण करना समीचीन नहीं है। 'जनितृ' पद का प्रयोग उसके व्युत्पत्ति-परक अर्थ के आधार पर ऋग्वेद में किया गया है। पिता के वाचक उक्त सभी शब्द पिता के व्यापक स्वरूप के द्योतक हैं – पिता सन्तान के प्रति पालन-पोषण, स्नेह और रक्षण की भावना से युक्त व्यक्ति होता है।

२. माता-वाचक शब्द

ऋग्वैदिक परिवार में पिता के पश्चात् दूसरा स्थान माता का ही था। प्रायः साथ-साथ उल्लेख होने पर पहले 'पिता' और फिर 'माता' शब्द का प्रयोग किया गया है।[४०] जहाँ अनेक देवों के साथ भिन्न-भिन्न सम्बन्ध स्थापित किये गये हैं, वहाँ भी पिता के पश्चात् माता का उल्लेख किया गया है और फिर दूसरे सम्बन्धों का – **द्यौर्वः पिता पृथिवी माता...।** माता-पिता के समास में माता को प्रथम स्थान मिला है - मातरापितरा। माता की प्रतिष्ठा का सूत्रपात ऋग्वेद से ही हुआ है।[४१] ऋक्संहिता में माता के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनके अध्ययन से ऋग्वैदिक दृष्टि में 'माता' के स्वरूप को पर्याप्त रूप में समझा जा सकता है।

(अ) मातृ

माता के वाचक शब्दों में सर्वाधिक प्रयुक्त शब्द 'मातृ' है। माता-पिता के लिए **मातरा, मातरापितरा, पितरा** जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है। कभी दो माताओं के लिए भी 'मातरा' द्विवचनान्त पद प्रयोग में आया है।[४२] कभी **मातृतमा** जैसे विशेषण पद अतिस्नेहमयी माता की अभिव्यक्ति करते हैं।[४३] 'मातृ' शब्द सभी माताओं का वाचक है और बच्चों की ध्वनि के अनुकरण के आधार पर 'मा' से बना है।[४४] 'मातर' के समकक्ष शब्द इसी अर्थ में

दूसरी इण्डो-योरोपीय भाषाओं में भी पाये जाते हैं - अवेस्ता में 'Matar', आर्मीनियन में 'mair', लैटिन में 'mater', आयरिश में 'mathir', प्राचीन उच्च जर्मन में 'muotar', प्राचीन स्लाव् में 'mati' इत्यादि और संस्कृत में तो इसका निरन्तर प्रयोग होता ही है।

निघण्टु में माता शब्द नदीनामों में पठित है।[४५] निरुक्तकार ने इसकी अन्तरिक्ष अर्थ में व्युत्पत्ति की है - निस् + √मा (उत्पन्न करना) से 'माता' शब्द बना है, क्योंकि इसमें प्राणी उत्पन्न किये जाते हैं ।[४६] भारोपीय धातु me- और अवेस्ता की धातु ma- जो नापने के अर्थ में हैं- यहाँ इस √मा से सम्बद्ध की जा सकती है ।[४७] मोनियर विलियम्स के विचार में नापने के अर्थवाली √मा से 'मातृ' शब्द की व्युत्पत्ति बड़ी सन्दिग्ध है । द्रष्टव्य है कि 'नापने वाले' के अर्थ में 'मातृ' शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में वरुण देव के लिए प्राप्त है।[४८] यद्यपि सायण ने उक्त स्थल पर 'निर्माता' अर्थ लिया है, जो आलङ्कारिक रूप में ग्रहणीय है। **माति अस्याम् गर्भो माता** अर्थात् गर्भ जिसमें मापता है, वह माता है- अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी की यह व्युत्पत्ति माता के उत्पादक स्वरूप को उपन्यस्त करती है।[४९] 'मातृ' शब्द को दुर्गाचार्य ने 'सर्वभूतनिर्मात्री' अर्थ में व्याख्यात किया है,[५०] जिससे उसमें निहित √मा के उत्पन्न करना, बनाना आदि अर्थों का सङ्केत मिलता है । अधिकांश स्थलों पर 'मातृ' शब्द से उत्पन्न करने वाली माता अभिलक्षित है।

न हि माता पुत्रं हिनस्ति न पुत्रो मातरम्– से व्यञ्जित होता है कि जो बनाती है, वह नष्ट नहीं करेगी।[५१] दयानन्द स्वामी ने 'मान-सम्मानकर्त्रीं जननीं विदुषीं वा मातरम्'[५२], 'मान्यहेतुर्जननी विद्या वा माता'[५३] इत्यादि व्याख्याओं में 'मानयति सत्करोति इति माता' (√माङ् (माने) + तृच्) व्युत्पत्ति द्वारा 'माता' शब्द से उसके एक भिन्न स्वरूप की उद्भावना की है- वह माता है, जो सम्मान करती है । हलायुधकोष में समान अर्थ में व्युत्पत्ति दी गयी है - 'मान्यते पूज्यते या सा । मान् पूजायाम् ।' वहाँ पुराणों के प्रामाण्य पर दिखाया गया है कि किस प्रकार माता को मान्या, सुपूजिता और गरीयसी बताया गया है । 'माता' पूजनीया है और संस्कृत- साहित्य में आदर के अर्थ में सभी स्त्रियों को 'माता' कहा जाता है, पर ऋग्वेद में पूजार्थक √मान् से 'माता' शब्द की निष्पत्ति सन्दिग्ध है। अवेस्ता और भारोपीय भाषाओं के धातु-साक्ष्य के आधार पर पहले मापने और फिर लाक्षणिक अर्थ में निस्

उपसर्ग पूर्वक √मा से 'बनाने वाली' अर्थ में 'मातृ' शब्द की निष्पत्ति ही ऋग्वैदिक आर्यों को अभीष्ट प्रतीत होती है। विविध देवों, जलों, नदियों, पृथिवी आदि को माता कहकर ऋचाओं में 'मातृ' शब्द से इसी भाव की अभिव्यक्ति की गयी है।

(आ) जनि/जनी

'जनि' पद √जन् (प्रादुर्भावे) में इण् प्रत्यय लगकर सम्पन्न हुआ है और 'जनी' पद 'जनि' में ङीष् प्रत्यय लगकर।[५४] अवेस्ता में इसके समकक्ष 'Jaini' शब्द है, जिसका अर्थ 'नारी' है। यह दोनों ही पद अधिकांशतः 'पत्नी' के द्योतक प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनका प्रयोग प्रायः पति शब्द के योग में हुआ है। सामान्य नारी के अर्थ में इसका प्रयोग सन्दिग्ध है। उषा को जब सुन्दर 'जनि' कहा जाता है, तब उसका आशय पत्नी से ही है।[५५] डेलब्रुक ने इस शब्द से पत्नियों का अर्थ लिया है।[५६] यह शब्द प्रायः बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है, इसीलिए कीथ और मैकडॉनल इसमें 'वेश्याओं' की सम्भावना देखते हैं। पर वे इस पक्ष में निश्चित नहीं हैं, क्योंकि 'जनि' का पति से सम्बन्ध और पत्नी से समरूपता भी व्यक्त की गयी है।[५७] फिर विवाह के प्रसङ्ग में इस शब्द का प्रयोग हुआ है।[५८] 'जनित्व', 'जनिधा', 'जनिकाम' आदि समस्त पदों से भी यही व्यक्त होता है।

सायण ने **देवानां वै पत्नीः जनयः**–श्रुति के आधार पर इसे देव-पत्नियों का वाचक माना है। शब्दार्थ के अनुसार 'जनि' वह पत्नी है, जो बच्चों को जन्म देती है। यद्यपि 'जनि' या 'जनी' अधिकतर 'जाया' के अर्थ में ऋक्संहिता में व्यवहृत हुए हैं, परन्तु अपने शाब्दिक अर्थ 'उत्पादयित्री' के आधार पर इसे माता का वाचक पद भी माना जा सकता है। एक मन्त्र की व्याख्या 'वे मरुत् तुम्हारी ओर इस प्रकार दौड़े, जैसे माताएँ बच्चे की ओर दौड़ती हैं। मेघ रथों के समान एक साथ मिलकर शीघ्रता से आगे बढ़े,'– में माता अर्थ की सङ्गति अधिक बैठती है, यद्यपि इसे सामान्य स्त्री के अर्थ में भी लिया जा सकता है।[५९] कोषों में दी गयी निरुक्तियों द्वारा 'जनि' से उत्पादयित्री स्त्री का अर्थ सुनिश्चित होता है।[६०] मोनियर विलियम्स का विचार, कि 'जनि' शब्द कोशों में मातावाची है, परन्तु साहित्य के प्रयोग में नहीं–बहुत उपयुक्त नहीं है। यदि ऋग्वेद में इस शब्द का 'माता' अर्थ में प्रयोग सन्दिग्ध है, तो ब्राह्मणग्रन्थों में इससे माता का अर्थ अपेक्षाकृत

सरलता से ग्रहणीय है ।[६१] यहाँ जलों को 'जनि' इसीलिए कहा गया है, क्योंकि उससे ही सब उत्पन्न होता है ।

(इ) जनित्री

पुंल्लिङ्ग 'जनितृ' के समानान्तर स्त्रीलिङ्ग शब्द 'जनित्री' का प्रयोग ऋग्वेद के मन्त्रों में लगभग २० बार 'जनयित्री' या 'उत्पादिका' के अर्थ में हुआ है, जो माता का पर्यायवाची या विशेषण पद है ।[६२] 'जनितृ' शब्द में ङीप् प्रत्यय द्वारा इस की सिद्धि होती है अथवा 'जनितामन्त्रे' से 'जनयित्री' शब्द का ही वैदिक रूप 'जनित्री' है । निरुक्त में इसे 'जनयित्री' कहा गया है ।[६३] यह शब्द स्त्री में उत्पादकशक्ति का वाचक होने से माता का अर्थ देता है । कभी इसका प्रयोग विशेषण के रूप में हुआ है, जैसे तेज को प्रकट करने वाली उषा अथवा द्यावापृथिवी ।[६४] 'माता' के साथ जब इस शब्द का प्रयोग होता है, तब भी यह विशेषण ही प्रतीत होता है ।[६५] इसी प्रकार 'युवतयः' के विशेषण के रूप में 'जनित्रीः' पद प्रयुक्त हुआ है, वहाँ भी माता का अर्थ स्पष्टतया ग्राह्य है ।[६६] द्विवचन में इसका प्रयोग 'मातरा' के समान ही माता-पिता का वाचक है और 'द्यावापृथिवी' को कहा गया है ।[६७]

(ई) प्रसू/सू

माता के सन्तान को उत्पन्न करने के सामर्थ्य को पिता की तुलना में अधिक महत्त्व दिये जाने के कारण 'जनि' और 'जनित्री' के अतिरिक्त माता के लिए 'प्रसू' और 'सू' शब्द भी ऋग्वेद में प्रयुक्त हुए हैं । 'प्र' उपसर्गपूर्वक √सू (प्रसव करना) में क्विप् प्रत्यय लगकर 'प्रसू' शब्द की निष्पत्ति हुई है । प्र + √सू का बहुतायत से प्रयोग क्रिया रूप में भी हुआ है । पुत्र के सन्दर्भ में माता को उसे उत्पन्न करने वाली होने से 'सू' नाम से कहा गया है ।[६८] 'सू' शब्द 'पूर्वसू', 'सकृत्सू' जैसे समासयुक्त पदों में भी प्राप्त है ।[६९] 'उत्पन्न करने वाली' के अर्थ में माता को 'प्रसू' बताया गया है,[७०] परन्तु ऋग्वेद में मनुष्य-माता के लिए इस शब्द का प्रयोग नहीं के बराबर है । अनेक बार मातृस्थानीया, अन्न आदि की उत्पादयित्री ओषधियों[७१], उत्पत्ति के हेतुभूत जलों[७२] आदि को 'प्रसू' कहा गया है । घास के नये अंकुरों को 'प्रसू' नाम दिया गया है ।[७३] अमरकोश के अनुसार लौकिक संस्कृत में 'प्रसू' निश्चित रूप से माता का पर्याय है ।[७४]

(उ) अम्बा/अम्बि/अम्बी

माता के अर्थ में ऋग्वेद में तीन बार अम्बा[७५], एक बार 'अम्बि' और एक बार ही 'अम्बी'[७६] शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'अम्ब्यम्'[७७] को मोनियर विलियम्स ने 'अम्बी' शब्द का द्वितीया विभक्ति का रूप माना है, तो ग्रासमान ने 'अम्बि' का। यद्यपि इस स्थल पर सायण ने इसकी व्याख्या 'स्तोतारम्' और वेङ्कटमाधव ने 'माध्यमिकां वाचम्' की है। इसी प्रकार 'अम्बयः' को सायण और मुद्गल ने 'मातृस्थानीया आपः', स्कन्दस्वामी ने 'मातृभूता आपः' इत्यादि अर्थों में लिया है और कौषीतकिब्राह्मण की श्रुति प्रमाणरूप में उद्धृत की है - **आपो वा अम्बयः**।[७८] जिस प्रकार जलों को माता, जनि और जनित्री कहा गया है, उसी प्रकार 'अम्बि' भी, क्योंकि 'अम्बि' शब्द 'अम्बा' का पर्याय है।[७९] एकबार **अम्बितमे** रूप भी प्रयोग में आया है।[८०] ऋग्वेद में 'अम्बा' शब्द का केवल सम्बोधन रूप 'अम्बे' मिलता है। इरावती कार्वे का विचार है कि ये शब्द कदाचित् प्रतिदिन की बोली के शब्द थे, जो माता को पुकारने के लिए व्यवहृत होते थे, इसीलिए प्रायः इनका सम्बोधन में ही प्रयोग हुआ है।[८१] ये शब्द बच्चों की बोली के अनुकरणात्मक शब्द हैं और कदाचित् इनका माता के अर्थ में प्रयोग इण्डो-योरोपीय काल से ही प्रचलित हो गया था, क्योंकि इनके समान-प्रभव शब्द योरोपीय भाषाओं में भी पाये जाते हैं[८२]; जैसे जर्मन में Amme (nurse), प्राचीन जर्मन में Amma, लिथूएनियन में Amba इत्यादि। मन्त्रों में सरस्वती नदी और ओषधियों को 'अम्बा' कहा गया है।[८३] 'अम्बितमा' सरस्वती के लिए सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त है।

इन शब्दों के समकक्ष कुछ दूसरे शब्द भी वैदिक साहित्य में पाये जाते हैं, जैसे अम्बालिका, अम्बाली, अम्बिका इत्यादि।[८४] 'अम्बा' से भद्रमहिला, प्रिय माता और अच्छी माता के अर्थ लिये गये हैं।[८५] यद्यपि ऋग्वैदिक मातावाचक अम्बा इत्यादि शब्दों की संरचना अनुकरणात्मक आधार पर हुई है,[८६] तथापि इनके निर्वचन के प्रयास भी किये गये हैं। स्वायी दयानन्द ने 'अम्बा' शब्द की निरुक्ति अम् (गत्यर्थक) + वन् प्रत्यय (वकार का बकार) अर्थात् 'अमति प्रेमभावेन प्राप्नोति' की है, तदनुसार जो प्रेमभाव से सन्तान के पास जाती है, वह माता अम्बा है।[८७] क्षीरस्वामी ने इसे √अम्ब् से व्युत्पन्न

माना है– √अम्ब् + घञ् + टाप् =अम्बा, तदनुसार 'अम्ब्यते स्नेहेन उपगम्यते यया सा' अर्थात् जो स्नेहपूर्वक जाती है, वह 'अम्बा' है।[८८] वाचस्पत्यम् में भी यही निर्वचन दिया गया है। √अम्ब् को पूजनार्थक मानकर ब्रह्मवैवर्तपुराण में एक लोककृत निर्वचन किया गया है। जिसके अनुसार अम्बा 'पूजिता' या 'नन्दिता' का नाम है।[८९] सायण ने अम्बि शब्द की निरुक्ति शब्दार्थक √अबि में 'इ' प्रत्यय से की है, जिसका भाव प्रायः समान है।[९०] यद्यपि इन शब्दों के निर्वचनपरक अर्थों से माता के स्नेही स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है, तथापि इनको बच्चे की स्वाभाविक बोली में माता के लिए निकले शब्द मानने पर इनसे माता के प्रति बच्चे का आकर्षण झलकता है। ऋग्वेद में प्राप्त मातावाचक ये शब्द वैदिक भाषा के भावाभिव्यक्ति-सामर्थ्य को दर्शाते हैं।

(ऊ) नना

ऋग्वेद के एक मन्त्र में कवि ने अपने माता-पिता के कार्यों का वर्णन किया है - तत भिषज् है और नना उपलप्रक्षिणी है।[९१] ऋग्वेद में एकमात्र यही पर पितावाची 'तत' के समानान्तर 'माता' अर्थ में 'नना' शब्द मिल रहा है। विकल्प से सायण, वेङ्कटमाधव, सातवलेकर आदि भाष्यकारों ने 'तत' को 'पुत्र' और 'नना' को 'पुत्री' अर्थ में ग्रहण किया है। यास्क के अनुसार 'नना' शब्द √नम् से व्युत्पन्न है और माता या दुहिता का वाचक है।[९२] यह शब्द इण्डो-योरोपीय काल से प्रचलित माना जाता है। भारोपीय भाषा के समकक्षों के आधार पर सिद्धेश्वर वर्मा ने 'माता' अर्थ को सही माना है और व्युत्पत्ति को असंगत।[९३] सूर्यकान्त ने इस शब्द को बच्चों की बोली का अनुकरणात्मक शब्द बताया है।[९४] वेङ्कटमाधव और सायण ने यास्क से सहमत होते हुए इसे √नम् से व्युत्पन्न किया है। सायण की व्याख्या है - माता अपत्य के प्रति स्तनपान आदि के लिए नमनशील होती है, तो दुहिता शुश्रूषा के लिए नमनशील होती है, इसीलिए 'नना' दोनों का नाम है।[९५] यह शब्द जितना ध्वन्यात्मक अनुकरण से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है, उतना इस व्युत्पत्ति से नहीं। एक बार ही प्रयुक्त होने से और वैदिक वाङ्मय में अन्यत्र अल्पतया प्रयोग में आने से इसके स्वरूप पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता है। 'माता' अर्थ में यह शब्द सन्तान के प्रति माता की स्नेहमयी कोमल

भावनाओं को व्यक्त करने में सक्षम है ।

ऋग्वेद के मातावाचक शब्दों की अर्थ-वैज्ञानिक समीक्षा से स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक काल में माता को जननी, स्नेहमयी, आत्मीया और अत्यन्त निकटवर्ती बताने वाले नामपदों से जाना जाता था । पिता से विशेषतया जुड़े सन्तान के पालन-पोषण और रक्षण जैसे कार्यों को माता से सीधे-सीधे सम्बद्ध नहीं किया गया था ।

सन्दर्भ–सङ्केत

१. अन्तरा पितरं मातरं च । ऋ. १०/८८/१५.
२. पिता पाता वा पालयिता वा । नि. ४/२१.
भृत्यानां भरणात्सम्यक् प्रजानां परिपालनात् ।
अर्थादानाच्च धर्मेण पिता नस्त्रिदिवं गतः ।। रा.अयो. १०५/३३.
रक्षनाच्च पिता नृणाम् । *ब्रह्मवैवर्तपुराण, गणपतिखण्ड* ४४.
३. ऋ.सा.भा. १/३०/१४.
४. ऋ.सा.भा. २/२६/३.
५. ऋ.दया.भा. १/११४/७.
६. ऋ.दया.भा. १/१६४/१२.
७. Keith and Macdonell, *Vedic Index of Names and Subjects*, Delhi, 1982, Vol. I,p. 526.
८. Max Muller, *Biographies of Words*, London, 1888, p. 16.
६. पाति रक्षति अपत्यं यः । *हलायुधकोष* ।
पाति पिता । *अमरकोश-टीका* २/२८.
१०. नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० । उ.सू. २/६५.
११. Bohtlingk and Roth, *St. Petersburg Sanskrit Worterbuch*, Vol. V, p. 699.
१२. ऋ. १/१/६.
१३. ऋ. १/३८/१.
१४. ऋ. ५/४३/७.
१५. ऋ. ३/५३/२.

१६. ऋ. ४/१७/१७, ८/८६/४.

१७. ऋ. १/२६/३, ७/२३/१६.

१८. विपिता स उनः पिपर्तु। अथर्व. १२/१०१/१२; तु.– तै. ब्रा.१/३/१०/५; २/३/८/३२; *सामविधान* ४/१.

१६. ऋ. १/१२६/११, ४/१७/४, ६/५६/२, ८/३६/४.

२०. द्यौर्मे पिता जनिता.....। ऋ. १/१६४/३३, और भी ३/५४/६,४/१/१०, ४/१७/१७ में द्यौ, १०/८२/३ में विश्वकर्मा को, ६/८६/१०, ६/८७/२ में सोम और ३/१/१० में अग्नि को 'पिता जनिता' से निर्दिष्ट किया गया है। 'निश्चय ही ये देव ऋषियों के वास्तविक पिता नहीं है, जो उनका अन्य पिताओं से भेद करने के लिए 'पिता' और 'जनिता' कहने की आवश्यकता होती।' शिवराज शास्त्री, *ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध*, मेरठ, १६६२, पृ. ६८-६६.

२१. नि. ४/२१.

२२. पा. सू. ६/४/५३.

२३. ऋ. १/६६/४.

२४. अथर्व. ४/१/७; वा.सं. १६/८७.

२५. ऋ. १०/१०.

२६. ऋ. ८/६१/५-६, ६/११२/३.

२७. अथर्व. ५/२४/१६; तै. सं. ३/२/५/५; तै. ब्रा. १/६/६/७ इत्यादि.

२८. ऐ. ब्रा. ५/१४, ७/१५; ऐ. आ. १/३/३; अथर्व. ८/४/७७.

२६. Grassmann, *Worterbuch zum Rigveda*, Leipzig, 1873, p. 94.

३०. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। ऋ. ६/११२/३.

३१. तत इति सन्ताननाम पितुर्वा पुत्रस्य वा। नि. ६/५.

३२. तनु विस्तारे+क्त ('यस्य विभाषा' सूत्र से अनिट् होने पर अनुनासिक का लोप)।

३३. ऋ. १/६१/१४.

३४. निघ. ३/३०.

३५. ऋ. ६/१६/१, ६/६५/११.

३६. ऋ. ६/१०१/१४.

३७. Williams, *A Sanskrit English Dictionary*, p. 235.

३८.. Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, Delhi, 1981,p. 236; ऋ. ६/१६/१.

३६. Apte, *The Practical Sanskrit English Dictionary*, p. 319.

४०. ऋ. ६/१/५, ८/६८/११.

४१. ऋ. १/१६१/६; द्यौष्पितः पृथिवि मातर् । ऋ. ६/५१/५; ४/६/७; एस. कुजूर, *वैदिक और धर्मशास्त्रीय साहित्य में नारी*, वाराणसी, १६८२, पृ. ६५.

४२. ऋ. १/१४२/७.

४३. ऋ. ३/३३/३.

४४. Bohtlingk and Roth, *St. Petersburg Sanskrit Worterbuch*, Vol. V, f.n.

४५. निघ. १/१३.

४६. माता अन्तरिक्षम्, निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि । नि. २/८.

४७. Varma, *Etymologies of Yaska*, Hoshiarpur, 1953, p. 142.

४८. ऋ. ८/४१/४; Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, p. 524.

४६. *अमरकोशटीका* २/२८.

५०. नि. *टीकादुर्गाचार्य* ४/१४.

५१. शत.ब्रा. ५/२/१/१८.

५२. ऋ.दया.भा. १/११४/७.

५३. ऋ.दया.भा. १/८६/१०.

५४. जनिघसिभ्यामिण् । उ. सू. ४/१३०; कृदिकारादक्तिनः । (वा) पा.सू. ४/१/४५.

५५. ऋ. ४/५२/१.

५६. ऋ. ५/६१/३.

५७. पत्युर्जनित्वम् । ऋ. १०/१८/८; जनयो न पत्नीः । ऋ. १/६२/१०, १/१८६/७; जनि शब्दोऽत्र जननीवचनो द्रष्टव्यः । जनन्यः इव पत्न्य इव च । ऋ.स्क.भा. १/६२/१०.

५८. ऋ. ५/६१/३, १०/४०/१०.

५६. अभि प्र दद्रुर्जनयो न गर्भं रथा इव प्र ययुः साकमद्रयः । ऋ. ४/१६/५; शिवराज शास्त्री, *ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध*, पृ. २७५.

६०. जायते सन्ततिर्यस्मात् इति जनी– *हलायुधकोश*; उत्पत्तिसाहचर्याज्जनिः स्त्री इक् (ण)– *अमरकोशटीका* १/३०; जन्यते स्वयं गर्भो वाऽस्याम्– *वाचस्पत्यम्* ।

६१. आपो वै जनयो अद्भ्यो हीदं सर्वं जायते । शत.ब्रा. ६/८/२/३; वा.सं. १२/३५.

६२. ऋ. २ ३०/२, ७/६७/८.

६३. नि. ८/१४.

६४. ऋ. १/१२४/५, १/१८५/६.

६५. तं ते माता परि योषा जनित्री । ऋ. ३/४८/२.

६६. ऋ. ३/५४/१४.

६७. रोदसी जनित्री । ऋ. ७/६७/८.

६८. उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीत् । ऋ. १/३२/६; सूते गर्भं विमुञ्चतीति सूः माता । ऋ.सा.भा. १/३२/६.

६६. ऋ. २/३५/५, १०/७४/४.

७०. Grassmann, *Worterbuch zum Rigveda*, 'प्रसू'; Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, p. 474, खिलसूक्त २/१०/५; अथर्व. ३/२३/४; वा.सं. १८/७.

७१. ऋ. १/६७/५, १/६५/१०, ७/६/३.

७२. ऋ. १०/१३८/२.

७३. ऋ. ३/५/८, ८/६/२० इत्यादि.

७४. प्रसूयते प्रसूः । *अमरकोश* २/२६.

७५. ऋ. २/४१/१६, १०/८६/७, १०/६७/२.

७६. ऋ. १/२३/१६, ८/७२/५.

७७. वेति स्तोतव अम्ब्यम् । ऋ. ८/७२/५.

७८. ऋ. १/२३/१६.

७६. अम्बिशब्दोऽम्बापर्यायः । ऋ.स्क.भा. १/२३/१६.

८०. ऋ. २/४१/१६.

८१. Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute,., XX, p. 77 f.n. अङ्गानां वर्धनादम्बा । महा. १२/१५८/३०.

८२. शिवराज शास्त्री, *ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध*, पृ. २७६.

८३. ऋ. २/४१/१६, १०/६७/२.

८४. अम्बे अम्बिके अम्बालिके । वा.सं. २३/१८; तै.सं. ७/४/१६/१; वा.सं. ३/५७.

८५. Affectionate mother - *Apte's Sanskrit English Dictionary*; भद्रमहिला –Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary* ; Good mother - Williams, A *Sanskrit English Dictionay.*

८६. अम्बाम्बेति यथा बालं शिक्षमाणः प्रभाषते । *वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड* १५२.

८७. यजु. दया.भा. ६/३६.

८८. *अमरकोशटीका* १/१४.

८९. अम्बेति मातृवचनो वन्दने पूजने तथा ।
पूजिता वन्दिता माता जगतां तेन साम्बिका ।।
ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्र. खं. ५७/२०.

९०. ऋ. १/२३/१६; अच इः । उ.सू. ४/५७८.

९१. ऋ. ६/११२/३.

९२. नना नमतेर्माता वा दुहिता वा । नि. ६/६.

९३. भारोपीय - nana, nena; सर्वोक्रोटियन् - nena (mother) –Varma, *Etymologies of Yaska*, p. 120.

९४. Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionay*, p. 371.

९५. माता खल्वपत्यं प्रति स्तनपानादिना नमनशीला भवति । दुहिता वा शुश्रूषार्थम् । ऋ.सा.भा. ६/११२/३.

[**व्युत्पत्ति और अर्थनिर्धारण,** सं. डॉ. महेश भारतीय, गाजियाबाद, १६८८, पृ. ३५-४४ **में प्रकाशित ।**]

* * *

१९

भाई-बहिन के वाचक शब्द

ऋग्वैदिक समाज पुरुषप्रधान था। परिवार में पिता, पति, भाई और पुत्र का स्थान माता, पत्नी, बहिन और पुत्री की अपेक्षा कई दृष्टियों से अधिक महत्त्वपूर्ण था। वैदिक आर्यों का पारिवारिक जीवन बड़ा सुखी था। माता या पत्नी घर का केन्द्र-बिन्दु थी और पारिवारिक जीवन में पिता के बाद उसका ही विशेष स्थान था। परिवार के सभी सदस्यों का अपना सुनिश्चित स्वरूप और महत्त्व था। ऋक्संहिता के आलोचनात्मक अध्ययन द्वारा पारिवारिक सम्बन्धों की परिकल्पना का चित्र उभरता है। यद्यपि कई बार निष्कर्षों की प्रामाणिकता सन्दिग्ध रहती है, तथापि सभी पारिवारिक सम्बन्धों का यथोचित महत्त्व रहा, यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। ऋचाओं में नारी के माता और पत्नी के रूप विशेषतः सम्माननीय दिखायी देते हैं। बहिन और पुत्री के उल्लेख अपेक्षाकृत अल्प है।

ऋग्वैदिक परिवार पितृमूलक था, अतः स्वाभाविक रूप से पुत्री की तुलना में पुत्र ही परम काम्य था। कदाचित् संहिता में कहीं पर भी पुत्री के जन्म की कामना नहीं की गयी है, किन्तु ध्यातव्य है कि उसकी अवमानना या अवहेलना का भी कोई सन्दर्भ उपलब्ध नहीं है। मन्त्रों से परिवार में पुत्र के समान ही पुत्री के प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार के कुछ संकेत ग्रहण किये जा सकते हैं। पुत्र यदि पिता के व्यवसाय को अपनाते थे, तो पुत्री माता के समान सम्मान और अलंकार को धारण करती थी।[१] भारतीय संस्कृति में प्रारम्भ से ही स्त्री के व्यक्तित्व का प्रधान गुण मातृत्व स्वीकार किया गया है, इसीलिए यहाँ विवाहिता नारी परम सम्माननीया है। नारी के सभी रूपों

में माता का रूप सर्वोपरि है । इसके बाद क्रमशः आते हैं -पत्नी, पुत्री और बहिन के रूप । ऋक्संहिता में इसी क्रम से नारी के रूपों की महत्ता का आकलन प्राप्त होता है ।

ऋग्वैदिक आर्यों ने पारिवारिक सम्बन्धों में माता और पिता के सम्बन्ध के बाद भाई और बहिन के सम्बन्ध को महत्त्वपूर्ण माना था । ऋग्वेद में पिता, माता, भाई और बहिन के उल्लेख में यही क्रम ग्राह्य है।[२] अन्यत्र भी पिता और माता के पश्चात् भाई का उल्लेख हुआ है ।[३] छान्दोग्योपनिषद् के एक सन्दर्भ में पिता, माता, भाई और बहिन का क्रमशः वर्णन है ।[४]

ऋग्वैदिक विवरणों के अल्प और अस्पष्ट होने के कारण पारिवारिक सम्बन्धों के स्वरूप के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण आधार है, इनके नामों का अर्थवैज्ञानिक विश्लेषण । इससे उस सम्बन्ध के मूल स्वरूप और परिवार में उसकी स्थिति आदि को अपेक्षाकृत असन्दिग्ध रूप में समझा जा सकता है । व्याकृति, कोष, निरुक्ति, प्रयोग, तुलना और भाष्य आदि के आधार पर इन शब्दों की विवेचना एक ओर शब्द के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट करती है, तो दूसरी ओर उस विषय के सम्बन्ध में ऋग्वैदिक दृष्टिकोण को भी प्रामाणिक रूप में उपन्यस्त करती है ।

ऋग्वेद की संहिता में उपलब्ध पारिवारिक शब्दावली में जहाँ माता, पिता, पति, पत्नी, पुत्र, पुत्री आदि के लिए विविध नाम आये हैं, जिनमें भी नारी और पुत्र के वाचक शब्दों की संख्या पर्याप्त बड़ी है, वहीं भाई और बहिन के वाचक शब्द बहुत ही कम हैं । यहाँ 'भ्रातृ', 'जामि' और 'सजात' भाई के वाचक नाम हैं, तो 'स्वसृ' और 'जामि' नाम बहिन के लिए प्रयुक्त हुए हैं । इनके प्रयोग के प्रसङ्ग भी स्वल्प हैं ।

(अ) भाई के वाचक शब्द

(१) भ्रातृ

भाई के लिए ऋक्संहिता में सर्वाधिक प्रयुक्त एवं स्पष्ट शब्द 'भ्रातृ' अथवा 'भ्रातर्' है । इण्डोयोरोपीय भाषाओं में भी इसके समकक्ष शब्द उपलब्ध होते हैं ।[५] मनुष्यों के अतिरिक्त देवों को एक दूसरे का अथवा स्तुति करने वाले का भाई कहा गया है ।[६] ऋषियों ने अनेक बार देवों से भाई का सम्बन्ध स्थापित किया है और उनको भाई कहा है ।[७] प्रायः इन सभी

प्रसंगों में 'भ्रातर्' से इस शब्द का मुख्य अर्थ ही अभिप्रेत है। आचार्य यास्क ने 'भ्रातर्' शब्द की द्विविध व्युत्पत्ति की है - ले जाना अथवा पोषण करना अर्थ वाली √भृ से, क्योंकि वह अपने भाग को ले जाता है अथवा उसका हरण करता है, इसलिए 'भ्रातर्' है; अथवा 'वह पालनीय होता है', इसलिए 'भ्रातर्' है।[८] बृहद्देवताकार शौनक ने मध्यम देवता 'वायु' को 'मध्यम भ्राता' बताया है और 'घृतपृष्ठ' को 'तृतीय भ्राता' कहा है।[९] भ्राता शब्द √भ्राज् में तृन् प्रत्यय से निष्पन्न होता है[१०], अर्थात् जो अत्यधिक भ्राजमान् है, वह 'भ्राता' है। यह व्युत्पत्ति भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं है, क्योंकि इससे भाई के सहोदर, समानोदर्य्य, सगर्भ, सहज आदि मुख्य अर्थ ग्रहणीय नहीं हो पाते है।

मैक्समूलर की दृष्टि में 'भ्रातर्' शब्द ले जाना अर्थवाली √भर् से व्युत्पन्न है।[११] कीथ एवं मैकडॉनल के मत में पोषणार्थक √भृ से इसकी व्युत्पत्ति कदाचित् ठीक है।[१२] तदनुसार भाई अपनी बहिन को ले जाने वाला है और उसका पोषण या रक्षण करने वाला है। स्पष्ट ही भाई के सम्बन्ध की कल्पना प्रधानतया बहिन की अपेक्षा से ही हुई है। इसीलिए एक मन्त्र में उपमा देते हुए कहा गया है कि जैसे बहिनों के लिए भाई होता है, वैसे ही अग्नि नदियों के लिए है।[१३] अतः भाई 'भ्रातर्' नाम से बहिन का रक्षण, पोषण और हित करने वाला द्योतित होता है। इस तथ्य की संगति इस बात से भी होती है कि वैदिक काल में पिता की मृत्यु के पश्चात् भ्राता ही बहिन का रक्षक होता था और भ्रातृविहीन कन्याओं को दुर्भाग्य का सामना करना पड़ता था। भाई से रहित कन्या के लिए **अभ्रातृ** शब्द ऋग्वेद में दो बार आया है। एक बार कहा गया है कि भ्रातृविहीन कन्या जैसे पिता आदि के पास पीछे वापस लौट आती है।[१४] यद्यपि अभ्रातृमती कन्या के पिता के पास वापस आने की व्याख्या बहुविध की गयी है और इसके कुछ कारण भी परिकल्पनीय रहे हैं, तथापि इससे यह संकेत अवश्य ग्राह्य है कि बिना भ्राता की कन्या को किसी भी विपत्ति में पिता से ही सहायता लेनी पड़ती थी। अतः भ्राता का अस्तित्व मूलतया बहिन के लिए उसके रक्षण और पोषण की अपेक्षा से ही गठित हुआ है। यही कारण है कि सहोदर भाई के अतिरिक्त 'भ्रातर्' शब्द सामान्य रूप से आत्मीय और हितकारी बन्धु का वाचक भी रहा है ऋग्वेद से लेकर आजतक। भाषा में इसका प्रयोग विशिष्ट

और व्यापक दोनों अर्थों में किया जाता है। भारतीय भाषाओं में भी 'भ्रातर्' से उद्भूत समकक्ष शब्द देखे जा सकते हैं।[१५] ये सर्वत्र सहोदर के ही वाचक हैं। ऋग्वेद में √भृ से व्युत्पन्न इस नाम द्वारा विशेष रूप से बहिनों के रक्षण और पोषण के कार्य से भाईयों के सम्बन्ध को व्यक्त किया गया है।

(२) जामि

ऋग्वेद में भाई के अर्थ में ही 'जामि' शब्द का अत्यन्त सीमित प्रयोग दिखायी देता है। अग्नि को स्यन्दनशील जलों का 'जामि'[१६] और जनों का 'जामि'[१७] कहा गया है। जिससे इनके लिए उसके सहायक अथवा बन्धु होने का आभास मिलता है। बन्धुभाव के लिए **जामित्व**[१८] और 'जामि' के विपरीत अपरिचित या शत्रु के अर्थ के प्रतिपादनार्थ **अजामि**[१९] शब्दों का प्रयोग भी ऋचाओं में प्राप्त होता है। विशेष बात है कि 'जामि' शब्द भाई के अतिरिक्त बहिन (स्वसर्) और बहिन के विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द की व्युत्पत्ति और मूलधात्वर्थ निश्चित नहीं हैं। यास्क ने निरुक्त में 'जामि' की द्विविध निरुक्ति दी है। यह शब्द √जन् (उत्पन्न करना) से है, क्योंकि पितृकुल से भिन्न दूसरे पुरुष-सम्बन्धी इसमें सन्तान पैदा करते हैं अथवा √जम् (गति करना) से है, क्योंकि यह कन्या पतिकुल में जाने वाली होती है।[२०] ये निरुक्तियाँ 'जामि' को कन्या या बहिन के अर्थ में सिद्ध करती है। सिद्धेश्वर वर्मा के मत में ये व्युत्पत्तियाँ आरम्भिक अवस्था की हैं और इनकी वैदिक सन्दर्भों से पुष्टि नहीं होती है।[२१]

ऐसे मन्त्र भी हैं, जहाँ 'जामि' का अर्थ बहिन या भाई-दोनों ही हो सकता है, यथा हे देव ! हम तुम्हारे जामिवत् सख्य को जानते हैं।[२२] यहाँ ग्रिफिथ ने 'भाई' अर्थ किया है,[२३] तो सातवलेकर ने 'भाई के प्रति भगिनी के समान।'[२४] ग्रासमान ने अपने कोष में इससे 'रक्त के सम्बन्धी' का अर्थ लिया है।[२५] कीथ, मैकडॉनल और सूर्यकान्त ने इस अर्थ को स्वीकार किया है, यद्यपि विवेचना नहीं की है। ग्रासमान ने 'जामि' का 'जामातर्' से सम्बन्ध जोड़ते हुए √द्यम् और √यम् से 'जामि' शब्द की व्युत्पत्ति मानी है और 'जामि' को 'यम' का समानार्थक स्वीकार किया है। डॉ. इरावती कार्वे ने वाल्डे और पोकोर्नी के अनुसार 'जामि' शब्द की व्युत्पत्ति √जम् (विवाह करना) से मानकर यह मत दिया है कि मूल रूप में 'जामि' शब्द विवाह-साथी का वाचक था; भाई और बहिन एक दूसरे के विवाह-साथी थे, इसीलिए एक

दूसरे के 'जामि' थे।[२६] उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में √जम् का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग नहीं हुआ है। 'जमदग्नि' शब्द में जो √जम् दिखायी पड़ती है, वहाँ उसका अर्थ 'विवाह करना' नहीं है। अतः उक्त मत अयुक्त ठहरता है।

सायण ने ऋक्संहिता में 'जामि' और इसके रूपों की व्याख्या में प्रायः 'सहजात' और 'सह-उत्पन्न' अर्थ दिए हैं।[२७] इसीलिए उन्होंने व्युत्पत्ति दी है कि √जम् (खाना) से 'जामि' बना है, क्योंकि जो एक ही पात्र में मिलकर खाते हैं।[२८] इस प्रकार √जम् से व्युत्पन्न यह शब्द परस्पर अभेदप्रतीति रखने वाले सहजात भाई और बहिन या बहिन और बहिन के अर्थ को प्रकट करता है– ऐसा मानना कदाचित् ऋग्वैदिक प्रयोगों से अधिकांश में संगत बैठता है। द्विवचन में प्रयुक्त 'जामी' शब्द 'बन्धुभूत' या 'सहोत्पन्न परस्पर भगिनी' अर्थ में द्यावापृथिवी का विशेषण है।[२९] एक मन्त्र में यह शब्द एक साथ भाई और बहिन– दोनों अर्थों का बोधक है। यम यमी से कहता है कि वे युग आयेंगे, जब भगिनियाँ (जामयः) बन्धुत्व से विहीन भ्राता (अजामि) को पति बनायेंगी।[३०] अतः 'जामि' से प्रारम्भिक स्तर पर सहजात या साथ रहने वाले रक्त सम्बन्धी भाई और बहिन अभिप्रेत रहे हैं; अनन्तर व्यापक अर्थ में 'जामित्व' सम्बन्धी या बन्धुत्व का वाचक हो गया है।

(३) सजात

भाई जैसे सम्बन्धी के आशय में प्रयुक्त हुआ 'सजात' शब्द वस्तुतः स + जात (√जन्) निरुक्ति के आधार पर 'एक साथ उत्पन्न होने वाले' या 'समान जाति वाले' सम्बन्धियों का विशेषण ही है। शतपथब्राह्मण में प्राणों को 'सजात' कहा गया है।[३१] अन्यत्र 'अश्विनौ' के 'सजात्य' की बात की गयी है।[३२] मरुतों से कहा गया है कि उनकी गायें 'सजात्य' के कारण 'सबन्धवः' हैं।[३३] ऋग्वेद में एक बार यह शब्द 'ज्ञासः' के साथ विशेषण-विशेष्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है - समान जन्म वाले बान्धव।[३४] अतः 'सजात्य' से भले ही बन्धुता का अभिप्राय ले लिया जाये, परन्तु 'सजात' स्पष्टतया भाई का वाचक न होकर 'सम्बन्धी' का ही द्योतक है।[३५] ग्रिफिथ ने इससे भाई का अर्थ ग्रहण किया है।[३६]

(आ) बहिन के वाचक शब्द

(१) स्वसृ

ऋग्वेद में 'स्वसर्' अथवा 'स्वसृ' शब्द निश्चित रूप से बहिन का वाचक है। इसका प्रयोग बहुतायत से हुआ है। इस शब्द की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। योरोपीय भाषाओं में 'स्वसर्' के समकक्ष प्राप्त शब्द भी बहिन के वाचक है।[३७] यास्क ने इस शब्द की द्विविध निरुक्ति की है– 'सु + असा' अर्थात् 'अत्यधिक निर्भर' या 'स्वेषु सीदति' अर्थात् 'अपने लोगों पर निर्भर रहने वाली' 'स्वसर्' होती है।[३८] तात्पर्य है कि बहिन को 'स्वसर्' इसलिए कहा गया है, क्योंकि वह अच्छी तरह निर्भर या मर्यादित रूप में रहती है। विवाह होने पर भी अपने भाई आदि से सम्बन्ध रखती है और उन पर निर्भर करती है। सायण ने 'स्वसर्' को 'स्वयंसारिणी' अर्थात् 'अपनी राह पर चलने वाली' अर्थ में स्व + √सृ से सम्बद्ध किया है।[३९] इसीलिए स्वयं आकाश में आने वाली उषा भग की स्वसर् है।[४०] 'रात्रि' और 'उषा' परस्पर 'स्वसा' हैं।[४१] द्यावापृथिवी 'जामी' भी है और 'स्वसारा' भी हैं।[४२] बहुवचन में 'स्वसारः' शब्द ऐसी वस्तुओं का वाचक है, जो परस्पर सम्बद्ध रहती हैं, या मिलकर गतिशील होती हैं, जैसे अंगुलियाँ,[४३] नदियाँ[४४] और अग्नि- शिखाएँ।[४५] पणियों ने सरमा से कहा था, 'हम तुम्हें अपनी स्वसर् ही समझते हैं।'[४६] सिनीवाली को देवों की स्वसा कहा गया है।[४७] अदिति को जल, ओषधि और सूर्य की स्वसा बताया गया है।[४८] 'जामित्व' की भाँति 'स्वसृत्व' शब्द का भी व्यवहार हुआ है।[४९] सांमनस्य सूक्त में एक बहिन के दूसरी बहिन से स्नेह की कामना है।[५०]

ऋग्वेद में 'स्वसर्' शब्द नियमित रूप से मनुष्यों और देवों के सन्दर्भ में बहिन के अर्थ की अभिव्यक्ति कर रहा है। शब्दकल्पद्रुम, वाचस्पत्यम् और हलायुधकोष में 'स्वसर्' शब्द को 'सु' उपसर्ग पूर्वक √अस् (क्षेपणे) से निष्पन्न बताया गया है। तदनुसार जो अच्छी तरह (विवाह आदि के द्वारा दूसरे के घर में) फेंकी जाती है– 'सुष्ठु अस्यते क्षिप्यते' - वह बहिन स्वसर् कहलाती है। मैक्समूलर ने 'स्वसर्' शब्द को 'स्वस्ति' में सन्निहित √स्वस् (अच्छा रहना) से निष्पन्न माना है।[५१] अतः परिवार की कुशलता का ध्यान रखने वाली बहिन का स्वसर् शब्द से बोध होता है।

अर्थपरक विवेचन के आधार पर इस नाम द्वारा ऋग्वैदिक काल की बहिन के स्वरूप में उसकी निर्भरता, उसका अपने परिवार से दूसरे परिवार में जाना और सदा अपने परिवार की मंगल-कामना करना आदि विदित

होते हैं ।

(२) जामि

जैसा कि पहले देखा जा चुका है 'जामि' शब्द से ऋग्वेद में 'भाई' और 'बहिन' दोनों ही अभिप्रेत रहे हैं । कई बार यह शब्द स्पष्टतः 'स्वसर्' के समानवाची शब्द की तरह प्रयुक्त हुआ है ।[५२] और कभी स्वसर् के साथ विशेषण-विशेष्य के रूप में दिखायी देता है; परन्तु यह निश्चित है कि इससे भाई की अपेक्षा बहिन का अभिप्राय ही अधिकांश स्थलों पर सुनिश्चित होता है । कहा गया है कि पुत्र अपनी बहिन को पिता के धन का भाग नहीं देता है ।[५३] यहाँ 'जामि' का बहिन के अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं हो सकता है । सोम की स्तुति में कहा गया है कि सामगायन करने वाला ज्ञानी सामन् गाता हुआ वैसे ही आगे जाता है, जैसे कोई मित्र की जामि के पास जाता है ।[५४] यास्क ने 'जामि' का अर्थ बहिन से लिया है[५५] और इसी अर्थ को द्योतित करते हुए उसकी निरुक्तियाँ भी की हैं । भाई और बहिन– दोनों के अभिप्राय में प्रयुक्त हुए इस शब्द को योजनार्थक या गत्यर्थक √जम् से व्युत्पन्न मानकर परस्पर सम्बद्ध या सहोत्पन्न अर्थ में लेना ही अधिक युक्तिसंगत दिखायी देता है । अनन्तर संस्कृत में भगिनी, पुत्री, स्नुषा और कुलस्त्री के अर्थ में इसका प्रयोग आम बात हो गयी है ।[५६] ऋग्वेद में भाई-बहिन के वाचक इस समान शब्द से माता-पिता की दृष्टि में इनकी समान अवस्थिति अवश्यमेव सुविदित होती है ।

(इ) अन्य शब्द

बन्धु[५७], **सबन्धु**,[५८] **सनाभि**[५९], **ज्ञाति**[६०] और **ज्ञासः**[६१]–कुछ ऐसे शब्द हैं, जो स्पष्टतः भाई के वाची न होकर भी ऋग्वेद में समान बन्धनवाले सम्बन्धियों के वाचक हैं । डॉ. सरकार ने 'ज्ञातिः'[६२] शब्द को ऋग्वेद में मूलतः भाई और बहिन का बोधक बताया है ।[६३] ये शब्द ऋग्वेद के बाद भी इन्हीं अर्थों को प्रकट करते रहे हैं और व्यापक पारिवारिक भाईचारे के तात्पर्य से गर्भित हैं । 'बन्धु' यदि समान भाव से बाँधे रखने के अर्थ में √बन्ध्(बन्धने) से व्युत्पन्न हुआ है, तो 'ज्ञाति' समभाव से सुख-दुःख को जानना अर्थ में √ज्ञा (अवबोधने) से निष्पन्न माना जा सकता है । कभी-कभी इनसे सजन्मा और समानजन्मा- जैसे अर्थ ग्रहण किये गये हैं, इसलिए भाई

की द्योतक शब्दावली में इनका परिगणन किया जाना समीचीन है ।

सौभाग्यवाची 'भग' में 'इनि' प्रत्यय से निष्पन्न बहिन के भाग्यशालित्व का सूचक[६४] **भगिनी** शब्द ऋग्वेद में अप्रयुक्त है । इसका सर्वप्रथम प्रयोग निरुक्त में उपलब्ध होता है ।[६५] बहिन के पुत्र भगिनेय के आशय में 'स्वस्रीय' यजुर्वेद की संहिता में आया है,[६६] तो पिता के भ्राता के पुत्र के आशय में 'भ्रातृव्य' शब्द अथर्ववेद की संहिता में मिलता है ।[६७]

(ई) निष्कर्ष

इस प्रकार एक पिता की सन्तानों के परस्पर सम्बन्ध को ऋग्वेद में लगभग उसी प्रकार समझा गया है, जैसा मानवीय परिवार में आज तक समझा जाता है– पुरुष-सन्तानें परस्पर भाई हैं । स्त्री-सन्तानें परस्पर बहिनें हैं और पुरुष एवं स्त्री-सन्तानें परस्पर भाई और बहिन हैं । इन्द्र और अग्नि को समान माता-पिता से उत्पन्न होने के कारण 'भ्रातरा' कहा गया है,[६८] उषा और रात्रि को समान माता-पिता से उत्पन्न होने के कारण 'स्वसारा' कहा गया है,[६९] तो स्त्री-देव पुरुष-देव की बहिन[७०] और पुरुषदेव स्त्रीदेव के भाई हैं । यह सच है कि ऋषियों ने भाई के 'भ्रातर्' नाम से उसके रक्षाकार्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है और चूंकि इस कार्य का बहिन के सन्दर्भ में ही अधिक औचित्य है, अतः यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि बहिन की अपेक्षा से ही 'भाई' के सम्बन्ध की उद्भावना हुई है । भाई के लिए भाई के सम्बन्ध का महत्त्व अपेक्षाकृत गौण रहा है । इसी प्रकार 'स्वसर्' शब्द के अर्थवैज्ञानिक विवेचन से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि परिवार में बहिन के सम्बन्ध की परिकल्पना विशेषतः भाई के आशय में ही हुई है। रोचक बात है कि इन दोनों शब्दों के अतिरिक्त मुख्यतः प्रयुक्त हुआ, भाई और बहिन का वाचक समान शब्द एक ही है - 'जामि'; इससे परिवार में दोनों के सहोदर स्वरूप और समान स्थिति पर प्रकाश पड़ता है । कन्या के 'अभ्राता' विशेषण से ऋग्वैदिक परिवार में बहिन के लिए भाई का महत्त्व व्यक्त होता है। पणियों द्वारा सरमा को स्वसर् बनाने के अनुरोध से भाईयों की दृष्टि में बहिनों के प्रति स्नेहपूर्ण दायित्व का आभास मिलता है ।

अन्ततः कह सकते हैं कि ऋग्वैदिक परिवार में भाई और बहिन के स्वरूप और सम्बन्ध की जो उद्भावनाएँ, उनके लिए व्यवहृत शब्दों के विवेचन से प्रकाश में आती हैं, वे ही आज तक भारतीय परिवारों में अक्षुण्ण रूप

से आदर्श के रूप में मान्य और आचरणीय हैं। कर्तव्यपरायण सरमा ने बहिन बनाने के पणियों के प्रस्ताव को ठुकराते हुए कहा है, 'न मैं भाई का सम्बन्ध समझती हूँ और न मैं बहिन का सम्बन्ध जानती हूँ'–[७१] इससे भाई और बहिन के स्पष्ट और भेदक स्वरूप का संकेत मिलता है। साथ ही 'जामि' शब्द के दोनों के लिए समान रूप से व्यवहार द्वारा इन दोनों के आन्तरिक सम्बन्ध के तादात्म्य की प्रतीति होती है। भाई और बहिन के सम्बन्ध को लेकर ऋग्वेद में अभिव्यक्त हुआ प्रमुख दृष्टिकोण यही है।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्।

ऋ. ३/३१/२.

ऋन्धन् वस्त्रालंकारादिना ऋध्यमान एव भवति। ऋ. सा.भा., ३/३१/२; Upadhyaya, *Women in Rigveda*, Delhi, 1974, p. 43.

२. द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा। ऋ. १/१६१/६.

३. यस्यावधीत् पितरं यस्य मातरं यस्य शक्रो भ्रातरं नात ईषते।

ऋ. ५/३४/४.

पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्। ऋ. १०/३४/४.

४. स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वा।

छा. उप. ७/१५/२.

५. अवेस्ता- bratar; आर्मीनियन- elbair; गोथिक- bropar; लिथुनियन- broteretis; प्राचीन स्लाव- bratru; लैटिन- frater; भारोपीय- bhrater.

६. ऋ. १/१६१/१, १/१७०/२, ४/१/२, ६/५६/१.

७. ऋ. १/१७०/३, ३/५३/५, ८/४३/१६.

८. भ्राता भरतेर्हरति कर्मणो हरते भागं, भर्त्तव्यो भवतीति वा। नि. ४/२६.

९. वायुर्भ्राता तु मध्यमः। घृतपृष्ठस्तृतीयोऽत्र। बृ. दे. ४/३३.

१०. भ्राज् दीप्तौ + तृन्। उ. सू. २/९६; *शब्दकल्पद्रुम*, *हलायुधकोष*, *वाचस्पत्यम्*.

११. Max Muller, *Biographies of Words*, London, 1888, p. 20.

१२. Keith and Macdonell, *Vedic Index of Names and Subjects*,

Vol. II, p. 113;
सूर्यकान्त, *वैदिककोष*, बनारस, १६६३, पृ. ३५६.

१३. भ्रातेव स्वस्राम् । ऋ. १/६५/४.

१४. अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची । ऋ. १/१२४/७, ४/५/५.

१५. अवधी, गुजराती, मारवाड़ी– भाई; सिन्धी– भाओ ; आसामी, बंगाली, उड़िया–भाइ; मैथिली भाय्; मराठी- भाऊ । शिवराज शास्त्री, *ऋग्वैदिक काल में परिवारिक सम्बन्ध*, मेरठ, १६६२, पृ. २६४.

१६. जामिः सिन्धूनां भ्रातेव स्वस्राम् । ऋ. १/६५/७.

१७. कस्ते जामिर्जनानामग्ने....। ऋ. १/७५/३.
त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः । ऋ. १/७५/४.

१८. ऋ. १/१०५/६, १/१६६/१३.

१६. तवोतिभिरुत जामीँरजामीन् । ऋ. ६/१६/८.

२०. न जामये भगिन्यै । जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यम् ।
जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः । निर्गमनप्राया भवति । नि. ३/६.

२१. Varma, *The Etymologies of Yaska*, p. 77.

२२. विद्या हि ते प्रमतिं देव जामिवदस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि ।
ऋ. १०/२३/७.

२३. Griffith, *Hymns of the Rigveda*, Vol. II, p. 147.

२४. सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य*, दशम मण्डल, पृ. ४५;
Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, Delhi, 1981, p. 300.

२५. Grassmann, *Worterbuch zum Rigveda*; Keith and Macdonell, *Vedic Index of Names and Subjects*, Vol. I, p. 284; सूर्यकान्त, *वैदिककोश*, पृ. १६१.

२६. Annals of . B. O. R. I., XX, p. 110-11.

२७. प्रजापतेः सकाशात् सहोत्पन्नत्वात् परस्परं जामित्वम् । ऋ.सा.भा. १/१८५/५; एकस्मात् प्रजापतेः एकाशादुद्भूतत्वादग्न्योषध्योर्जामित्वमुपचर्यते। ऋ.सा.भा. १०/२१/८; जामिं सहजातम् अजामिं सहानुत्पन्नं शत्रुम्। ऋ. १/१११/३.

२८. जमन्त्येकस्मिन् पात्रे सह भुज्यते इति जामयो ज्ञातयः ।
ऋ.सा.भा.१/७१/१.

२६. ऋ. १/१५६/४, १/१८५/५, ५/१६/४.

३०. यत्र जामयः कृणवन्नजामि । ऋ. १०/१०/१०.

३१. शत. ब्रा. १/६/१/१५.

३२. ऋ. ३/५४/१६, ८/७३/१२.

३३. सजात्येन मरुतः सबन्धवः । ऋ. ८/२०/२१.

३४. इन्द्राग्नी ज्ञास उत वा सजातान् । ऋ. १/१०६/१.

३५. इयं सजाता अनु वीरयध्वम् । ऋ. १०/१०३/६.
Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, p. 668.

३६. Griffith, *Hymns of the Rigveda*, Vol. I, p. 184.

३७. लैटिन- soror; आयरिश- siur; गोथिक- swistar; लिथु०- sesuo; प्रा. स्लाव- sestra; अंग्रेजी- sister; भारोपीय- suesor आदि।

३८. स्वसा सुअसा स्वेषु सीदतीति । नि. ११/३२;
Varma, *Etymologies of Yaska*, p. 93.

३६. ऋ.सा.भा. २/३२/६, २/५/५, २/५/६; Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, p. 735.

४०. स्वसा भगस्य । ऋ. १/१२३/५.

४१. ऋ. १/११३/३, १/१२४/८, ३/५५/११.

४२. ऋ. १/१८५/५, ३/५४/७.

४३. ऋ. १/६२/१०, १/७१/१, ३/२६/१३, ४/६/८, ६/१/७, ६/७२/३, ६/८६/४.

४४. ऋ. ६/६१/६, ३/१/३, ६/८६/३६, ३/३३/६.

४५. ऋ. १०/५/५.

४६. स्वसारं त्वा कृणवै । ऋ. १०/१०८/६.

४७. ऋ. २/३२/६.

४८. ऋ. १/१६१/६.

४६. ऋ. १०/१०८/१०.

५०. मा स्वसारं उत स्वसा । अथर्व. ३/३०/३.

५१. Max Muller, *Biographies of Words*, London, 1888, Introduction, p. XXII.
५२. स्वसार ईं जामयो मर्जयन्ति । ऋ. ६/८६/४; ३/१/११.
५३. न जामये तान्वो रिक्थमारैक् । ऋ. ३/३१/२.
५४. क्रन्दन्नेत्यभि सख्युर्न जामिम् । ऋ. ६/६६/२२.
५५. ऋ. १/१२३/५; नि. ३/६.
५६. महा. १३/४६/७; मनु. ३/५७ (शोचन्ति जामयो यत्र...)
५७. ऋ. १/१६४/३३.
५८. ऋ. ३/१/१०.
५९. ऋ. १०/१३३/५.
६०. ऋ. ७/५५/५.
६१. ऋ. १/१०९/११.
६२. ऋ. १०/११७/९.
६३. S.C. Sarkar, *Some Aspects of the Earliest Social History of India*, p. 77.
६४. भगं यत्र पित्रादीनां द्रव्यादानेऽस्त्यस्याः इनि ङीष् । *वाचस्पत्यम्; शब्दकल्पद्रुम;* Keith and Macdonell, *Vedic Index of Names and Subjects*, Vol. II, p. 93.
६५. नि. ३/६.
६६. तै. सं. २/५/१/१.
६७. अथर्व. ५/२२/१२.
६८. ऋ. ६/५६/२, १/१७०/२.
६९. ऋ. १/१२४/८, ३/५५/११.
७०. ऋ. १/१२३/५, १/१८०/२.
७१. नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वम् । ऋ. १०/१०८/१०.

* * *

२०

पत्नी के वाचक शब्द

ऋग्वेद के आधार पर कहा जा सकता है कि सप्तसिन्धु की आर्य-स्त्रियों की स्थिति उतनी हीन नहीं थी, जितनी उत्तरकाल में दिखायी देती है।[१] पति-पत्नी का युग्म ही एकाकी परिवार का मूलाधार होता था, अतः पत्नी के रूप में नारी का विशेष गरिमामय स्थान था। पत्नी यद्यपि दूसरे परिवार से आती थी, तथापि वह उस परिवार का अभिन्न अङ्ग हो जाती थी। ऋग्वेद और अथर्ववेद में निर्दिष्ट विवाह-विधियों में वधू के औपचारिक रूप से पितृलोक से विच्छिन्न होकर पति-लोक से आबद्ध हो जाने के स्पष्ट उल्लेख हुए हैं।[२] वही परिवार का निर्माण करती थी। घर की व्यवस्था, बच्चों का लालन-पालन उसका ही उत्तराधिकार था। विवाहसूक्त[३] बताता है कि वह पति के साथ परिवार के धार्मिक जीवन में भाग लेती थी और घर के सभी सदस्यों की स्वामिनी थी।[४] गृहपति अपनी पत्नी के साथ गार्हपत्याग्नि में सब धार्मिक कृत्यों को सम्पादित करता था। 'वीतिहोत्रा' पति-पत्नी अमरता की प्राप्ति के लिए मिलकर देवताओं की स्तुति करते थे।[५] ऋग्वेद में **दम्पती** पद प्राप्त होता है।[६] एक ऋचा में वर्णन है कि किस प्रकार जाया और पति मिलकर समान मन से सोम का अभिषवण करते थे।[७] कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल और कुमारसम्भव में पत्नी को जिस अर्थ में 'सह-धर्मचारिणी' कहा है, वही भावना ऋग्वेदकाल में विद्यमान थी।

वैदिक आर्यों का गार्हस्थ्य-जीवन बड़ा सुखी था। पत्नी घर का केन्द्र-बिन्दु थी। ऋग्वेद में पत्नी के गृहिणी-पद का बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है। विश्वामित्र ने इन्द्र से कहा है - 'हे मघवन् ! पत्नी ही घर है, वही घर में आश्रय-स्थान है।'[८] इसी प्रकार जब कहा जाता है कि 'जिस प्रकार घर में स्त्री सबको सुख देती है',[९] तब भी लाक्षणिक अर्थ यही निकलता

है कि प्रेमपूर्वक सबकी देखभाल करने के कारण पत्नी घर का आभूषण है। ऋषि विश्वामित्र ने सोमपान करके हर्षित हुए इन्द्र से प्रार्थना की है- 'हे इन्द्र ! तुमने सोम पी लिया है, अब घर जाओ; क्योंकि तुम्हारे घर में कल्याण करने वाली पत्नी प्रतीक्षा कर रही है और वहाँ सुख भी है'।[१०] एक अन्य ऋषि की इन्द्र से याचना है - 'हे इन्द्र ! तुम अपने दोनों घोड़े जोतो और अन्न (अन्धस्) से तृप्त होकर अपनी प्रिय पत्नी के पास जाओ'।[११] इन मन्त्रों में गार्हस्थ्य जीवन के सौख्य का दिग्दर्शन होता है। केवल इन्द्र की पत्नी की ही कल्पना नहीं है, अपितु सभी ३३ देवता पत्नीयुक्त हैं।[१२] ऋग्वेद में द्यावापृथिवी से पत्नीयुक्त विशाल गृह देने की प्रार्थना की गयी है।[१३] अन्यत्र यजमानों को पत्नीयुक्त करने की अग्नि से प्रार्थना है।[१४] पत्नी न केवल पति की प्रियतमा थी, अपितु वह उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति में सदा संलग्न रहती थी।[१५] वह अपने को सदा सुन्दर वेषभूषा से सुसज्जित रखती थी और स्मितमुखी थी।[१६] गृहिणी के रूप में पत्नी अत्यन्त व्यस्त रहती थी।[१७] वह विदथ में भाग लेती थी और पति की असफलताओं का वर्णन करने में स्वतन्त्र थी।[१८] परन्तु उसके स्वभाव में त्याग, सहिष्णुता और अक्रोध की प्रधानता थी, जिसका चित्रण अक्षसूक्त में किया गया है।[१९] पत्नी के चलसम्पत्ति के रूप में प्रयोग के संकेत ऋग्वेद में अवश्य हैं, परन्तु वहाँ उसकी निन्दा ही निहित उद्देश्य है।[२०] डॉ. अल्टेकर ने माना है कि **वधूमन्तो दश रथासः** जैसे उद्धरणों से प्रकट होता है कि वधू उपहाररूप थी,[२१] परन्तु डॉ. उपाध्याय की समीक्षा ही समीचीन प्रतीत होती है कि यहाँ गुलाम-लड़कियों से अभिप्राय है।[२२] ऋग्वैदिक समाज में सामान्यतया एक-पति-पत्नी-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। बहुपत्नी-विवाह की प्रथा के कुछ सन्दिग्ध निर्देश अवश्य मिलते हैं, परन्तु प्रतीत होता है कि इनका चलन राजाओं अथवा धनी मनुष्यों में ही रहा था। कुछ विद्वान् ऋग्वेद-काल में बहुपति-विवाह की कल्पना करते हैं, किन्तु इसके यथोचित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।[२३]

पत्नी का पारिवारिक जीवन में अत्यन्त महत्त्व था, तभी इसे देवता का परम अनुग्रह माना गया है कि वे पत्नीरहित पुरुषों (अमेनान्) को पत्नीवान् (जनिवतः) कर दें।[२४] विवाहित रूप में नारी को आर्य-परिवार में परम सम्माननीय माना गया था; पत्नी के लिए व्यवहृत कुछ विशेष विशेषणों की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है। वह मङ्गलकारिणी होने से

'कल्याणी'[२५] और 'अदुर्मङ्गली'[२६], अत्यन्त कल्याणमय गुणों वाली होने से 'शिवतमा'[२७], सब पर अनुशासन करने के कारण 'सम्राज्ञी' सदृश[२८], पति की प्रिय होने से 'प्रिया'[२९], अनिन्दिता और पतिव्रता होने से 'अनवद्या'[३०], सब पर प्रभुत्व करने में समर्थ होने से रानीरूप में 'महिषी'[३१], और शोभनपतिसम्पन्ना होने से 'अविधवा'[३२] कही गयी है । ऋग्वैदिक समाज में पत्नी की स्थिति से सम्बद्ध निष्कर्षों की प्रामाणिकता के प्रमुख आधार हैं -संहिता में प्रयुक्त पत्नीवाचक शब्द । इन शब्दों के अर्थवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा परिवार में उसकी स्थिति को पर्याप्तरूप से समझा जा सकता है । व्याकृति, कोष, निरुक्ति, प्रयोग, तुलना, भाष्य आदि पर आधारित इन शब्दों की विवेचना से एक ओर इनके वास्तविक अर्थ स्पष्ट होते हैं, तो दूसरी ओर पत्नी के विषय में ऋग्वैदिक दृष्टिकोण के अध्ययन में भी सहायता मिलती है ।

ऋक्संहिता में नारीवाचक शब्दों की संख्या पर्याप्त बड़ी है । कुछ शब्द विशेष नारियों के बोधक हैं, तो नारी, योषा, स्त्री इत्यादि कुछ शब्द सामान्य नारी के लिए बहुप्रयुक्त हैं । विशेष नारीबोधक शब्दों में **शशीयसी** (धनी और दान देने वाली स्त्री)[३३], **रहसू** (एकान्त में जन्म देने वाली व्यभिचारिणी अर्थात् अविवाहिता माता)[३४], **अप्सरा** (देवस्त्री, समुद्र या अन्तरिक्ष से सम्बद्ध स्त्री या जार की ओर अपसरण करने वाली स्त्री)[३५], **वध्रिमती** (नपुंसक पति वाली)[३६], **प्रफर्वी**[३७] (बृहत् नितम्बिनी,[३८] अधेड़स्त्री[३९] या भ्रष्टस्त्री[४०]), **साधारणी**[४१] (नर्तकी[४२] या सामान्या), **प्रवीता**[४३] (कामिता[४४] या निषिक्तरेतस्का[४५]), **दासपत्नी**[४६] (दास पति वाली), **विधवा**[४७] (बिना आश्रय वाली अथवा अपतिका), **न्योचनी**[४८] (वधू की सेवा में दी गयी दासी[४९]), **दूती**[५०] (सन्देश देने वाली), **नृतू**[५१] (नर्तकी), **पतिजुष्टा**[५२] (पति की सेवा करने वाली) और **अपतिघ्नी**[५३] (पति को दुःख न देने वाली) उल्लेखनीय हैं । ऋग्वेद में इन सबकी प्राप्ति प्रकट करती है कि ऋग्वैदिक समाज में नारी के परिस्थितिजन्य विविध रूप यथार्थतया स्वीकार किये गये थे।

स्त्रीसामान्य के लिए प्रयुक्त शब्दों से पत्नीवाचक शब्दों को सर्वथा पृथक् करना कदाचित् कठिन है, तथापि प्रयोग और अर्थगत विश्लेषण के आधार पर उनको दो भागों में रखा जा सकता है -

१. **स्पष्टतया पत्नीवाचक शब्द** - वधू, जाया, पत्नी, सुपत्नी, ग्ना, जानि।

२. **प्रसङ्गतः पत्नीवाचक शब्द** - जनि, जनी, स्त्री, योषा, योषणा, नारी, वेना, मेना ।

(१) वधू

ऋक्संहिता में विवाह-विधि के प्रसङ्ग में जहाँ पुरुष के लिए वर, वरेयु, मर्य, हस्तग्राभ, वधूयु, दिधिषु आदि कई शब्दों का प्रयोग हुआ है, वहाँ उसी प्रसङ्ग में स्त्री के लिए केवल एक बहुप्रयुक्त शब्द है- वधू। कई बार इस शब्द का अर्थ स्पष्ट रूप से 'दुल्हन' प्रतीत होता है। एक मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में सुमङ्गली वधू को देखने की बात की गयी है,[५४] जो दुल्हन ही है। अन्यत्र विवाह की इच्छुक या पति की कामना करने वाली स्त्री के लिए 'वधू' शब्द व्यवहृत हुआ है।[५५] कभी विवाहिता स्त्री या पत्नी के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है,[५६] और वहाँ यह प्रायः 'पति' शब्द के योग में आया है। सायणाचार्य ने यथावसर इसे सामान्य स्त्री के अर्थ में भी ग्रहण किया है।[५७] **वधूमन्तः**[५८] पद की व्याख्या में लड़कियों को 'वधू' इसलिए कहा गया है, क्योंकि अनन्तर आर्य उनसे विवाह कर लेते थे। पुरुकुत्स के पुत्र त्रसदस्यु के द्वारा पचास वधुओं के दान का उल्लेख है,[५९] जिसमें वधू से सामान्य स्त्रियों का अभिप्राय ही है। विद्वानों की मान्यता है कि ये अनार्य स्त्रियाँ उपहार में दी जाती थीं, जिन्हें प्राप्तकर्त्ता विवाह द्वारा आर्य-परिवार में सम्मिलित कर लेता था।[६०] अतः मन्त्रों में शब्द के प्रयोग के आधार पर कहा जा सकता है कि 'वधू' शब्द का प्रयोग उस स्त्री के लिए होता था, जो दुल्हन होने वाली हो या हो चुकी हो। तभी डेलब्रुक का मत है कि यह शब्द विवाहिता अथवा पति की आकांक्षी अथवा विवाह-संस्कार में दुल्हन बनी हुई स्त्री का द्योतक है।[६१] कीथ और मैकडॉनल तथा सूर्यकान्त ने अपने कोषों में इसे स्त्री के लिए व्यवहृत सामान्य शब्द बताया है। एक स्थान पर 'वधू' शब्द से रॉथ ने 'मादा पशु' का और त्सिमर ने 'दासी' का अर्थ ग्रहण किया है।[६२]

'वधू' शब्द √वह् (प्रापणे) में 'ऊ' प्रत्यय लगकर बना है, जिसमें 'वहो धश्च' सूत्र से ह् को ध् हो गया है।[६३] यह वहतु (बारात) के समकक्ष है। तदनुसार जो पति के द्वारा अपने घर लाई जाती है, वह वधू है। वाचस्पत्यम् ने व्युत्पत्ति दी है - 'वधू-ऊह्यते पितृगेहात् पतिगृहम्' अर्थात् जो पिता के घर से पति के घर लाई जाती है, वह नवोढ़ा पत्नी 'वधू' कहलाती है। त्सिमर के अनुसार विवाहार्थक एक अन्य धातु से यह शब्द बना है।[६४] कुछ कोषों में 'वधू' की निष्पत्ति √ बन्ध् से की गयी है, तदनुसार

√बन्ध् + ऊ और 'न' लोप द्वारा 'बध्नाति प्रेम्णा' अर्थ में प्रेम से बांधने वाली की 'वधू' संज्ञा है ।[६५] लौकिक संस्कृत में पुत्र की पत्नी को भी वधू कहते हैं । सम्भवतः 'वधू' शब्द का सम्बन्ध इण्डो-योरोपीय Ved अथवा Vedh से हो, जिससे प्राचीन उच्च जर्मन शब्द 'Widumo', एंग्लो सेक्सन शब्द 'Weotuma', लिथुआनियन शब्द 'Wedu' और प्राचीन रशियन शब्द 'Wodite', 'Vodimaja' (पत्नी) का सम्बन्ध है ।[६६] स्त्री के लिए 'वधू' शब्द के प्रयोग से ध्वनित होता है कि स्त्री सम्मानपूर्वक एक घर से दूसरे घर पत्नी के रूप में लाई जाती थी ।

(२) जाया

ऋग्वेदसंहिता में विवाहिता स्त्री के लिए जिस प्रकार पत्नी शब्द सुस्पष्ट है, उसी प्रकार 'जाया' भी । अधिकतर इस शब्द का प्रयोग पति के साथ या पति के प्रसङ्ग में है ।[६७] इसी आशय में ब्राह्मण की जाया और जुआरी की जाया का उल्लेख हुआ है ।[६८] अक्षसूक्त में तो 'जाया' पद पत्नी के लिए छह बार प्रयोग में आया है । ऋग्वेद के बाद भी प्रायः 'जाया' शब्द को पति के साथ संयुक्त किया गया है ।[६९] शतपथब्राह्मण में एक स्थान पर पत्नी को यज्ञ में भाग लेने वाली दिखाया गया है और दूसरे स्थान पर कहा गया है कि जब उसे यज्ञ में कोई भाग नहीं दिया जाता, तब उसे 'जाया' कहते थे।[७०] परन्तु कीथ और मैकडॉनल ने इस विभेद को सापेक्षिक बतलाया है,[७१] क्योंकि एक ग्रन्थ मनु की स्त्री को 'जाया' कहता है,[७२] तो दूसरा 'पत्नी' ।[७३] डेलब्रुक के अनुसार स्त्री को वैवाहिक प्रेम की वस्तु और जाति के विकास का साधन मानने से 'जाया' कहा गया है।[७४] निश्चय ही 'जाया' शब्द में पति के प्रेम और स्नेह की भागीदार होने के भाव अधिक है ।[७५] इसका कारण है- इस शब्द की निरुक्ति। जाया शब्द √ जन् (प्रादुर्भावे) में यक्[७६] और स्त्री अर्थ में आत्व द्वारा 'सन्तान की जनयित्री' अभिप्राय से पत्नी का बोधक हैं।[७७] ब्राह्मण-ग्रन्थों में जाया शब्द के निर्वचन किये गये हैं और जाया के मूल में √जन् को ही स्वीकार किया गया है ।[७८] तदनुरूप ही मनुस्मृति में व्याख्या है कि पति ही भार्या के गर्भ में प्रवेश करके पुनः पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है, इसीलिए पत्नी को 'जाया' कहते हैं ।[७९] इसी प्रकार के निर्वचन महाभारत में भी उपलब्ध हैं ।[८०] ऋग्वेद में पत्नी के लिए 'जाया'

शब्द का प्रचलन एक ओर प्रमाणित करता है कि ऋग्वैदिक समाज में विवाह का उद्देश्य सन्तान-प्राप्ति रहा था, तो दूसरी ओर इससे प्रकट होता है कि इस उद्देश्य की पूर्ति में परम साधक होने से स्त्री समाज में विशेष प्रतिष्ठा की पात्र थी। पत्नी में जायात्व गुण की प्रधानता के कारण उसे 'जाया' नाम से महिमामण्डित किया गया।

(३) पत्नी/सुपत्नी/गृहपत्नी

जहाँ 'जाया' शब्द पत्नी के पति के साथ सम्बन्ध का द्योतक है, वहीं 'पत्नी' शब्द पति के साथ उसके यज्ञादि में भाग लेने को प्रकट करता है। पत्नी यज्ञ में पति के साथ विधिपूर्वक संयुक्त होकर धार्मिक कृत्य करती थी। 'पति + ङीप्, नुक्' से यह शब्द इसी आधार पर बना है।[८१] कोई भी धार्मिक या सामाजिक कृत्य बिना पत्नी के न किये जा सकने से धार्मिक जीवन में उसका महत्त्व ध्वनित होता है।[८२] शतपथब्राह्मण में पत्नी को पति की अर्द्धाङ्गिनी और बृहदारण्यकोपनिषद् में पति को पूर्णता प्रदान करने वाली कहा गया है।[८३] वाचस्पत्यम् कोष में पतिकृत यज्ञफल की भोक्ता विवाहिता स्त्री को ही पत्नी कहा गया है।[८४] ऋग्वेदकाल में पत्नी स्वयं आहुति देती थी।[८५] कालान्तर में उसका यज्ञ में भाग लेने का अधिकार क्षीण होता गया। शतपथब्राह्मण में यज्ञविशेष में पत्नी के स्थान पर ब्राह्मण द्वारा हवि देने का विधान है।[८६]

'पत्नी' शब्द 'पति' शब्द का स्त्रीलिङ्ग रूप है और पति के समान ही रक्षणार्थक या पालनार्थक √पा से व्युत्पन्न होने के कारण **पालयित्री** अर्थ से सम्पन्न है। जैसे पति शब्द का प्रयोग स्वामी, शासक और पति दोनों अर्थों में हुआ है, उसी प्रकार 'पत्नी' शब्द से भी स्वामिनी, शासिका और पत्नी (विवाहिता स्त्री) अर्थ ग्राह्य हैं। उषा को यदि 'भुवनस्य पत्नी' कहा गया है[८७], तो इसीलिए कि वह प्रकाशन आदि कर्मों द्वारा भुवन की स्वामिनी अथवा पालनकर्त्री है। परन्तु एक अन्य ऋचा में जब 'कामना करने वाली पत्नी जैसे कामना करने वाले पति को स्पर्श करती है' कहा गया है[८८] तब निस्सन्देह वहाँ विवाहिता स्त्री ही अभिप्रेत है।

सायणाचार्य ने कभी पत्नी शब्द से 'भार्या' अर्थ लिया है, तो कभी 'पालयित्री'।[८९] जिसप्रकार पति पर परिवार के पालन और रक्षण का भार

होता है, उसी प्रकार पत्नी पर भी। 'पत्नी' नाम से उसके व्यक्तित्व में पालन और शासन करने के सामर्थ्य को कहा गया है। 'सुपत्नी' और 'गृहपत्नी' जैसे दूसरे पर्यायों का भी यही ध्वन्यर्थ है। सायण ने सुपत्नी से 'शोभनपतिका' अर्थ लिया है, तो गृहपत्नी से 'गृह-स्वामिनी'।[९०] ऋक्संहिता में 'सुपत्नी' पद का प्रयोग यदि तीन बार हुआ है, तो 'गृहपत्नी' पद का केवल एक बार। 'समान पति वाली' अर्थ में ऋग्वेद में 'सपत्नी' पद भी मिलता है।[९१] शूरपत्नी, वसुपत्नी, इन्द्रपत्नी जैसे अनेक समस्त पद भी संहिता में हैं।

'पत्नी' नाम से 'पति की नियमित सहयोगिनी' अर्थ में परिवार में उसके समान अधिकार और महत्त्व का ज्ञान होता है।

(४) ग्ना

ऋक्संहिता में पत्नी का वाचक एक अन्य शब्द है - ग्ना, जिसका लगभग २० बार प्रयोग हुआ है और यह अधिकतर बहुवचन में है। इस शब्द को स्त्रीवाचक मानते हुए यास्क ने व्युत्पत्ति की है - स्त्रियों के पास पुरुष (संभोग के लिए) जाते हैं, अतः वे 'ग्ना' कहलाती हैं।[९२] यह शब्द √गम् + ना (डित्वात् अमो लोपः) से निष्पन्न हुआ है। मोनियर विलियम्स ने अपने कोष में इस शब्द को √ज्ञा से और ग्रासमान तथा सूर्यकान्त ने √जन् से व्युत्पन्न बताया है।[९३] 'स्त्री' अर्थ में ही भारोपीय भाषा में 'guna' अवेस्ता में 'na'- और ग्रीक में 'gyne' वैदिक शब्द 'ग्ना' के समकक्ष हैं।[९४] निरुक्त में 'ग्ना' का एक दूसरा अर्थ 'आपः' भी किया गया है, क्योंकि जलों में गति होती है।[९५] यास्क ने ऋग्वेद के एक मन्त्र[९६] के व्याख्यान में इस शब्द को विकल्प से देवपत्नियों के अर्थ में ग्रहण किया है। एक ऋचा में स्पष्ट शब्दों में 'ग्नाः' को 'देवपत्नीः' बताया भी गया है।[९७] सायणाचार्य ने भी अधिकतर ऋचाओं में यही अर्थ लिया है।[९८] इसी प्रकार **ग्नावन्तु** पद का प्रयोग[९९] पत्नीयुक्त या देवपत्नी वाला के अर्थ में हुआ है। निघण्टु में 'ग्ना' शब्द वाङ्नामों में आम्नात है।[१००] शतपथब्राह्मण के अनुसार गायत्री आदि छन्दों को 'ग्नाः' कहते हैं, क्योंकि छन्दों का अवलम्बन लेकर मनुष्य स्वर्ग में पहुंचते हैं।[१०१] अतः पत्नी का 'ग्ना' नाम प्रमुखतया स्त्री के सामान्य स्वरूप का बोधक है, परन्तु ऋग्वेद में इसका प्रयोग प्रायः देवपत्नियों के अर्थ में हुआ है।

(५) जनि/जनी/जानि

जाया शब्द के समान ही ऋग्वेद में विवाहिता स्त्री के लिए √जन् (प्रादुर्भावे) से निष्पन्न जनि, जनी और जानि शब्दों का प्रयोग मिलता हैं । अतः ये शब्द 'अपत्य की जनयित्री' अर्थ में स्त्री या वधू के वाचक है ।[१०२] निरुक्त में 'जनि' का अर्थ 'जाया' बताया गया है ।[१०३] 'पति' के साथ 'जनि' का अनेक बार प्रयोग हुआ है, जहाँ 'जनि' का अर्थ पत्नी ही प्रतीत होता है ।[१०४] कभी-कभी इससे स्त्रीसामान्य का अर्थ भी सङ्गत लगता है ।[१०५] 'जनि' अथवा 'जनी' शब्दों का प्रयोग प्रायः बहुवचन में हुआ है ।[१०६] इसीलिए कीथ और मैकडॉनल ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि कदाचित् ये शब्द पत्नी के वाचक न होकर गणिकाओं के वाचक हैं,[१०७] परन्तु उन्होंने स्वयं ही इस विचार का खण्डन कर दिया है । कई ऋचाओं में जहाँ बहुवचनान्त 'जनि' है, विवाह का संकेत प्रतीत होता है ।[१०८] ऋग्वेद में 'जनि' का 'पत्नी' के साथ 'जनयो न पत्नीः' कहकर प्रयोग हुआ है ।[१०९] इसके अतिरिक्त 'एक पति की पत्नी' का द्योतक मन्त्रांश 'पत्युर्जनित्वम्' भी प्रमाण है ।[११०] जनिधा, जनिदा, जनिकाम इत्यादि शब्दों में भी 'जनि' से 'जाया' अर्थ प्रकट होता है । देवपत्नियों को भी 'जनयः' कहते हैं ।[१११] 'जनी' शब्द का ऋक्संहिता में केवल एक बार प्रयोग हुआ है, जहाँ उषा को **सुनरी जनी** कहा गया है ।[११२] डेलब्रुक ने यद्यपि यहाँ 'स्त्री' अर्थ लिया है, किन्तु कीथ और मैकडॉनल के विचार में यहाँ 'पत्नी' का अर्थ हो सकता है । समासयुक्त पदों में 'जनि' का 'जानि' हो जाता है और यह प्रायः सर्वत्र पत्नीवाची है ।[११३] पाणिनि ने 'जानि' शब्द की निष्पत्ति 'जाया' से ही की है ।[११४] पति की अपेक्षा में उसकी विवाहिता स्त्री के लिए प्रयुक्त ये शब्द पत्नी के स्वरूप के प्रधान गुण 'जननशीलत्व' के अभिव्यञ्जक हैं ।

(६) स्त्री

ऋचाओं में कुछ बार प्रयुक्त 'स्त्री' शब्द सामान्यतया स्त्रीवाचक होने पर भी उसी अर्थ तक सीमित नहीं है । 'मुझसे बढ़कर कोई स्त्री सौभाग्यशालिनी, सुखी और सुपुत्रा नहीं है'[११५]–इस मन्त्र में जब पतिसङ्गिनी के अतिरिक्त पुत्रवती, सौभाग्यशालिनी, सुखी और आनन्दिता नारी का एक साथ चित्रण हुआ है, तब स्त्री का पत्नी-रूप ही प्रधानतया अभिप्रेत है। जब 'स्त्रियाँ होती हुई भी वे पुरुष हैं[११६] - कहा गया है, तब पुरुष के योग में

होने से यह पद स्पष्टतया स्त्रीवाची है। इसी प्रकार अन्यत्र वृषन् (पुरुष) के विलोमार्थ में स्त्री शब्द का प्रयोग मिलता है।[११७] निरुक्त के अनुसार 'स्त्री' शब्द अपत्रपणकर्मक (लज्जार्थक) √ स्त्यै से बना है।[११८] तात्पर्य है कि स्त्रियाँ स्वभाव से लज्जाशील हुआ करती हैं। सायण ने भी इस ध्वन्यर्थ का उल्लेख किया है।[११९]

(७) योषा/योषणा/योषित्/योषन्

ये शब्द युवति या प्राप्तयौवना स्त्री के लिए प्रयुक्त हुए हैं।[१२०] कई बार इनका अर्थ विवाहयोग्य पुत्री या कन्या से है। कुछ स्थलों पर 'पत्नी' या 'विवाहिता स्त्री' अर्थ प्रतीत होता है।[१२१] अधिकतर उषा को 'योषा' कहा गया है। ये शब्द √यु (मिश्रणेऽमिश्रणे च) से निष्पन्न हुए हैं।[१२२] अतः इसका अर्थ मिलने योग्य अवस्था वाली, मिश्रणशीला युवति या प्राप्तयौवना कन्या से है। दुर्गाचार्य ने 'योषा' की व्याख्या की है - 'सा हि मिश्रयति आत्मानं पुरुषेण साकम्' (√यु + औणादिक 'स' + टाप्)। वाचस्पत्यम् के अनुसार योषा - √युष् + अच् + टाप् से और योषित्-√युष् + इति से निष्पन्न हुए हैं।[१२३] 'योषित्' को सौत्र धातु √ युष् (सेवा करना, भजना) से निष्पन्न बताते हुए हलायुधकोष और शब्दकल्पद्रुम की व्याख्या है - 'योषति पुमांसं, युष्यते पुंभिरिति वा।' 'योषणा' शब्द युष् + अच् + टाप् से और 'योषन्' √यु + युच्, षगागम से निष्पन्न माने गये हैं।[१२४] सायण ने एक बार 'योषणा' से 'भजनीया युवति' का ग्रहण किया है।[१२५] तदर्थ √युष् (भजने) से ल्युट् प्रत्यय द्वारा शब्द की सिद्धि मानी है। डॉ. फतहसिंह ने 'योषा' शब्द को 'मिलने की इच्छा वाली युवति' अर्थ में √यु और √इष् से निष्पन्न बताया है।[१२६]

कीथ तथा मैकडॉनल के अनुसार ये शब्द प्रमुखतः सभी के प्रिय होने अथवा विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की वस्तु होने के रूप में कन्या या युवति के द्योतक हैं।[१२७] कीथ के विचार में षष्ठ्यन्त शब्द के साथ प्रयुक्त 'योषा' शब्द का स्पष्ट रूप से 'पुत्री' अर्थ है।[१२८] 'योषणा' भी अन्यत्र निश्चित रूप से 'पुत्री' का बोधक शब्द है।[१२९] एक मन्त्र में 'जार' के साथ इस शब्द के प्रयोग को देखकर 'युवा स्त्री' अर्थ की प्रतीति होती है।[१३०] निर्विवाद रूप से ये शब्द 'युवा स्त्री' के सामान्य आशय से युक्त हैं, तथापि प्रयोगानुसार भाष्यकारों द्वारा युवति, जाया, गृहिणी, भार्या, स्त्री, कलत्र, कन्या आदि अर्थों में ग्रहण किये गये हैं।

(८) नारी

ऋचाओं में बहुशः सामान्य स्त्री का वाचक 'नारी' शब्द[१३१] कई बार 'नर की स्त्री' या 'पत्नी' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'पतिजुष्टा नारी' पतिसेवनपरायणा या पतिप्रिया पत्नी ही हो सकती है।[१३२] अन्यत्र भी यह 'विवाहिता' या 'पत्नी' के भाव को व्यक्त करता है, जहाँ दाम्पत्य-सम्बन्ध के प्रसङ्ग में प्रयुक्त है।[१३३] सायण ने कई दूसरे मन्त्रों में भी इससे भार्या या पत्नी का ग्रहण किया है।[१३४] डेलब्रुक का मत है कि यह शब्द दाम्पत्य- सम्बन्ध की ओर सङ्केत नहीं करता है, अपितु यह कामवासना की दृष्टि से पुरुष की पूरक स्त्री के रूप में आख्यात है।[१३५] वैदिक इण्डेक्स के लेखकों का प्रतिपादन है कि बाद के वैदिक साहित्य में जहाँ इसका प्रयोग बहुत प्रचलित नहीं है, नारी से पत्नी का भाव कभी-कभी ही लिया गया है।[१३६] नारी शब्द मनुष्यवाची 'नृ' शब्द से ही बना है[१३७] और नरजाति की स्त्री का द्योतक है। परन्तु 'नारी' शब्द का ऋग्वेद में पत्नी के लिए प्रयोग सिद्ध करता है कि वैदिक दृष्टि में नारी समाज में नर के समकक्ष मानी गयी थी और नर के लिए निर्दिष्ट धर्म तथा आचार से ही सम्पन्न थी।

(९) वेना

निरुक्त में 'वेनः' शब्द की व्युत्पत्ति कान्तिकर्मक √वेन् (+घ) से की गयी है,[१३८] अतः जो सबका प्रिय है, उसकी संज्ञा 'वेन' है। एक मन्त्र की व्याख्या में यास्क ने इसे 'वायु' का विशेषण माना है।[१३९] वैदिक साहित्य में इस नाम से प्रायः सूर्य, नक्षत्र, आत्मा या प्राण इत्यादि का ग्रहण भी किया गया है।[१४०] ऋग्वेद में कभी सायण नें इसे कान्तिकर्मक अग्नि या गमनशील वायु का विशेषण माना है।[१४१] कामना करने के अर्थ में ही √वेन् से टाप् प्रत्यय लगकर बने स्त्रीलिङ्ग 'वेना' शब्द का अभिधार्थ 'अभिलाषा' या 'इच्छा' है[१४२], किन्तु सायण और मुद्गल ने इसी आधार पर 'सोमस्य वेनाम्' मन्त्रांश से 'सोम की कमनीया भार्या' (कमनीयां भार्याम्) और वेङ्कटमाधव ने 'कान्ता' (कान्तां सूर्याम्) का अभिप्राय लिया है।[१४३] एक बार सायण और मुद्गल ने 'वेनाः' से 'कान्ताः स्त्रियः' का तात्पर्य लिया है किन्तु अन्यत्र 'वेनाः' की 'कान्ताः स्तोतारः' अर्थ में व्याख्या भी की गयी है।[१४४] निश्चय ही 'कामयमाना' और 'कमनीया' अर्थ में यह विशेषण पद है। प्रसङ्गानुसार

भाष्यकारों द्वारा समान अर्थ में यह 'स्त्री' या 'पत्नी' का वाचक भी माना गया है ।

(१०) मेना

ऋक्संहिता में लगभग छह बार 'मेना' शब्द का एकवचन या द्विवचन में प्रयोग हुआ है । निघण्टु में यह वाङ्नामों में आम्नात है । यास्क ने इसे स्त्री का नाम बताया है और व्युत्पत्ति की है - इन स्त्रियों को पुरुष मान और आदर देते हैं, इसलिए ये 'मेना' कहलाती हैं ।[१४५] यह शब्द पूजार्थक √ मान् में इनच् प्रत्यय लगकर बना है ।[१४६] कुछ ऋचाओं में 'मेना' सामान्य स्त्री के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।[१४७] किन्तु जहाँ 'मेना' का समास में प्रयोग है, वह पत्नीवाची प्रतीत होता है ।[१४८] 'पत्नी' अर्थ में 'मेना' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में उसको 'आदरणीया' समझा जाता था ।

दर्शनीय है कि पत्नी की निर्भरता के वाचक **दाराः**,[१४९] **भार्या**[१५०] आदि उत्तरवर्ती साहित्य में प्रचलित पत्नी-पर्याय ऋक्संहिता में अप्राप्त हैं । निष्कर्षतः कह सकते हैं कि संहिता में प्राप्त पत्नीवाचक शब्द पत्नी के स्वरूप के विविध पक्षों के प्रकाशक हैं । वह वधू के रूप में सम्मानपूर्वक घर में लायी जाती थी; जाया, जनि, जनी और जानि के रूप में सन्तान की जनयित्री थी; पत्नी के रूप में पति के साथ धार्मिक कृत्यों में संयुक्त रहती थी; 'ग्ना' के रूप में पति के लिए गमनीया, वेना के रूप में उसके द्वारा कामयमाना, मेना के रूप में उसके लिए आदरणीया और स्त्री के रूप में उसकी सङ्गिनी थी । योषा, योषणा इत्यादि शब्दों से उसका सामान्य स्वरूप ध्वनित होता है और 'नारी' शब्द से वह वैदिक समाज में नर की पूरक सिद्ध होती है । निश्चय ही पत्नीवाचक शब्दों के अर्थ-वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा तत्कालीन समाज में उसकी गरिमामय स्थिति का बोध होता है और इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि ऋग्वैदिक परिवार और समाज में नारी के पत्नी रूप को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था ।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. राहुल सांकृत्यायन, *ऋग्वेदिक आर्य*, दिल्ली, १९५७, पृ. २२२; एस. कुजूर, *वैदिक और धर्मशास्त्रीय साहित्य में नारी*, वाराणसी, १९८२,

पृ. ४६; Priti Mitra, *Indian Culture and Society in the Vedas*, Calcutta, 1985, p. 73.

२. ऋ. १०/८५/२३-२४; अथर्व. १४/१/१७-१८.

३. ऋ. १०/३५.

४. Om Prakash, *Religion and Society in Ancient India*, Delhi, 1985, p. 183; B.S. Upadhyaya, *Women in Rigveda*, Delhi, 1974, pp. 140-143.

५. ऋ. ८/३१/६.

६. ऋ. २/३६/२, ५/३/२, ८/३१/५.

७. या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः । ऋ. ८/३१/५.

८. जायदेस्तं मघवन्त्सेदु योनिः । ऋ. ३/५३/४.

९. जायेव योनावरं विश्वस्मै । ऋ. १/६६/३.

१०. अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि
कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते । ऋ. ३/५३/६.

११. तेन जायामुप प्रियां मन्दानो याह्यन्धसो
योजा न्विन्द्र ते हरीं । ऋ. १/८२/५.

१२. पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व । ऋ. ३/६/९.

१३. ऋ. ४/५६/४.

१४. ऋ. १/१४/७.

१५. ऋ. १/१२२/२.

१६. योषाः कल्याण्यः स्मयमानासः । ऋ. ४/५८/९.

१७. शिवदत्त ज्ञानी, *वेदकालीन समाज*, वाराणसी, १९६७, पृ. ९९.

१८. H. Chakraborty, *Socio-economic Life of India in the Vedic Period*, Calcutta, 1986, p. 145.

१९. ऋ.१०/३४; B.S., Upadhyaya, *Women in Rigveda*, pp.146-48.

२०. H. Chakraborty, *Socio-Economic Life of India in the Vedic Period*, p. 146.

२१. ऋ. १/१२६/३; A.S., Altekar, *Position of Women in Hindu Civilisation*, Delhi, 1973, p, 213.

२२. B. S. Upadhyaya, *Women in Rigveda*, p. 155.

२३. शिवराज शास्त्री, *ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध*, मेरठ, १६६२, पृ. ३२६-३३६; सूर्यकान्त, *वैदिक कोश*, बनारस, १६६३, पृ.२६१-२६२.
२४. अमेनाँश्चिज्जनिवतश्चकर्थ । ऋ. ५/३१/२.
२५. ऋ. ३/५३/६.
२६. ऋ. १०/८५/४३.
२७. ऋ. १०/८५/३७.
२८. सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवां भव ।
नन्नान्दरि सम्राज्ञीं भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ।। ऋ. १०/८५/४६.
२६. ऋ. १/८२/५.
३०. अनवद्या पतिजुष्टेव नारीं । ऋ. १/७३/३.
३१. ऋ. ५/३७/३.
३२. ऋ. १०/१८/७.
३३. उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी । ऋ. ५/६१/६; सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य*, पृ०. २८१; Chakraborty, *Socio-economic Life of India in the Vedic Period*, p. 146.
३४. आरे मत् कर्त रहसूरिवागः । ऋ. २/२६/१; Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, p. 558; *सायणभाष्य*.
३५. ऋ.सा.भा. १०/१३६/६, ८/७६/३, १०/१२३/५,
३६. श्रुतं तच्छासुरिव वध्रिमत्या । ऋ. १/११६/१३; सायणभाष्य-नपुंसकभर्तृका; Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, p. 572;
३७. अन्यामिच्छ प्रफर्व्यम् । ऋ. १०/८५/२२; अथर्व. ५/२२/७.
३८. ऋ.सा.भा. १०/८५/२२.
३६. Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, Delhi, 1981, p. 465.
४०. Macdonell and Keith, *Vedic Index*, Vol. II, p. 37.
४१. साधारण्येव मरुतो मिमिक्षुः । ऋ. १/१६७/४.
४२. *Vedic Index*, Vol., II, p. 444 पर उद्धृत मैक्समूलर का मत ।
४३. सद्यः प्रवीता वृषणं जजान । ऋ. ३/२६/३.
४४. Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, p. 471.
४५. ऋ.सा.भा. ३/२६/३.
४६. दासपत्नी रहिगोपा अतिष्ठन् । ऋ. १/३२/११.

४७. युवं विधन्तं विधवामुरुष्यथः । ऋ. १०/४०/८.
४८. रैभ्यासीदनुदेयीं नाराशंसी न्योचनी । ऋ. १०/८५/६.
४९. ऋ.सा.भा. १०/८५/६.
५०. इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि । ऋ. १०/१०८/२.
५१. अधि पेशांसि वपते नृतूरिव । ऋ. १/९२/४.
५२. अनवद्या पतिजुष्टेव नारी । ऋ. १/७३/३.
५३. अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि ।ऋ. १०/८५/४४.
५४. सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत । ऋ. १०/८५/३३.
५५. भद्रा वधूर्भवति यत् सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित् । ऋ. १०/२७/१२.
५६. पतिर्यद् वध्वो वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते । ऋ. १०/८५/३०. वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति । ऋ. ५/३७/३.
५७. ऋ.सा.भा. ६/२७/८, ५/४७/६.
५८. ऋ. १/१२६/३.
५९. ऋ. ८/१९/३६.
६०. Chakraborty, *Socio-economic Life of India in the Vedic period*, pp. 146-47.
६१. *Die Indogermanischen Verwandtschaftsnamen*, p. 414, 439, (Macdonell and Keith, *Vedic Index of Names and Subjects*, Vol. II, p. 239 पर निर्दिष्ट) ।
६२. ऋ. ८/१९/२६; *Vedic Index*, Vol. II, p. 239 पर निर्दिष्ट ।
६३. उ. सू. १/८३; नि. २/२/१; बृ. दे. ३/१४७; *वाचस्पत्यम्*.
६४. *Vedic Index*, Vol. II, p. 239 पर उद्धृत ।
६५. *संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ*, पृ. १०१४.
६६. *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, Vol. V, p. 750.
६७. ऋ. १/१०५/२, १/१२४/७, ४/३/२, १०/१४९/४.
६८. ऋ. १०/१०९; १०/३४.
६९. ऐ.ब्रा. ३/२३/१, ७/१३/१०; शत.ब्रा. ४/६/७/६; मै. सं.१/६/१२.
७०. शत. ब्रा. १/६/२/१४, १/१/४/१३.
७१. Macdonell and Keith, *Vedic Index*, Vol. I, p. 286; सूर्यकान्त, वैदिक

कोश, पृ. १६२.

७२. शत. ब्रा. १/१/४/१६.

७३. मै.सं. ४/८/१.

७४. *Vedic Index,* Vol. I, p. 285 पर उद्धृत Delbruck, Die Indogermanischeno, p411,412.

७५. S. R. Shastri, *Women in the Vedic Age,* 1952, p. 18.

७६. जनेर्यक् । उ.सू. ४/११०.

७७. जायन्ते यस्या अपत्यानि सा । ऋ. ३/५३/६; राजवीर शास्त्री, *दयानन्द-वैदिक-कोष,* दिल्ली, १६७५, पृ. ३६१.

७८. पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम् तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते, तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः । ऐ.ब्रा. ७/१३; तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते । गो.ब्रा.पू. १/२; शत.ब्रा. ५/२/१/१०, १०/५/२/६.

७६. पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ।। मनु. ६/८.
जायते पुत्ररूपेण आत्माऽस्यामिति । *शब्दकल्पद्रुम; हलायुधकोष ।*

८०. भार्यां पतिः सम्प्रविश्य स यस्याज्जायते पुनः ।
जायायाः इति जायात्वं पुराणा कवयो विदुः ।। महा. १/६८/३६;
आत्मा हि जायते तस्यां तस्माज्जाया भवत्युत । महा. ३/१३/६२;
रघुवंश, मल्लिनाथकृत *संजीवनी टीका,* २/१.

८१. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे । पा. सू. ४/१/३३.

८२. पत्युर्यज्ञे सम्बन्धो यया । *शब्दकल्पद्रुम;* Shastri, *Women in the Vedic Age,* p. 18; प्रशान्तकुमार वेदालंकार, *वैदिक साहित्य में नारी,* दिल्ली, पृ. १४२; Upadhyaya, *Women in Rgveda,* p. 140; राजवीरशास्त्री, *दयानन्दवैदिककोष,* पृ. ५६६.

८३. शत.ब्रा. ५/२/१/१०, बृह.उप. १/४/१७.

८४. पतिकृतयज्ञफलभोक्तायां विवाहितायां स्त्रियाम् । *वाचस्पत्यम् ।*

८५. ऋ. १/१२२/३, ३/५३/४-६, ८/३१/५.

८६. शत. ब्रा. १/१/४/१३.

८७. ऋ. ७/७५/४.

८८. पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन्मनीषाः । ऋ. १/६२/११.

८९. ऋ. १/८२/६, १/६२/१०.

९०. ऋ. १०/१८/७, १०/८५/२६.

९१. ऋ. ३/१/१०, ३/६/४ इत्यादि.

९२. मेना ग्ना स्त्रीणाम् । ग्ना गच्छन्त्येनाः । नि. ३/२१.

९३. Williams, *A Sanskrit English Dictionary* ; Grassmann, *Worterbuch zum Rigveda* ; Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary.*

९४. Varma, *Etymologies of Yaska*, Hoshiarpur, 1953, p. 88.

९५. ग्ना गमनादापः । नि. १०/४७.

९६. ऋ. १०/९५/७.

९७. अस्मा इदु ग्नाश्चिद् देवपत्नीः । ऋ. १/६१/८.

९८. ऋ. १/२२/१०, १/६१/८, ४/९/४.

९९. ऋ. १/१५/३.

१००. निघ. १/११.

१०१. छन्दांसि वै ग्नाश्छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति ।शत.ब्रा. ६/५/४/७.

१०२. जनयन्त्यपत्यमिति जनयो भार्याः । ऋ.सा.भा. १०/१८/७; अपत्यानि प्रादुर्भवित्रीः । ऋ.दया.भा. १/१६७/७; जायते सन्ततिर्यस्याम् । *हलायुधकोष* । द्र.- अध्याय १८, माता-पिता के वाचक शब्द ।

१०३. जनीनाम् जायानाम् । नि. १०/२१.

१०४. जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् । ऋ. १/६६/४; ४/५/५, ५/३१/२, १०/१०/३, १०/१८/८, १०/४३/१, १०/११०/५.

१०५. ऋ. ४/१९/५, ५/३१/२, १०/१८/७.

१०६. ऋ. १/८५/१, ४/५/५, ४/१९/५, ७/१८/२, ७/२६/३, ९/८६/३२.

१०७. Keith and Macdonell, *Vedic Index of Names and Subjecs*, Vol. I, p. 275 सूर्यकान्त, *वैदिककोश*, पृ. १५६.

१०८. ऋ. ५/६१/३, १०/४०/१०, १०/१८३/३.

१०९. ऋ. १/६२/१०, १/१८६/७.

११०. ऋ. १०/१८/८.

१११. जनयः इति देवानां पत्न्य उच्यन्ते । ऋ.सा.भा. १/६२/१०.

११२. प्रति ष्या सुनरी जनीं व्युच्छन्ती परि स्वसुः । ऋ. ४/५२/१.

११३. कलिं याभिर्वित्तजानिं दुवस्यथः । ऋ. १/११२/१५; १/१५६/२, ५/६१/४, ८/२/१६ इत्यादि.

११४. जायाया निङ् । पा. सू. ५/४/१३४.

११५. न मत् स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत् । ऋ. १०/८६/६.

११६. स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः । ऋ. १/१६४/१६.

११७. उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी । ऋ. ५/६१/६.

११८. स्त्रियः स्त्यायतेरपत्रपणकर्मणः । नि. ३/२१/२; स्त्यै ष्ट्यै शब्दसंघातयोः धातोः 'स्त्यायतेर्ड्रट्' (उ. सू. ४/१६६) सूत्रेण ड्रट्। ततः स्त्रियां ङीप्। *दयानन्दवैदिककोष*, पृ. १०८५.

११९. स्त्रियः संस्त्यानवत्यः योषितः । ऋ.सा.भा. १/१६४/१६; स्त्री √स्तृ-स्तीर्यति मैथुनार्थम् । Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, p. 725.

१२०. योषा - १/४८/५, १/६२/११, ३/३३/१० इत्यादि । योषणा- ३/५२/३, ३/५६/५, ३/६२/८ इत्यादि । योषित् - ६/३८/४ । योषन्-४/५/५, ६/१/४ इत्यादि ।

१२१. मर्यं न योषा । ऋ. १०/४२/२.

१२२. योषा यौतेः । नि. ३/१५.

१२३. उ.सू. १/६७.

१२४. शास्त्री, *दयानन्द-वैदिक-कोष* (विमर्श टीका), पृ. ७७८.

१२५. ऋ.सा.भा. ३/५२/३.

१२६. Fateh Singh, *The Vedic Etymologies*, p. 189.

१२७. Keith and Macdonell, *Vedic Index*, Vol. II, p. 196.

१२८. न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषाम् । ऋ. १/११७/२०.

१२९. न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषणाम् । ऋ. १०/३९/७.

१३०. सरञ्जारो न योषणां वरो न योनिमासदम् । ऋ. ९/१०१/१४. गच्छञ्जारो न योषितम् । ऋ. ९/३८/४.

१३१. ऋ. ७/२०/५, ७/५५/८, ८/७७/८, १०/१८/७, १०/८६/१०.

१३२. ऋ. १/७३/३.

१३३. तमु चिन्नारी नर्यं ससूव । ऋ. ७/२०/५.

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीः । ऋ. १०/१८/७; १०/८६/१०.

१३४. ऋ. १/२८/३, ४/१६/१०, १०/१८/८.

१३५. *Die Indogermanischen Verwandtschaftsnamen*, p. 417, 439 (Vedic Index, Vol. I, p.446 पर उद्धृत ।)

१३६. *गौतमधर्मसूत्र* ६/२८.

१३७. नरप्राति. 'तस्येदम्' इत्यण्, ततः स्त्रियां टाप् - दयानन्दवैदिककोष, पृ. ५४० । नृ + ऋतोऽञ्, पा. सू. ४/४/४६ इति अञ् + ङीन् - *शब्दकल्पद्रुम* ।

१३८. नि. १०/३८/१.

१३९. ऋ. १०/१२३/१.

१४०. Fateh Singh, *The Vedic Etymology*, p. 219.

१४१. वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षुः । ऋ. ४/५८/४.

१४२. Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, p. 622; *ऋग्वेद-स्कन्दस्वामी-भाष्य* ।

१४३. ऋ. १/३४/२.

१४४. ऋ. १/५६/२, ६/६४/११.

१४५. निघ. १/११; मेना मानयन्त्येनाः । नि. ३/२१/२.

१४६. मेना मान्यते पूज्यते इति । मान् पूजायाम् 'बहुलमन्यत्रापि' (उ.सू. २. ६४) इति इनच् प्रत्ययेन निपातनात् साधुः ।

१४७. ऋ. १/५१/३१, १/६२/७, १/६५/६, १/१२१/२, २/३६/२.

१४८. अमेनांश्चित् जनिवतश्चकर्ष । ऋ. ५/३१/२.

१४९. दारयन्ति दाराः - *अमरकोष* । दारयति भ्रातृन् - *संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ*, दारयन्ति भ्रातृबन्धून्-*हलायुधकोष* ।

१५०. भरणीया भार्या । शत.ब्रा. २/३/२/७; *अमरकोष*; *शब्दकल्पद्रुम*; *हलायुधकोष* ।

[संस्कृत-सङ्गीत-वैजयन्ती, Studies in Sanskrit and Musicology, ed. Dr. S. Kulshreshtha and Dr. S. P. Narang, Delhi, 1992, pp. 25-37 **में प्रकाशित ।]**

❋ ❋ ❋

२१

पुत्री के वाचक शब्द

ऋग्वैदिक समाज में नारी अपने सभी रूपों में सम्मान-भाजन थी। संहिता में ऋग्वैदिक नारी के माता और पत्नी रूप यदि बहुशः और विशेषतः चर्चित हैं, तो बहिन और पुत्री के उल्लेख अल्प हैं । जिससे ध्वनित होता है कि तत्कालीन परिवार में पुत्री के रूप में नारी का स्थान माता या पत्नी के समान महत्त्वपूर्ण नहीं था।ऋग्वैदिक परिवार के पितृमूलक होने के कारण पुत्री की तुलना में पुत्र को अधिक महत्त्व दिया गया था। प्रायः विश्व के सभी प्राचीन समाजों में सर्वविदित कारणों से जैसे-शत्रु से सुरक्षार्थ और कृषिकर्म में साहाय्यार्थ-ऐसा ही देखा जाता है। फिर पुत्र ही पिता का उत्तराधिकारी था और उसका अन्तिम संस्कार करता था । सामान्य स्थिति में पुत्री पिता के धन की अधिकारिणी नहीं थी, क्योंकि उसको विवाहयोग्य बनाकर पति को प्राप्त कराया जाता था।[१] पुत्र न होने पर दौहित्र के कारण पुत्री को धन मिलता था अथवा आजीवन अविवाहित रहने वाली कन्या को माता-पिता की सम्पत्ति में से कुछ भाग मिलता था। सामान्यतया पुत्र आजीवन पिता के परिवार में रहता था और पुत्री विवाहोपरान्त पतिगृह चली जाती थी। अत एव आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के वशीभूत होकर ही आर्यों द्वारा सन्तान के रूप में पुत्र सर्वाधिक काम्य था । ऋग्वेद में अधिकतर पुत्र-प्राप्ति की कामनाओं के सन्दर्भ हैं ।[२] पुरुष-सन्तान की महत्ता इस बात से भी प्रकट होती है कि उसके लिए ऋग्वेद में अनेक पर्यायों का प्रयोग किया गया है । पुत्रवाची शब्द ऋग्वेद में किसी भी पारिवारिक सम्बन्ध के वाचक नामों की तुलना में सर्वाधिक हैं । निघण्टु में पञ्चदश अपत्यनामों का उल्लेख है, जिनमें कुछ (यथा शेषस्, अपत्यम्, प्रजा इत्यादि) सामान्य-सन्तान के वाचक हैं और

अधिक शब्द पुत्रवाचक हैं ।[३] द्रष्टव्य है कि संहिता में 'पुत्र' शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है; 'पुत्री' या 'पुत्रिका' शब्द लगभग अप्रयुक्त है । उत्तरवैदिक ग्रन्थों में यदि एक ओर पुत्री को परिवार में चिन्ता या दुःख का स्रोत (कृपणम्) समझा गया है,[४] तो दूसरी ओर ऐसे प्रसङ्ग भी प्राप्त हैं, जहाँ पण्डिता दुहिता की उत्पत्ति की कामना वाले पिता के लिए विशेष कर्मकाण्ड का निर्देश है ।[५]

ऋक्संहिता में कहीं भी विशेष रूप से स्त्री-सन्तति की उत्पत्ति की कामना नहीं है और न ही कहीं पुत्री के जन्म को अनचाहा बताया है। ऋग्वैदिक आर्यों द्वारा परिवार में पुत्र के समान और उनके साथ-साथ पुत्रियों का स्नेहपूर्वक लालन-पालन किया जाता था । माता-पिता के पुत्रियों के प्रति स्नेहपूर्वक व्यवहार के सङ्केत कुछ ऋचाओं से ग्रहण किये जा सकते हैं ।[६] पुत्र यदि पिता के व्यवसाय को अपनाते थे, तो पुत्रियाँ माता के समान सम्मान और अलंकार को धारण करती थीं ।[७] सातवलेकर के मत में उसका अधिकार इतना ही था कि पिता के घर में सजसजाकर पुष्ट होती रहे। परिवार में माता या पत्नी के समान महत्त्वपूर्ण स्थान न होते हुए भी परिवार के लोग भावी माता की दृष्टि से पुत्री में स्नेहभाव और आदरभाव अवश्य रखते थे । ऋग्वेद में पुत्री के विषय में प्राप्त प्रसङ्ग, प्रायशः अस्पष्ट और गूढ़ अर्थ वाले होने के कारण विद्वानों द्वारा विविध रूप में व्याख्येय हैं, अतः उनके आधार पर तत्कालीन पुत्री की स्थिति से सम्बद्ध निष्कर्षों की प्रामाणिकता भी सन्दिग्ध हो जाती है । पारिवारिक सम्बन्धों के वाचक नामों के अर्थवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा उस सम्बन्ध के मूल स्वरूप और परिवार में उसकी स्थिति आदि को पर्याप्त रूप से समझा जा सकता है । इस विचारधारा से प्रेरित होकर यहाँ ऋग्वेदसंहिता में प्राप्त पुत्री के वाचक शब्दों का विवेचन किया जा रहा है, जिससे पुत्री के विषय में ऋग्वैदिक दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट हो सके।

ऋग्वेदसंहिता में पुत्री के लिए प्रयुक्त शब्दों को रूप और अर्थ की दृष्टि से दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है - (अ) **सामान्य शब्द**- (१) दुहितृ, (२) कना, कनी, कनीनका, कन्या, कन्यना, (३) नप्ती, (४) यह्वी, (५) नना, (६) योषा, योषणा, योषित्, योषन्, (आ) **विशेष शब्द**– (७) अमाजुर्, (८) अभ्रातृ ।

(१) दुहितृ

पुत्री के अर्थ में ऋक्संहिता में पर्याप्त स्पष्ट और सर्वाधिक प्रयुक्त शब्द 'दुहितृ' है। इस शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है और अधिक बार यह उषा या सूर्या के प्रसङ्ग में है। अधिकांश ऋचाओं में भाष्यकारों को 'दुहिता' शब्द से 'कन्या' या 'पुत्री' अर्थ अभिप्रेत हैं। पुत्री अर्थ में 'दुहितृ' शब्द इण्डोयोरोपीय काल से प्रचलित था, इसीलिए इसके समकक्ष भारोपीय में dhug(h)ter, अवेस्ता में dugedar, आर्मीनियन में dustr, गोथिक में dauhtar, लिथुनियन में dukte', प्रा० स्लावानिक में dusti, फारसी में दुखतर, अंग्रेजी में daughter इत्यादि शब्द प्राप्त होते हैं, जो स्त्री-सन्तति के वाचक हैं। वाचस्पत्यम्, शब्दकल्पद्रुम, हलायुधकोष आदि कोश-ग्रन्थों के अनुसार दोहनार्थक √दुह् में तृच् प्रत्यय[८] लगकर स्त्रीलिङ्ग शब्द 'दुहितृ' निष्पन्न हुआ है, तदनुसार जो गाय का दोहन करती है वह 'दुहिता' है– **गाः दोग्धि**। मैक्समूलर और मोनियर विलियम्स ने इसी आधार पर दुहिता को 'दोहन करने वाली' (the milker, milk-maid) कन्या का वाचक माना है।[९] संकेत है कि आर्षकाल में परिवार में कुछ बड़ी हुई कन्याओं पर मुख्यरूप से गोदोहन का भार था और वे ही दूध से घी आदि तैयार करने का कार्य करती थी। कई सन्दर्भों में कन्याओं का दूध या उससे बने अन्य पदार्थों से सम्बन्ध दिखायी देता है।[१०] यास्काचार्य ने 'दुहिता' शब्द की तीन निरुक्तियां दी हैं, जिनमें तीसरी से सरलतया गो-दोहन का भाव ग्रहणयोग्य है।[११]

निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य और देवराजयज्वा के मत में पुत्री को दुहिता कहने का कारण है कि वह बार-बार पिता के पास से द्रव्य को प्राप्त करती रहती है अर्थात् दुहती रहती है। शब्दकल्पद्रुम और हलायुधकोष की व्याख्या के अनुसार वह विवाहादिकाल में पिता से धनादि का ग्रहण करती है।[१२] एक अन्य दृष्टिकोण से √दुह् (प्रपूरणे) में तृच् प्रत्यय लगकर दुहिता शब्द की **दोग्धि कार्याणि प्रपूरयति** अर्थ में निष्पत्ति होती है अर्थात् जो कार्यों को पूरा करती है, वह 'दुहिता' है।[१३] कीथ और मैकडॉनल ने दोहन अर्थ वाली √दुह् से इस शब्द को व्युत्पन्न माना है, पर उनके विचार में इसका अर्थ 'शिशु का पोषण करने वाली' से है, न कि पुरातन परिवारों के 'दोहन करने वाले' अथवा 'दूध पीते बच्चों' से। डेलब्रुक ने 'दुहितृ' का तात्पर्य उस

पुत्री से लिया है, जो 'अपनी माँ से दूध पीती' है।[१४] इस प्रकार √दुह् से व्युत्पन्न मानने पर भी 'दुहितृ' शब्द की बहुविध व्याख्याएँ की गयी है; जो सभी ऋग्वैदिक दुहिता के स्वरूप, कार्य एवं सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालती हैं। यहाँ 'गो-दोहन' को यदि घरेलू कामकाज का उपलक्षण मानें, तो अधिक उपयुक्त होगा। तदनुसार दुहिता वह है, जो प्रारम्भ से ही घर के कार्यों में सहायता करती है। एक ऋचा, जिसमें कार्यादि की दृष्टि से पुत्र को पिता का और पुत्री को माता का अनुवर्ती बताया गया है[१५] - इसी तात्पर्य की सम्पुष्टि करती है। दुर्गाचार्य और देवराजयज्वा की टीकाओं और कोषनिर्वचनों से उत्तरकाल में पुत्री की सामाजिक स्थिति पर अवश्य प्रकाश पड़ता है, परन्तु ऋग्वैदिक परिवार में विवाहोपरान्त भी पुत्री पिता से द्रव्यग्रहण करती थी- ऐसा समझना आधारहीन है।

यास्क के अन्य दो निर्वचन हैं - वह जहाँ दी जाती है, वहीं दुर्हिता (दुःखी) होती है अथवा दूर रहने पर ही पिता के लिए हितकारी होती है।[१६] शब्दविज्ञान की दृष्टि से ये व्युत्पत्तियाँ पर्याप्त शिथिल प्रतीत होती हैं।[१७] पुत्री के सम्बन्ध में लोक में प्रचलित सामान्य धारणाएँ ही इन व्युत्पत्तियों की पृष्ठभूमि हैं। इन अर्थों के सम्पोषक उद्धरणों का संहिता में अभाव है। फिर भी यदि इन व्युत्पत्तियों की मूल भावना से सहमत हुआ जाये, तो ऋग्वेद में दुहिता का अभिप्राय उस स्त्री-सन्तति से है, जिसका विवाह करना माता-पिता का दायित्व समझा जाता था; भले ही माता-पिता को छोड़ने में उसे दुःख हो, पर उसे विवाह द्वारा पितृगृह से दूर भेजना हितकारी माना जाता था। एक ऋचा में पिता की प्रसन्नता का उल्लेख है जो अपनी कन्या के लिए वर का प्रबन्ध करता है।[१८]

'दुहितृ' शब्द न केवल ऋग्वेद अपितु उसके बाद भी वैदिक वाङ्मय पुत्री का वाचक रहा है। 'दुहितृ' के प्रयोगों को देखने से प्रकट होता है कि अधिकांश स्थलों पर यह माता-पिता से उत्पन्न हुई स्त्री-सन्तति के अर्थ में है, जैसे उषा दिव् से उत्पन्न होने के कारण **दिवः दुहिता** है,[१९] तो पृथिवी इन्द्र से उत्पन्न होने के कारण उसकी 'दुहिता'[२०] और सूर्या सूर्य की दुहिता।[२१] अतः ऋग्वेद में पुत्री के लिए प्रयुक्त 'दुहिता' नाम पितृगृह में निवास के समय उसकी प्रधान गतिविधियों पर प्रकाश डालने के साथ-साथ उसके प्रति माता-पिता के प्रमुख मनोभावों को भी व्यक्त करता है।

(२) कना/कनी/कनीनका/कन्या/कन्यना

ऋग्वेद-संहिता में प्राप्त ये स्त्रीलिङ्ग शब्द 'छोटी लड़की' के वाचक हैं और कभी-कभी 'पुत्री' अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं । कोषकारों और भाष्यकारों ने इन शब्दों को कान्ति, दीप्ति या गति अर्थ वाली √कन् से निष्पन्न माना है । वाचस्पत्यम् के अनुसार 'कनि' नामधातु में 'अच्' प्रत्यय लगकर 'कनिष्ठा' अर्थ में **कना** शब्द निष्पन्न हुआ है । इस शब्द का ऋग्वेद में चार बार प्रयोग हुआ है । तीन बार 'कमनीया' अर्थ में यह कन्या का पर्याय है[२२] और एक बार उसी अर्थ में दुहिता का विशेषण है ।[२३] शब्दकल्पद्रुम और वाचस्पत्यम् के अनुसार √कन् में अच् और फिर ङीष् (गौरादित्वात्) लगकर **कनी** शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका तात्पर्य 'दीप्तिमती कन्या' से है । एक अन्य व्याख्या के अनुसार √कन् में औणादिक 'ईन्' प्रत्यय लगकर उक्त अर्थ में ही यह शब्द बना है ।[२४] सायण के विचार में यह शब्द √कन् + इञ्+ ङीष् से अथवा 'कन्या' शब्द के छान्दस सम्प्रसारण से निष्पन्न हुआ है ।[२५] 'कनी' शब्द का ऋग्वेद की संहिता में कुछ बार प्रयोग हुआ है । अपने व्युत्पत्तिजन्य अर्थ के आधार पर यह शब्द यौवन या ब्रह्मचर्य से दीप्त 'कमनीया कन्या' का वाचक है । इस शब्द के सम्बन्ध में दो तथ्य उल्लेखनीय हैं -(१) यह शब्द यहाँ सदैव षष्ठी बहुवचन के रूप (कनीनाम्) में प्रयुक्त हुआ है। और (२) एक से अधिक बार इसे जार (प्रेमी) से सम्बद्ध किया गया है ।[२६] जिससे इस शब्द से 'अविवाहित कन्या' का अर्थ ध्वनित होता है । अग्नि से कहा गया है कि वह अविवाहित लड़कियों के रहस्यों को छिपाकर रखता है ।[२७]

'य कनति दीपयति स एव कनीनकः' (√कन्+ईन्+कन् स्वार्थे) व्युत्पत्ति द्वारा 'कनीनकः' शब्द निष्पन्न होता है, उसी का स्त्रीलिङ्गरूप है **-कनीनका** । यास्क ने इस शब्द से 'कन्यका' का अर्थ ग्रहण किया है ।[२८] ऋक्संहिता में 'कनीनका' शब्द का प्रयोग केवल एक बार हुआ है,[२९] जहाँ इसका अर्थ सायण के अनुसार कन्या के आकार की 'शालभञ्जिका' से है।[३०] विलसन ने इससे दो पुतलियों (puppets) का, ग्रिफिथ ने दो छोटी कन्या-प्रतिमाओं का और सातवलेकर ने पुतली का अर्थ लिया है। वेङ्कटमाधव, ग्रासमान और रॉथ के अनुसार 'कनीनका' का अर्थ 'कन्या' से है ।[३१] ऋग्वेद में ही लगभग अप्रचलित इस शब्द का प्रयोग बाद में इस अर्थ में और धूमिल होता गया । कीथ और मैकडॉनल का मत है, 'यह सन्दिग्ध है कि 'कनीनका'

का कन्या अर्थ था अथवा वह केवल आँख के 'कनीनिका' भाग का ही द्योतक था, जैसा कि बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में 'कनीनका' अथवा 'कनीनिका' का आशय है।'[३२] इस सम्बन्ध में शकुन्तला शास्त्री की परिकल्पना है कि पुत्री के प्रति स्नेह की अनुभूति के कारण ही सम्भवतः कालान्तर में 'कनीनका' का अभिप्राय 'आँख की पुतली' से लिया जाने लगा।[३३]

कन्या शब्द 'कन्यते, दीप्यते, काम्यते, गच्छति वा' विग्रह से √कन् में यक्[३४] और फिर स्त्रीप्रत्यय टाप् लगकर बना है, जो दीप्ता, कामयमाना, कमनीया आदि अर्थों में 'कुमारिका' का वाचक है। वाचस्पत्यम् के अनुसार अनूढ़ा स्त्री अथवा अनूढ़ा दुहिता का बोधक कन्या शब्द √कन् + यत् + टाप् से बना है। यास्क ने 'कन्या' शब्द की चार निरुक्तियाँ की हैं[३५]–(१) वह कमनीया होती है क्योंकि सब उसे चाहते हैं (√कन् से); (२) वह कहाँ पहुँचायी जाये- इस अर्थ को लेकर पिता चिन्तित रहते हैं (क्व + √ नी + यक्); (३) वह चाहने वाले वर से लायी जाती है (√कम् + आ + √ नी); (४) अथवा कान्त्यर्थक √ कन् से 'कन्या' शब्द बनता है, क्योंकि कन्या सुन्दर होती है। इन व्युत्पत्तियों द्वारा व्यक्त होता है कि कन्या युवति या विवाहयोग्य पुत्री का नाम है। संहिता में ऐसी पुत्री के लिए सर्वाधिक प्रयुक्त शब्द 'कन्या' ही है। प्रयोगों से प्रकट होता है कि अधिकांशतया इससे अविवाहित, किन्तु विवाहयोग्य अथवा नव-विवाहित सुन्दर लड़की का अभिप्राय रहा है, जैसे उषा से कहा गया है कि तुम शरीर को स्पष्ट दिखाने वाली कन्या के समान अपनी कामना करने वाले देव के समीप जाती हो।[३६] विश्वामित्र के प्रति नदियाँ कहती हैं कि हम तुम्हारे लिए उसी प्रकार झुक जाती हैं जैसे कोई कन्या पुरुष को आलिंगन देने के लिए नम्र हो जाती है।[३७] कन्या के साथ 'जार' शब्द के प्रयोग से भी यही तथ्य प्रकट होता है।[३८]

ऋग्वेद में मात्र एक बार प्रयुक्त हुआ शब्द **कन्यना** अधिकतर कन्या का ही पर्याय माना जाता है।[३९] परन्तु सायण और वेङ्कटमाधव के भाष्य (कन्यानाम् आह्वानम्) के आधार पर इसे 'कन्याह्वान' का वाचक मानते हुए वाचस्पत्यम् में 'कन्या+णिच्-भावे युच्' से निष्पन्न माना गया है। विलसन ने भी 'कन्याओं के आह्वान' (voices of maidens) का अर्थ स्वीकार किया है। ऋग्वेद में लगभग अप्रचलित यह शब्द अनन्तर वैदिक साहित्य में अप्राप्त है। रूपरचना की दृष्टि से यह 'कन्या' शब्द का ही रूपान्तर प्रतीत होता

है । 'युवशा' शब्द के साथ प्रयुक्त होने से यह शब्द अविवाहित लड़की का वाचक हो जाता है ।

अथर्ववेद में प्राप्त **कन्यला**[४०] और लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त **कन्यका** शब्द ऋग्वेद में नहीं मिलते हैं, परन्तु निश्चय ही ये उक्त शब्दों की परम्परा में है। ऋग्वेद में प्रयुक्त कन्यावाची शब्द अधिकतर √कन् से सम्बद्ध किये गये हैं और कमनीय अर्थात् अविवाहित छोटी लड़की का बोध कराते हैं । सिद्धेश्वर वर्मा का विचार कि 'कन्' धातु मूल इण्डो योरोपीय भाषा में ken- के रूप में है, जिसका अर्थ हैं - 'नये रूप में उत्पन्न होना' (to come out fresh)[४१] –इन शब्दों की संरचना पर नयी रोशनी डालता है। इरावती कार्वे की मान्यता है कि इन शब्दों का मूल अर्थ 'उत्पन्न' था और प्रत्येक प्राणी के बच्चे के लिए इनका प्रयोग होता था ।[४२] संस्कृत में 'कन' शब्द 'अल्प' का पर्याय है,[४३] यद्यपि ऋग्वेद में यह इस रूप में अप्रयुक्त है, तथापि यह 'कनिष्ठ' और 'कनीयस्' जैसे शब्दों में दिखायी देता है । फिर ऋग्वेद में अल्प या छोटे अर्थ के वाचक-अर्भ, अर्भक, कुमार, कनीन, कनीनक इत्यादि शब्दों का पुत्र के अर्थ में प्रयोग भी हुआ है ।[४४] इरावती कार्वे ने पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति भी 'अल्प' अर्थ के वाचक इण्डो-योरोपीय शब्द `pu' से मानी है ।[४५] अतः यह बहुत सम्भव है कि 'कना' इत्यादि उक्त शब्द भी अल्प या छोटी अर्थ में 'कन्' से ही निष्पन्न हुए हों, जो कभी कनिष्ठा कन्या और कभी अविवाहिता दुहिता के लिए प्रयोग में आये हैं । ऋग्वेद में पुत्री के लिए प्रयुक्त उक्त शब्द एक ओर पुत्री या कन्या की सुन्दरता, कान्ति और लघिमा को व्यक्त करते हैं, तो दूसरी ओर पारिवारिक जनों के हृदय में उसके प्रति विद्यमान आकर्षण, रुचि और स्नेह का संकेत करते हैं ।

(३) नप्ती

ऋग्वेदसंहिता में पुत्र, पौत्र या वंशज के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले **नपात्** और **नप्तृ** शब्दों का स्त्रीलिङ्ग रूप 'नप्ती' (नप्तृ+ङीप्)[४६] अनेक बार प्रयुक्त हुआ है - कभी विशेषण और कभी संज्ञा के रूप में । इस शब्द का प्रयोग संहिताओं तक ही सीमित है । अथर्ववेद में इस शब्द का व्यवहार हुआ है ।[४७] इस शब्द के प्रारम्भिक प्रयोग के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य से प्रकाश नहीं पड़ता है ।[४८] न + √ पत् से व्युत्पन्न और 'न पतति यद्वा न

पातयति' अर्थ देने वाले इन शब्दों से परिवार की परम्परा को गिरने से रोकने वाले अथवा आगे बढ़ाने वाले के अर्थ में 'सन्तान' का ग्रहण किया जा सकता है। जिस अर्थ में पुत्र या पौत्र 'नपात्' या 'नप्तृ' हैं, उसी अर्थ में ऋग्वेद में पुत्री या पोती 'नप्ती' है।[४९] इसका अर्थ मैकडॉनल तथा मायरोफर ने पुत्री या पौत्री ही बताया है।[५०] सूर्यकान्त ने इसको पोती का वाचक माना है, जिसके समकक्ष लिथूनियन भाषा का शब्द `Nepte' है।[५१]

ऋग्वेद में पृथ्वी से उत्पन्न ओषधियों को अदिति की 'नप्ती' कहा गया है।[५२] सायण ने इसका 'नप्त्रीः' अर्थ किया है। अन्यत्र 'नप्त्या' द्यावापृथिवी का विशेषण है,[५३] सायण के अनुसार सर्वदा अनुग्रहशील द्यावापृथिवी स्तोता के पतन को न होने देने वाली है।[५४] सोम का सवन करने वाले हाथों या अङ्गुलियों को भी 'नप्ती' कहा गया है- 'जो सोम यजमान की नप्तियों (पौत्रस्थानीय अङ्गुलियों) द्वारा शुद्ध किया जाता है।[५५] सोम को 'नप्त्योः हितः' अर्थात् ग्रिफिथ के अनुसार 'हाथों' या सातवलेकर के अनुसार 'रस निकालने के स्थान' पर रखा हुआ भी कहा गया है।[५६] सम्भवतः अङ्गुलियों को 'नप्ती' नाम देने में भी समान भाव निहित है कि वे पदार्थ को गिरने से रोकती हैं।

(४) यह्वी

'यह्वी' 'यह्वः' शब्द का स्त्रीलिङ्गरूप है (यह्व+ङीप्)। निघण्टु में 'यह्व' को महत् का पर्याय बताया गया है,[५७] अतः 'यह्वी' का प्रधान अर्थ है - महती। छान्दस द्विवचनरूप में यह विशेषण पद 'यह्वी' ऋग्वेद में कई बार उषासानक्ता को दिया गया है।[५८] इसका बहुवचन रूप 'यह्वीः' विशेषतः नदियों का विशेषण रहा है।[५९] कुछ स्थलों पर इससे 'पुत्री' का अर्थ लेना भी सम्भव है। एक मन्त्र में उषासानक्ता के लिए प्रयुक्त विशेषण 'यह्वी' को साथ आये षष्ठ्यन्त पद 'दिवः' के साथ सरलतया अन्वित किया जा सकता है - 'दिवः यह्वी' अर्थात् द्यौस् की दोनों पुत्रियाँ।[६०] 'उषा' को अनेक बार 'दिवः दुहिता' कहना, उषासानक्ता को 'अरुषस्य दुहितरा' अर्थात् अरुण सूर्य की पुत्रियाँ कहना और उषा तथा नक्ता को परस्पर बहिन मानना इस अर्थ को पुष्ट करता है।[६१] उषासानक्ता के लिए प्रयुक्त 'यह्वी' विशेषण की सायण ने द्विविध व्याख्या की है।[६२] उनके मत में दूसरे अर्थ का आधार है - **यह्वः**

पुंल्लिङ्ग शब्द का अपत्यनामों में परिगणन ।[६३] सम्भवतः यहाँ वे 'यह्वी' को 'यहुः' का स्त्रीरूप मान रहे हैं, अन्यथा ऋग्वेद में 'यह्वः' शब्द भी पुत्र अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[६४]

(५) नना

ऋग्वेद के एक मन्त्र में 'नना' शब्द 'तत' के समानान्तर प्रयुक्त हुआ है, जहाँ कोई कवि अपना परिचय देते हुए कहता है कि मेरा 'तत' भिषज् है और मेरी 'नना' उपलप्रक्षिणी है ।[६५] ऋग्वेद में एकमात्र यही 'नना' शब्द का प्रयोग हुआ है । यास्क ने यहाँ 'तत' को पिता या पुत्र का वाचक और 'नना' को उसके समानान्तर ही माता या दुहिता का वाचक माना है। सायण, वेङ्कटमाधव और सातवलेकर आदि भाष्यकारों ने 'नना' से माता या पुत्री का अर्थ ग्रहण किया है । यास्क ने 'नना' शब्द को √ नम् से व्युत्पन्न बताया है ।[६६] वेङ्कटमाधव और सायण ने भी इस अर्थ से सहमति व्यक्त की है- **नमति या सा नना** । निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य और सायण की व्याख्या है - माता अपत्य के प्रति स्तनपान आदि के लिए नमनशील होती है, तो दुहिता शुश्रूषा और परिचर्या आदि के लिए नमनशील होती है, अतः दोनों 'नना' हैं । यह शब्द इण्डो-योरोपीय काल से प्रचलित रहा है । यह बच्चों की बोली का अनुकरणात्मक शब्द सा लगता है ।[६७] यह शब्द जितना ध्वन्यात्मक अनुकरण से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है, उतना उक्त व्युत्पत्ति से नहीं । 'नना' शब्द 'पुत्री' के अर्थ में माता-पिता की स्नेहिल भावनाओं का उद्‌भावक है ।

(६) योषा/योषणा/योषित्/योषन्

ये शब्द युवति या प्राप्तयौवना स्त्री के लिए प्रयुक्त हुए हैं ।[६८] कई बार इनका अर्थ विवाहयोग्य पुत्री या कन्या से है । कुछ स्थलों पर 'पत्नी' या 'विवाहिता स्त्री' अर्थ प्रतीत होता है । कीथ और मैकडॉनल के मत में ये शब्द प्रमुखतः सभी के प्रिय होने अथवा विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की वस्तु होने के रूप में कन्या या युवति के द्योतक हैं ।[६९] कीथ के विचार में षष्ठ्यन्त शब्द के साथ प्रयुक्त 'योषा' शब्द का अर्थ स्पष्ट रूप से 'पुत्री' है ।[७०] अन्यत्र 'योषणा' पुत्री का बोधक शब्द है।[७१] ये शब्द ऋग्वेद में 'युवा स्त्री' का सामान्य आशय ही अधिक रखते हैं, तभी सायणभाष्य में इनसे युवति,

जाया, गृहिणी, भार्या, स्त्री, कलत्र, कन्या आदि अर्थों का यथास्थान ग्रहण किया गया है ।

(७) अमाजुर्

ऋग्वेद में पुत्री या कन्या के लिए विशेष विशेषण के रूप में दो शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिससे ऋग्वैदिक परिवार में उसकी स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । इनमें से प्रथम शब्द 'अमाजुर्' का ऋग्वेद की संहिता में केवल तीन बार प्रयोग हुआ है ।[७२] यह एक उपाधि या विशेषण है, जिसका प्रयोग अविवाहित पुत्रियों अर्थात् ऐसी कन्याओं के लिए किया जाता था, जो पति प्राप्त किये बिना 'घर में ही वृद्धा' हो जाती थी । देखा जा चुका है कि ऋग्वैदिक समाज में कन्याओं के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता था, उनमें से अधिकांश उसकी सुन्दरता, कमनीयता और विवाह-योग्यता पर आधारित थे । अतः कन्या का विवाह उसके जन्म का एक विशेष और आवश्यक कृत्य समझा गया था । पर कभी किन्हीं कारणों से कन्याएँ अविवाहित रह जाती थीं । ऋग्वेद में अपाला और घोषा ऐसी ही कन्याएँ थीं, जिन्हें विवाह-योग्य अवस्था होने पर भी पितृकुल में रह जाना पड़ा था। 'ऋग्वेद में पितृकुल में रहने वाली कन्याओं का अनेक स्थलों पर निर्देश हुआ है, परन्तु ऋग्वैदिक साक्ष्य से अविवाहित कन्याओं के प्रति माता-पिता अथवा भाई-भाभी के किसी दुर्व्यवहार का कोई संकेत नहीं मिलता है ।'[७३]

'अमाजुर्' शब्द 'अमा' उपपद में √ जृ (वयोहानौ) से क्विप् प्रत्यय लगकर बना है, जिसमें 'बहुलं छन्दसि' से उकार आदेश हो गया है ।[७४] 'अमा' शब्द अव्यय है, जो वेद में करणकारक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। निघण्टु के अनुसार **अमा** गृहनाम है और यास्क ने भी इसे इस अर्थ में स्वीकार किया है ।[७५] ऋग्वेद में 'अमा' अनेकशः गृहवाची है ।[७६] अतः 'अमाजुर्' का अर्थ है - 'या अमा गृहे जूर्यति सा अमाजुर्' अर्थात् जो (पिता के) घर में बूढ़ी होती है ।

मन्त्र में अश्विनौ से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि तुम दोनों अमाजुर् घोषा के सौभाग्य-प्राप्ति में सहायक हुए ।[७७] अन्यत्र निगमान्तर है कि अश्विन्-द्वय ने पिता के घर पर ही (पितृषद्) बूढ़ी होने वाली घोषा को पति दिया था ।[७८] एक बार अमाजुर् कन्या का उपमान के रूप में निर्देश

हुआ है,[७९] जहाँ सायण ने 'यावज्जीवं गृह एव जीर्यन्ती' अर्थ किया है। पति को न प्राप्त करती हुई बड़ी उम्र की कन्याएँ माता-पिता के साथ ही रहती थीं और उनकी देखभाल करती थीं। तीसरी बार 'अमाजुरः' पद बहुवचनरूप में इन्द्र के उन स्तोताओं के लिए विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ है, जो इन्द्र की मित्रता में रहकर घर में ही निष्क्रिय होकर वृद्ध नहीं होना चाहते हैं।[८०] अतः कन्याओं के लिए 'अमाजुर्' पद का प्रयोग दो बार ही हुआ है। उसके प्रयोग और अर्थ ऋग्वैदिक कन्याओं के जीवन के सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट करते हैं -(१) सामान्यतया कन्याओं का विवाह होता था और उस स्थिति में वे पितृगृह को छोड़कर सदा के लिए पतिगृह चली जाती थीं। (२) कन्या का विवाह अनिवार्य नहीं था और न ही विवाह-योग्य आयु की कोई सीमा थी।[८१] यदि कन्या अविवाहित रह जाती थी, तो वृद्धावस्था तक सम्मानपूर्वक पिता के घर में रहती थी और उस स्थिति में पैतृक सम्पत्ति से जीविकोपार्जन करती थी। दोनों ही स्थितियों में आर्थिक और सामाजिक रूप से कन्या की स्थिति सुदृढ़ और सुनिश्चित थी।

(८) अभ्रातृ

भाई से विहीन कन्याओं के लिए 'अभ्रातृ' (नास्ति भ्राता यस्या) शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में दो बार हुआ है–एक बार एकवचन में और दूसरी बार बहुवचन में। दोनों ही बार इसका व्यवहार उपमानरूप में है। निरुक्त आदि उत्तरवैदिक ग्रन्थों और लौकिक संस्कृत में समान अभिप्राय से कप् लगाकर अभ्रातृक/अभ्रातृका शब्द प्रचलित हैं।[८२]

एक मन्त्र में कहा गया है कि 'जैसे भ्रातृविहीन कन्या वापस लौटी हुई पिता आदि को प्राप्त होती है।'[८३] यह वाक्य विद्वानों द्वारा बहुविध व्याख्यात रहा है, क्योंकि इसमें अभ्रातृ कन्या के विवाहोपरान्त (पिता के पास) वापस आने का कारण नहीं दिया गया है। सायण के अनुसार वह पिता से वस्त्र, अलंकार आदि के लाभ के लिए अथवा पिता के पिण्डदान आदि के लिए पितृकुल में जाती थी, तो वेङ्कटमाधव के अनुसार वह सन्तानकर्म यथा पिण्डदान के लिए जाती थी। सातवलेकर के विचार में अभ्रातृका कन्या निराश्रित होने पर माता-पिता के पास चली आती थी, तो ग्रिफिथ के अनुसार ऐसी कन्या पुरुषों की ओर खिंचती थी। यास्क ने अभिप्राय लिया है कि

अभ्रातृमती कन्या वापस लौटी हुई पिता को सेवार्थ प्राप्त होती थी अर्थात् वह भाई न होने के कारण माता-पिता की देखभाल के लिए पुनः-पुनः पिता के घर आती थी । निश्चय ही ऐसी स्थिति में वह दायभाग (रिक्थम्) की अधिकारिणी होती थी ।

दूसरी ऋचा में कहा गया है कि भाईयों से रहित कन्याएँ जिस प्रकार कुमार्ग पर चलती हैं ।[८४] यहाँ अभ्रातृका कन्याओं के 'कुटिलगमना' होने का तात्पर्य पर्याप्त स्पष्ट नहीं है, तथापि अधिकांश व्याख्याकारों ने यही संकेत ग्रहण किया है कि भाई-विहीन कन्याओं के लिए भाई के नियन्त्रण में न होने से भ्रष्ट होने की संभावनाएँ अधिक होती थीं। इसकी पुष्टि के लिए अथर्ववेदसंहिता का एक मन्त्र[८५] उद्धृत किया जाता है । यास्क ने अभ्रातृका के प्रतिरुद्धमार्ग वाली होने से उसके विवाहनिषेध का तात्पर्य ग्रहण किया है।[८६] कदाचित् इसलिए कि ऐसी कन्या अपने पिता द्वारा **पुत्रिका** (गृहीत-पुत्री) बना ली जाती थी - अर्थात् ऐसी दशा में उससे उत्पन्न कोई भी पुत्र उसके पति के परिवार की अपेक्षा उसके पिता के परिवार का ही समझा जाता था।[८७] अनेक विद्वानों की मान्यता है कि ऋग्वेद के समय अभ्रातृका कन्या का विवाह प्रायः नहीं होता था, क्योंकि उसका पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति का अधिकारी न होकर मातामह की सम्पत्ति का अधिकारी होता था ।[८८] इस तथ्य के पोषक एक मन्त्र के अनुसार अभ्रातृका कन्या का पिता जामाता को वस्त्र, अलंकार आदि से सन्तुष्ट करके दौहित्र को पौत्र बना लेता था।[८९] इसीलिए मनु ने ऐसी कन्या से विवाह का निषेध किया है ।[९०] उत्तरवर्ती साहित्य में ऐसी कन्या को 'पुत्रिका' कहा गया है । इस प्रकार 'अभ्रातृ' विशेषण ऋग्वैदिक समाज में पुत्रियों की वैधानिक स्थिति और परिवार की एकमात्र सन्तान होने से उनके प्रति तत्कालीन सामाजिक दृष्टिकोण का उद्घाटन करता है ।

ऋग्वेद में देवी 'उषा' वैदिक पुत्री की प्रतीक है - उज्ज्वल, पवित्र, कार्यरत और आकर्षक । जिस प्रकार प्राकृतिक जगत् में उषा का प्रमुख न होने पर भी स्वतन्त्र और विशेष स्थान है, उसी प्रकार ऋग्वैदिक परिवार में पुत्री का अपना स्थान है। ऋग्वैदिक पुत्रीवाचक शब्दों में से कुछ शब्द आज तक भारतीय भाषाओं में विद्यमान और प्रचलित हैं और वैदिक पुत्री की गरिमा के स्मारक हैं ।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम् । ऋ. ३/३१/२.
२. ऋ. १/६१/२०, १/६२/१३, ३/१/२३, १०/८५/२५, १०/१८३/१.
३. निघ. २/२.
४. अथर्व. ६/११/३, ८/६/२५; ऐ.ब्रा. ७/१५.
५. अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत । बृह.उप. ६/४/१७.
६. संगच्छमाने युवती समन्ते स्वसारा जामी पित्रोरुपस्थे । ऋ. १/१८५/५.
७. यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन् । ऋ. ३/३१/२.
८. नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० । उ.सू. २/६५.
९. Max Muller, *Biographies of words*, London, 1888, p. 150; Williams, *A Sanskrit-English-Dictionary*, p. 489.
१०. Upadhyaya, *Women in Rigveda*, Delhi, 1974, p. 44.
११. दुहिता दोग्धेर्वा । नि. ३/४.
१२. विवाहादिकाले धनादिकमाकृष्य गृह्णाति ।
१३. राजवीरशास्त्री, *दयानन्दवैदिककोष*, विमर्शटीका, १९७५, पृ. ४७५.
१४. Keith & Macdonell, *Vedic Index*, Vol. I, Delhi, 1982, p. 371; Delbruck, *Die indogermanischen verwandtschafts-namen*, p. 454; M. M. Williams -`drawing milk from her mother'.
१५. ऋ. ३/३१/२.
१६. दुहिता दुर्हिता, दूरे हिता । नि. ३/४.
१७. Varma, *The Etymologies of Yaska*, 1953, p. 27.
१८. ऋ. ३/३१/१.
१९. ऋ. १/४८/६, १/६२/५,७.
२०. ऋ. ५/४२/१३.
२१. ऋ. ४/४३/२.
२२. ऋ. १०/६१/१०,११, २१.
२३. कनायाः दुहितुः । ऋ. १०/६१/५.
२४. राजवीर शास्त्री, *दयानन्दवैदिककोष*, विमर्शटीका, पृ. २६६.
२५. ऋ.सा.भा. १/११६/१०, १/१५२/४.

२६. जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् । ऋ. १/६६/४,
जारं कनीनाम् । ऋ. १/१५२/४.

२७. त्वमर्यमा भवसि यत् कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि । ऋ. ५/३/२.

२८. नि. ४/१५.

२९. कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके । ऋ. ४/३२/२३.

३०. कमनीये शालभञ्जिके इव ।। ऋ.सा.भा. ४/३२/२३.

३१. H. Grassmann, *Worterbuch zum Rigveda*, Leipzig, 1973; Bohtlingkand Roth, St. *Petersburg Sanskrit Worterbuch*, 1855-1875; ऋ.वे.भा. ४/३२/२३.

३२. Macdonell and Keith, *Vedicx Index of Names and Subjects*, Vol. I, p. 135.

३३. S. R. Shastri, *Women in the Vedic Age*, 1952, p. 4.

३४. अघ्न्यादयश्च । उ.सू. ४/१११.

३५. कन्या कमनीया भवति, क्वेयं नेतव्येति वा, कमनेनानीयत इति वा, कनतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः । नि. ४/१५.

३६. कन्येव तन्वा३ शाशदानाँ एषि देवि देवमियक्षमाणम् । ऋ. १/१२३/१०.

३७. नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ! ऋ. ३/३३/१०.

३८. अभि त्वा योषणो दश जारं न कन्यानूषत । ऋ. ९/५६/३.

३९. Griffith-maid; सातवलेकर - कमनीय युवति ।
स्तोमं जुषेथां युवशेव कन्यनाम् । ऋ. ८/३५/५.

४०. अथर्व. ५/५/३, १४/२/५२.

४१. Varma, *The Etymologies of Yaska*, p. 55.

४२. *Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute*, Poona, 1939, XX p. 90.

४३. Williams, *A Sanskrit English Dictionary*, p. 248.

४४. शिवराज शास्त्री, *ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध*, मेरठ १९६२, पृ. १६२, २२०.

४५. Annals of B.O.R.I., XX, p. 83.

४६. ऋन्नेभ्योः ङीप् । पा. सू. ४/१/५.

४७. अथर्व. १/२८/४, २/१४/१, ७/८२/६.

४८. Keith and Macdonell, *Vedic Index*, Vol. I, p. 435; सूर्यकान्त, *वैदिककोश*, बनारस, १६६३, पृ. २३८.

४६. न पातयित्री । ऋ.सा.भा. ८/२/४२.

५०. M. Mayrhofer, *A Concise Etymological Sanskrit Dictionary, Heidelberg,* 1963.

५१. Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, p. 371.

५२. श्रथ्नीते नप्तीरदितेर्ऋतं यते । ऋ. ६/६६/३.

५३. उत सु त्ये पयोवृधा माकी रणस्य नप्त्या । ऋ. ८/२/४२.

५४. नप्त्यौ न पातयित्र्यौ सर्वदानुग्रहशीले...। ऋ.सा.भा. ८/२/४२.

५५. नप्तीभिर्यो विवस्वतः शुभ्रो न मामृजे युवा । ऋ. ६/१४/५.

५६. ऋ. ६/६/१.

५७. निघ. ३/३.

५८. ऋ. १/१४२/७, ५/५/६, ५/४१/७.

५६. ऋ. १/७२/८, १/७१/७, ६/६२/४.

६०. ऋ. ५/४१/७.

६१. ऋ. ६/४६/३, १/१२४/८.

६२. यह्वी महत्यौ, अपत्यरूपे वा प्रतिदिनं जायमानत्वात् । ऋ. १/१४२/७.

६३. निघ. २/२.

६४. यह्वो अदितेः । ऋ. १०/११/१.

६५. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना । ऋ. ६/११२/३.

६६. नना नमतेर्माता वा दुहिता वा । नि. ६/६.

६७. Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, p. 371. , द्र. – अध्याय १८, माता-पिता के वाचक शब्द ।

६८. द्र. – अध्याय २०, पत्नी के वाचक शब्द, पादटिप्पणी १२० ।

६६. Macdonell and Keith, *Vedic Index*, Vol. II, p. 196; M. Mayrhofer, A *Concise Etymological Sanskrit Dictionary.*

७०. न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषाम् । ऋ. १/११७/२०.

७१. न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषणाम् । ऋ. १०/३६/७.

७२. ऋ. २/१७/७, ८/२१/१५, १०/३६/३.

७३. शिवराज शास्त्री, *ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध*, पृ. २३३-३४.

७४. पा.सू. ७/१/१०३.
७५. निघ. ३/४; नि. ११/४६/१; द्र.– अध्याय १७, गृहवाचक शब्द ।
७६. ऋ. १/१२४/१२, २/३८/६, ६/५१/१५; शत.ब्रा. ६/४/३ इत्यादि.
७७. अमाजुरश्चिद्भवथो युवं भगः । ऋ. १०/३६/३.
७८. घोषायै चित् पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम् ।
ऋ. १/११७/७.
७६. अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम् ।
ऋ. २/१७/७.
८०. मा ते अमाजुरो यथा मूरास इन्द्र । ऋ. ८/२१/१५.
८१. S.R. Shastri, *Women in the Vedic Age*, 1952, p. 10.
८२. अभ्रातृका इव योषाः । नि. ६/४; अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृताम् । मनु. ६/१२७ (प्रक्षेप ३)
८३. अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची । ऋ. १/१२४/७.
८४. अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः । ऋ. ४/५/५.
८५. अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः । अथर्व. १/१७/१.
८६. अभ्रातृकाया अनिर्वाह औपमिकः । नि. ३/४.
८७. Keith and Macdonell , *Vedic Index*, Vol. I, p. 30; सूर्यकान्त, *वैदिककोश*, पृ. १६-२०.
८८. बलदेव उपाध्याय, *वैदिक साहित्य और संस्कृति*, काशी, १६५८, पृ. ५१८; विश्वेश्वरनाथ रेउ, *ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि*, बनारस, १६६७, पृ. १६१.
८६. शासद् बह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधिति सपर्यन् ।ऋ. ३/३१/१.
६०. मनु. ३/११; ६/१२७.

[**शोधप्रभा, शोधपत्रिका,** श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, दिल्ली, अक्टूबर-दिसम्बर १६६०, पृ. ३६-५१ **में प्रकाशित** ।]

❋ ❋ ❋

२२

ऋषिकाएँ

वेदों की सभी प्रमुख संहिताओं में मन्त्रों के पाठ से पूर्व उनके ऋषि, देवता और छन्दस् का निर्देश मिलता है । पारम्परिक मत में मन्त्रपाठ से पूर्व इनका ज्ञान अति आवश्यक है ।[१] एक ओर जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान से परे के गहन रहस्यों का ज्ञान कराने में वेद की वेदता परिभाषित की जाती है, वहीं दूसरी ओर मन्त्रपाठ और मन्त्रार्थ से पूर्व ज्ञातव्य ऋषि और देवतातत्त्व ही वेद-अध्येताओं के लिए ऐसे जटिल प्रश्नों को उपस्थापित करते हैं, जिनकी मीमांसा विविध प्रकार से की जाती रही है और निष्कर्ष अद्यावधि सन्दिग्ध ही हैं ।

ऋषितत्त्व

'ऋषि' की दो परिभाषाएँ प्रसिद्ध हैं । पहली है - **ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः** ।[२] अर्थात् ऋषि वे हैं, जिन्होंने समाधि की अलौकिक स्थिति में मन्त्रों का दर्शन किया था । आचार्य औपमन्यव को उद्धृत करते हुए यास्क ने निरुक्त में कहा है - 'ऋषि' शब्द √ दृश् से निष्पन्न हुआ है, क्योंकि इन ऋषियों ने स्तोमों अर्थात् मन्त्रों का दर्शन किया था ।[३] अथवा यह शब्द गत्यर्थक √ ऋष् से बना है, क्योंकि तपस्या में निरत ऋषियों के पास मन्त्र गये थे ।[४] समाधि की स्थिति में मन्त्रों का दर्शन करना या ऋषियों के पास मन्त्रों का प्राप्त होना—वस्तुतः एक ही तथ्य के दो पक्ष हैं । तात्पर्य है कि मन्त्रप्रणयन अलौकिक स्तर पर हुआ है। इसीलिए यास्क का मत है कि समाधि की अतिविशिष्ट स्थिति में मन्त्रों का प्रत्यक्षीकरण करने वाले 'ऋषि' कहलाते हैं ।[५] 'ऋषि' शब्द की दूसरी परिभाषा है– **यस्य वाक्यं स ऋषिः**[६], अर्थात् मन्त्ररूप वाक्य जिसके द्वारा कहा गया है, वही उसका ऋषि है । यास्क ने मन्त्रों में

देवतानिर्धारण के आधार के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए कहा है कि जो चाहता हुआ मन्त्रद्रष्टा जिस देवता के बारे में विषय के स्वामित्व को चाहता हुआ वर्णन करता है, उस देवता वाला वह मन्त्र होता है।[७] तात्पर्य है कि देवता से कामना करता हुआ जो उसकी स्तुति करता है, वही ऋषि है। मन्त्र का वक्ता ऋषि है, तभी नदी, सरमा आदि मनुष्येतर प्राणियों या अचेतन पदार्थों में ऋषित्व परिकल्पनीय रहा है। बृहद्देवता में स्पष्ट रूप में इसी अभिप्राय से कहा गया है-'संवादें में जो संवाद का वक्ता होता है उसे ऋषि मानना चाहिए और संवाद-वाक्य द्वारा जो सम्बोधित होता है, उसे देवता मानना चाहिए।'[८] संवादसूक्तों में ऋषि और देवता के निर्धारण का प्रायशः यही आधार दिखायी देता है।

दोनों परिभाषाओं से सिद्ध होता है कि वेदों में 'ऋषि' वे हैं, जो मन्त्रों के द्रष्टा या वक्ता हैं। इन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा देखी गयीं महत्त्वपूर्ण ऋचाओं का संग्रह ऋग्वेदसंहिता है।

वैदिक ऋषि

ऋग्वेदसंहिता के प्रत्येक सूक्त या मन्त्र के द्रष्टा-ऋषियों के नामों का निर्देश कात्यायन की सर्वानुक्रमणी, शौनक की आर्षानुक्रमणी, शौनक के बृहद्देवता और तथानुसार सायणाचार्य आदि भाष्यकारों के भाष्यों में किया गया है। ऋग्वेद के दूसरे से आठवें तक के मण्डल कुलमण्डल हैं क्योंकि उनमें एक-एक ऋषि और उनके वंशजों द्वारा दृष्ट सूक्तों का संकलन किया गया है। प्रथम, नवम और दशम मण्डल में अनेक ऋषियों के द्वारा देखे गये सूक्त हैं। यद्यपि ऋषितत्त्व एक विचारणीय गहन विषय है, क्योंकि ऋषि से सर्वत्र मानवीय या वैयक्तिक ऋषि का ग्रहण सुकर नहीं है, जैसे श्रद्धा, वाक्, अक्ष, पवित्र आदि; तथापि अनुक्रमणी-ग्रन्थों ने ऋषि-नामों के लिङ्गत्व के आधार पर पुरुष-ऋषि और स्त्री-ऋषि की अवधारणा को अङ्गीकार किया है और भाष्यकारों ने भी ऋषिनाम के स्त्रीलिङ्गत्व को ध्यान में रखकर उसे तथावत् स्त्री-ऋषि या ऋषिका के रूप में आम्नात किया है।

ऋग्वैदिक ऋषिकाएँ

ऋग्वेद में नारियों को सम्माननीय स्थान प्राप्त है। परिवार, समाज, शिक्षा, युद्ध, ज्ञानवार्ता आदि अनेक प्रकार के सन्दर्भों में उनका गौरवपूर्ण

उल्लेख मिलता है। इसीलिए आश्चर्य नहीं होता जब संहिता में पुरुष-ऋषियों के समान ही स्त्री-ऋषियों के पर्याप्त प्रसङ्ग उपलब्ध होते हैं। दोनों ने ही मन्त्रों का दर्शन किया था। इसीलिए मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं और मन्त्रद्रष्ट्रियाँ ऋषिकाएँ या स्त्री-ऋषि। जिन स्त्री-ऋषियों का निर्देश मन्त्रों या सूक्तों के साथ किया जाता है अर्थात् जो उन-उन की द्रष्टा या वक्ता मानी गयी हैं, उनकी संख्या लगभग तीस है। इनमें खिलसूक्तों की पाँच ऋषिकाएं भी सम्मिलित की गयी हैं। ऋषिकाओं के सम्बन्ध में विशेष तथ्य यही है कि इनके द्वारा दृष्ट अधिकांश मन्त्र प्रथम और दशम मण्डल में हैं।

ऋषिकाओं का वर्गीकरण

ऋग्वेद की ऋषिकाओं के स्वरूप-विवेचन से पूर्व उनका वर्गीकरण अपेक्षित है। इससे उनके मूलस्वरूप का दिग्दर्शन और उनकी प्रधान प्रकृति का अवलोकन किया जा सकता है।

प्रथम वर्गीकरण

इसके अन्तर्गत ३० ऋषिकाओं को (क) देवता या देवताओं से सम्बद्ध, (ख) ऋषियों या राजाओं से सम्बद्ध, (ग) अप्सरारूप, (घ) मनुष्येतर-प्राणिरूप, (ङ) अचेतन-पदार्थरूप, (च) अमूर्ततत्त्व-रूप, (छ) खिलसूक्त की ऋषिकाएँ– वर्गों में रखा जा सकता है।

(क) **देवता या देवताओं से सम्बद्ध** - इन्द्रमातरः, इन्द्रस्नुषा, इन्द्राणी, अदिति, सूर्या सावित्री, यमी वैवस्वती, शची पौलोमी।

(ख) **ऋषियों या राजाओं से सम्बद्ध** - अगस्त्यस्वसा, अपाला आत्रेयी, शश्वती आङ्गिरसी, घोषा काक्षीवती, जुहू ब्रह्मजाया, रोमशा, लोपामुद्रा, विश्ववारा आत्रेयी।

(ग) **अप्सरारूप** - उर्वशी, शिखण्डिन्यौ काश्यपी।

(घ) **मनुष्येतर-प्राणिरूप** - देवशुनी सरमा, गोधा, सार्पराज्ञी।

(ङ) **अचेतन–पदार्थरूप** - नद्यः, रात्रिः, दक्षिणा।

(च) **अमूर्त–तत्त्वरूप** - वाक्, श्रद्धा।

(छ) **खिलसूक्त की ऋषिकाएँ** - श्री, लाक्षा, मेधा, उपनिषद्, निषद्।

द्वितीय वर्गीकरण

ऋग्वेद की २७ ऋषिकाओं का नामतः उल्लेख आर्षानुक्रमणी और

बृहद्देवता में किया गया है - घोषा, गोधा, विश्ववारा, अपाला, उपनिषद्, निषद्, ब्रह्मजाया जुहू, अगस्त्य की भगिनी, अदिति, इन्द्राणी, इन्द्रमाता, सरमा, रोमशा, उर्वशी, लोपामुद्रा, नदियाँ, यमी, शश्वती नारी, श्री, लाक्षा, सार्पराज्ञी, वाक्, श्रद्धा, मेधा, दक्षिणा, रात्री, सूर्या सावित्री और इनको 'ब्रह्मवादिनी' कहा गया है ।[९] बृहद्देवता में शौनक ने इनको तीन वर्गों में बांटा है:[१०]

(क) जिन्होंने देवताओं की स्तुति की है - घोषा, गोधा, विश्ववारा, अपाला, उपनिषद्, निषद्, ब्रह्मजाया जुहू, अगस्त्यस्वसा, अदिति ।

(ख) जिन्होंने देवताओं तथा ऋषियों से वार्तालाप किया है - इन्द्राणी, इन्द्रमाता, सरमा, रोमशा, उर्वशी, लोपामुद्रा, नद्यः, यमी, शश्वती नारी ।

(ग) जिनकी स्तुति का विषय 'आत्मा' है अर्थात् जो ऋषि है, वह स्वयं देवता भी है[११] –श्री, लाक्षा, सार्पराज्ञी, वाक्, श्रद्धा, मेधा, दक्षिणा, रात्री, सूर्या सावित्री ।

इस प्रकार मन्त्रद्रष्ट्रियों के तीनों वर्गों में नौ-नौ नाम हैं ।

तृतीय वर्गीकरण

ऋषित्व के आधार पर इनको तीन भागों में बाँट सकते हैं :

(क) स्वतन्त्र ऋषित्व - इन्द्रमातरः, इन्द्रस्नुषा, विश्ववारा आदि ।

(ख) वैकल्पिक ऋषित्व - अदिति दाक्षायणी, शिखण्डिन्यौ, रात्रि आदि।

(ग) सम्मिलित ऋषित्व - नद्यः, इन्द्रमातरः आदि ।

चतुर्थ वर्गीकरण

ऋषि और देवता दोनों रूपों को एक साथ देखने पर इनके दो भाग कर सकते हैं :

(क) समान मन्त्र में ऋषि और देवता- सार्पराज्ञी, वाक्, श्रद्धा, दक्षिणा, रात्रि आदि ।

(ख) अन्यत्र ऋषि, अन्यत्र देवता - इन्द्राणी, अदिति, यमी, रोमशा आदि।

ऋषिकाओं का विवरण

ऋषिकाओं के प्रधान स्वरूप को ध्यान में रखने पर उनके विवरण के लिए प्रथम वर्गीकरण महत्त्वपूर्ण है । तदनुसार विश्लेषण के अन्तर्गत इनके नाम, इनके द्वारा दृष्ट मन्त्र, मन्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्य और अन्य सम्बद्ध बातों का अनुशीलन प्रस्तुत है ।

(क) देवता या देवताओं से सम्बद्ध

१. इन्द्रमातरः देवजामयः

ऋ. १०/१५३ का सम्बन्ध ऐसी अनेक ऋषिकाओं से है, जो देवों की बहिन और इन्द्र की माताएं हैं ।[१२] बृहद्देवता में स्त्री-द्रष्ट्रियों के नामों में एकवचनान्त इन्द्रमाता को गिनाया गया है और उसे देवताओं से वार्तालाप करने वाले वर्ग में रखा गया है । जबकि सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि 'स्तुति आदि के द्वारा इन्द्र को प्राप्त हुई, कर्मशील एवं पराक्रमवती देवियाँ प्रादुर्भूत इन्द्र की उपासना करती हैं।'[१३] अनन्तर इन्द्र को सम्बोधित करते हुए चार मन्त्र उसके स्तवन में कहे गये हैं । सम्भवतः बहुवचनान्त 'ईङ्खयन्तीः' तथा 'इन्द्रं जातम् उपासते' पदों के आधार पर ऋषि-नाम के साथ अनेकत्व, इन्द्रमातृत्व और देवस्वसृत्व के सम्बन्ध जुड़ गये हैं । प्रथम मन्त्र के आधार पर स्पष्ट ही इन्द्र की स्तुति प्रादुर्भूत इन्द्र के पास जाने वाली ऐसी अनेक ऋषिकाओं द्वारा की जा रही है, जो स्वयं देवतारूप हैं ।

२. इन्द्रस्नुषा

ऋ. १०/२८/१ की ऋषिका इन्द्र के पुत्र वसुक्र की पत्नी और इस रूप में इन्द्र की स्नुषा अर्थात् पुत्रवधू है । ऐन्द्र वसुक्र इस सूक्त के कुछ मन्त्रों और कतिपय अन्य सूक्तों का ऋषि है । इस सूक्त में इन्द्र तथा उसके पुत्र वसुक्र का संवाद है; किन्तु प्रथम मन्त्र की ऋषिका इन्द्र की स्नुषा मानी गयी है, क्योंकि वह इस मन्त्र की वक्ता है । वह देवताओं को आया हुआ देखकर, किन्तु यह देखकर कि इन्द्र नहीं आये, उनको परोक्ष रूप से सम्बोधित करते हुए कहती है- 'मेरे श्वसुर नहीं आये हैं, यदि आयें, तो अन्न का भक्षण और सोम का पान भी करें।'[१४] इस कथन से परिवार के गुरुजनों के प्रति नारी की सम्मान–भावना भी व्यक्त होती है।

३. इन्द्राणी

ऋ. १०/८६ के ग्यारह मन्त्रों की ऋषिका इन्द्राणी है । इस सूक्त में वृषाकपि, इन्द्र और इन्द्राणी का संवाद है, अतः इन्द्राणी के कथन वाले मन्त्रों का ऋषित्व 'इन्द्राणी' का है । अथर्ववेद (२०/१२६) में भी यह सूक्त प्राप्त होता है । वहाँ वृषाकपि और इन्द्राणी को सम्मिलित रूप से ऋषि माना

गया है। ऋग्वेद के १०/१४५ सङ्ख्यक 'संपत्नीबाधनम्' नामक सूक्त में छह मन्त्रों में सपत्नी को बाधित करने वाली ओषधि को सम्बोधित कर उससे सपत्नी को दूर करके पति को वश में करने की कामना व्यक्त की गयी है और सूक्त का ऋषित्व 'इन्द्राणी' को दिया गया है। ऋ. १०/८६/१० में इन्द्राणी ने स्वयं को 'इन्द्रपत्नी' कहा है।[१५] 'इन्द्राणी' मन्त्रों में देवता भी रही है।[१६]

४. अदिति

'अदिति' और 'अदिति दाक्षायणी' नाम से दो नाम ऋषिसूची में गिनाये जाते हैं ; जिनका सम्बन्ध क्रमशः ऋ. ४/१८ और ऋ. १०/७२ से है। ऋ. ४/१८ मुख्यतः वामदेव ऋषि का सूक्त है; परन्तु कुछ मन्त्रार्धों की ऋषिका 'अदिति' बतायी गयी है। आर्षानुक्रमणी के अनुसार ऐसे सात अर्धर्च हैं, जिनकी द्रष्टा ऋषि 'अदिति' है।[१७] इसमें वामदेव, इन्द्र और अदिति के परस्पर संवाद का वर्णन है, अतः वक्ता होने से ही अदिति का ऋषित्व है। ऋ. १०/७२ के सम्बन्ध में लोक के पुत्र बृहस्पति, आङ्गिरस बृहस्पति अथवा दक्ष की पुत्री अदिति - इन तीन ऋषियों का विकल्प मिलता है। इससे पहले के सूक्त (१०/७१) का ऋषि आङ्गिरस बृहस्पति है। उनके साथ लौक्य बृहस्पति और दाक्षायणी अदिति का विकल्प विचारणीय है। इस सूक्त के देवता 'देवाः' है। सायण के अनुसार यदि अदिति को ऋषि माना जाये, तो यहाँ अदिति स्वयं देवों की उत्पत्ति को बतला रही है और यदि बृहस्पति को ऋषि माना जाये तो बृहस्पति अदिति से आदित्य आदि देवों की उत्पत्ति के प्रकार को बतला रहे हैं – ऐसा मानना होगा। देव-जन्मों के विवरण को अदिति से जोड़ना ही सम्भवतः उनके ऋषित्व की परिकल्पना का आधार है, पर उनकी स्थिति वैकल्पिक ऋषि की ही है। अदिति कतिपय स्थलों पर मन्त्रों का देवता भी है।[१८]

५. सूर्या सावित्री

ऋ. १०/८५ सङ्ख्यक ४७ मन्त्रों के सूक्त की ऋषिका 'सूर्या सावित्री' बतायी गयी है। बृहद्देवता ने इस सूक्त की विषयवस्तु का विस्तार से वर्णन किया है -[१९] सोम, सूर्याविवाह, अश्विनौ, सूर्य, चन्द्रमा, वधूवास, वरदान, यक्ष्मनाशन, आशिस्- आदि का विवेचन इसमें है। इसमें विवाहमन्त्र भी दिये गये हैं और विवाह-संस्कार की विधि का इस सूक्त में ही सर्वप्रथम वर्णन

किया गया है । बृहद्देवताकार के अनुसार सावित्री और सूर्या विवस्वत् की एक ही पत्नी के नाम हैं और यही वह है जिसकी वृषाकपायी के रूप में स्तुति की जाती है और जिसे उषा कहा जाता है ।[२०] अतः ये तीनों नाम एक ही तत्त्व के हैं । सायण ने 'सावित्री' विशेषण का अर्थ 'सवितृ-सुता' किया है । माना जाता है कि इस सूक्त के प्रथम पाँच मन्त्रों में सूर्या ने अपने पति वधूयु सोम की महिमा का और अनन्तर ११ मन्त्रों में अपने दैवी विवाह का वर्णन किया है । यह सारा विवरण अत्यधिक रहस्यात्मक है क्योंकि सूर्या और सोम के स्वरूप और सम्बन्ध की व्याख्या कई स्तरों पर सम्भव है; परन्तु यह निश्चित है कि सूर्या का सम्बन्ध सूर्य और सोम से है । यह इस सूक्त के कुछ अन्तिम मन्त्रों (३२-४७) की देवता भी है । सर्वानुक्रमणी में 'आत्मदैवतम्' कहकर सूर्या सावित्री ही सर्वत्र देवता कही गयी है । इसलिए इसे समान रूप से देवता और ऋषि मानना उपयुक्त है ।

६. यमी वैवस्वती

'यमी' और 'यमी वैवस्वती' नाम से दो नाम ऋषि-सूची में गिनाये गये हैं, जिनका सम्बन्ध क्रमशः ऋ. १०/१५४ और ऋ. १०/१० से है। ऋ. १०/१५४ पाँच मन्त्रों का एक 'भाववृत्तम्' सूक्त है, जिसकी ऋषिका यमी वैवस्वती है और जिसमें यम तथा पितरों को याद किया गया है। अपने विशेषण के आधार पर यमी विवस्वान् की पुत्री है । परम्परा के अनुसार वैवस्वती यमी यम की भगिनी है और सूक्त के कुछ मन्त्रों में वह यम से बातचीत करती हुई दिखायी गयी है, इसलिए उसका ऋषित्व उपपन्न होता है । ऋ. १०/१० यम-यमी संवादसूक्त है, जिसमें चौदह मन्त्र हैं । 'यमी' सात मन्त्रों की ऋषिका है और शेष के ऋषि 'यम' हैं । स्पष्ट है कि यम और यमी के जो वाक्यभूत मन्त्र हैं, उनके वक्ता होने से वे ही उनके ऋषि हैं । बहिन और भाई के विवाह के निषेध की शिक्षा इस सूक्त में दी गयी है । अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से यहाँ समय के नियामक दिन और समय की नियामिका रात्रि के मिलन की सम्भावना का निषेध किया गया है । सूक्त का प्रतिपाद्य वैवस्वती यमी के दैवी सम्बन्ध को ही प्रख्यापित करता है । 'यमी' नाम ऋग्वैदिक देवताओं में परिगणित किया जाता है।

७. शची पौलोमी

ऋ. १०/१५९ की ऋषिका पुलोमपुत्री शची मानी गयी है।[२१] छह मन्त्रों के इस सूक्त में न तो कहीं 'पौलोमी' नाम आया है और न कहीं 'शची'। बृहद्देवता के अनुसार सूक्त में पौलोमी स्वयं अपने गुणों तथा अपनी सपत्नियों के गुणों की प्रशस्ति करती है।[२२] ऋचाओं से स्पष्ट हो जाता है कि वक्ता कोई स्त्री है और वह अपने गुणों की प्रशंसा कर रही है।[२३] सूक्त में एक बार इन्द्र का नाम आया है और अनेक बार सपत्नियों के विनाश की बात की गयी है। 'इन्द्र' नाम की प्राप्ति से सूक्त की द्रष्ट्री इन्द्रपत्नी 'शची' का होना उपयुक्त प्रतीत होता है। मन्त्रों में शची की आत्म-प्रशंसा का वर्णन है, इसलिए सूक्त का देवता भी 'शची' को माना गया है।[२४] इस प्रकार शची ऋषि है और देवता भी।

(ख) ऋषियों या राजाओं से सम्बद्ध

१. अगस्त्यस्वसा

ऋ. १०/६०/६ की ऋषिका 'अगस्त्य स्वसा' कही गयी है। गोपायन ऋषि के तीन पुत्र-बन्धु, श्रुतबन्धु और विप्रबन्धु बारह मन्त्रों के ऋ. १०/६० सङ्ख्यक सूक्त के सम्मिलित ऋषि हैं। जबकि उनकी माता, जो अगस्त्य की बहिन है, छठे मन्त्र की द्रष्ट्री है। इस मन्त्र में इक्ष्वाकुवंशीय असमाति राजा देवता है। इनसे कहा गया है कि 'अगस्त्य ऋषि को आनन्दित करने वाले उसके बन्धु-बान्धवों के लिए अपने दो वेगवान् लाल अश्वों को रथ में जोतो।'[२५] अगस्त्य और बन्धुओं के सन्दर्भ से अगस्त्यस्वसा का ऋषित्व उपपन्न होता है। अन्यत्र इसकी चर्चा ही नहीं है।

२. अपाला आत्रेयी

ऋ. ८/९१ की ऋषिका 'अपाला आत्रेयी' कही गयी है। उसने सात मन्त्रों में इन्द्र की स्तुति की है। अन्तिम मन्त्र में 'अपाला' नाम का प्रयोग हुआ है। प्रथम मन्त्र में उसके लिए 'कन्या' पद का उल्लेख है, जिसे पानी लाने के लिए नदी की ओर बढ़ते समय संयोग से सोमवल्ली का एक टुकड़ा मिल जाता है, जिससे वह इन्द्र की पूजा करने का विचार करती है। वस्तुतः इस सूक्त का दर्शन करने वाली अपाला[२६] त्वचा के रोग से पीड़ित एक भाग्यहीना कन्या है। सायण द्वारा प्रदत्त गाथा के अनुसार वह पति द्वारा

परित्यक्त महिला थी और पिता के पास रहती थी । कन्या अपाला की इन्द्र में बड़ी श्रद्धा थी, परन्तु पिता की गरीबी के कारण वह कुछ भी करने में असमर्थ थी । उसने सुन रखा था कि इन्द्र सोम-पान के प्रेमी है । इसलिए जब उसे सोम-वल्ली मिली, तो उसने इन्द्र को अर्पण करने के लिए उसे निचोड़ा । योग्य साधनों के अभाव में उसने अपनी दाढ़ों से ही रस निकाला और इस छोटे से स्तोत्र की रचना करके सोम रस का पान करने के लिए इन्द्र का आवाहन किया । स्तोत्र सुनकर इन्द्र एक वीर युवक के वेष में आ पहुँचे, किन्तु अपाला उन्हें पहचान न पाई और 'क्या ये सचमुच इन्द्र हैं ? इसी दुविधा में पड़ी रही । अन्त में वह इन्द्र को पहचानने में समर्थ हुई और उसने उनसे वर माँगा कि उसके पिता के गंजे सिर के साथ-साथ त्वचा रोग के कारण लोमहीन बने, उसके अवयवों पर भी बाल पैदा हों और उनकी ऊसर भूमि भी उर्वरा बने । इसके बाद इन्द्र ने उस कन्या को त्वचा के रोग से मुक्त करके सूर्य के समान दीप्तमती त्वचा प्रदान की । आर्षानुक्रमणी, सर्वानुक्रमणी और बृहद्‌देवता में अपाला को 'अत्रि मुनि की सुता' बताया गया है ।[२७] सूक्त में प्राप्त कथा से अपाला में मानुषी ऋषिकन्या की प्रतीति होती है।

३. शश्वती आङ्‌गिरसी

ऋ. ८/१/३४ की ऋषिका 'शश्वती आङ्‌गिरसी' कही गयी है । मन्त्र में 'शश्वती नारी' पदों का प्रयोग हुआ है ।[२८] इस मन्त्र का देवता 'आसङ्ग' है । बृहद्‌देवता के अनुसार इस ऋचा में अङ्‌गिरस की पुत्री 'शश्वती' ने पत्नी के रूप में रहते हुए अपने पति की स्तुति की है ।[२९] आर्षानुक्रमणी आदि ग्रन्थों के अनुसार शश्वती प्रयोग-पुत्र 'आसङ्‌ग' की पत्नी है ।[३०] सायण ने नारी से 'भार्या' अर्थ लेकर उसको 'पत्नी' बतलाया है। इस मन्त्र से पहले प्लायोनि आसङ्‌ग के ही मन्त्र हैं । अतः 'शश्वती' से मानुषी ऋषिका का ग्रहण समीचीन प्रतीत होता है ।

४. घोषा काक्षीवती

ऋ. १०/३९ और १०/४० की ऋषिका 'काक्षीवती घोषा' बतायी गयी है । इन चौदह-चौदह मन्त्रों के दोनों सूक्तों में 'अश्विनौ' की स्तुति है । बृहद्‌देवता में घोषा की कथा विस्तार से दी गयी है –[३१] कक्षीवत् की पुत्री घोषा एक पाप-रोग से अपंग हो गयी । प्राचीनकाल में वह साठ वर्षों तक

अपने पिता के घर में रही। उसे अत्यन्त चिन्ता हुई कि "बिना पुत्र अथवा पति के मैं वृथा ही जरा अवस्था को प्राप्त हो गयी। अतः मैं 'शुभस्पती' की शरण में जाऊँगी। जैसे मेरे पिता ने उनकी आराधना करके यौवन, आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य और सर्वभूतहन् विष प्राप्त किया था, उसी प्रकार मैं, उनकी पुत्री भी रूप और सौभाग्य प्राप्त कर सकती हूँ, यदि मुझे अश्विनौ को सन्तुष्ट करने वाले मन्त्र प्राप्त हो जायें।" जब वह इस प्रकार चिन्तन कर ही रही थी कि उसने 'यो वां परि -' से आरम्भ होने वाले दो सूक्तों का दर्शन किया। मन्त्रों में अश्विनौ नासत्यौ के सामर्थ्य और गुणों का गान करते हुए उसने उन्हें प्रसन्न किया। अश्विनौ ने उसे जराविहीन, रोगरहित और सुन्दर बना दिया एवं उसे पति तथा सुहस्त्य नामक ऋषि भी पुत्र के रूप में प्रदान किया।' ऋ. १०/४१ अश्विनौ के लिए घोषा-पुत्र सुहस्त्य का सूक्त है। शौनक ने ब्रह्मवादिनी के रूप में घोषा का प्रथम स्थान पर उल्लेख किया है। २८ मन्त्रों की द्रष्ट्री होने से घोषा का ऋषिका रूप अपेक्षाकृत उत्कृष्ट माना जाता है। घोषा वैदिक नारी के व्यक्तित्व के कई पक्षों पर प्रकाश डालती है, यथा– स्वतन्त्रता, बौद्धिक सम्पन्नता और पति एवं पुत्र की स्पृहा।

५. जुहू ब्रह्मजाया

ऋ. १०/१०६ की ऋषिका 'जुहू ब्रह्मजाया' कही गयी है। बृहद्देवता के अनुसार विश्वदेवों को समर्पित सात मन्त्रों के इस सूक्त को ब्रह्मजाया जुहू ने गाया है।[३२] किन्तु आर्षानुक्रमणी के अनुसार इस सूक्त की ऋषिका जुहू ब्रह्मजाया है अथवा ब्राह्म ऊर्ध्वनाभा।[३३] इसी प्रकार सर्वानुक्रमणी में भी वैकल्पिक ऋषित्व की बात की गयी है। द्रष्टव्य है कि जुहू जिसे वैकल्पिक ऋषिका बताया गया है, ब्रह्म की पत्नी है और ऊर्ध्वनाभा जिसे वैकल्पिक ऋषि बताया गया है, ब्रह्म का पुत्र है। सूक्त के प्रत्येक मन्त्र में 'ब्रह्मजाया' का किसी न किसी रूप में वर्णन हो रहा है, अतः उसे इस सूक्त का 'देवता' होना चाहिए था। विशेष बात है कि अथर्ववेद (५/१७) में ये मन्त्र प्राप्त होते हैं; जहाँ इनका ऋषि 'मयोभू' है और देवता 'ब्रह्मजाया'। ब्रह्मजाया का ऋषित्व विचारणीय है। सायण और सातवलेकर ने 'ब्रह्म' से 'बृहस्पति' का ग्रहण करके 'जुहू' को उसकी पत्नी माना है। इस प्रकार जुहू का स्त्री-ऋषित्व सन्दिग्ध रूप में उपपन्न होता है, क्योंकि इससे किसी व्यक्ति विशेष का बोध सहज नहीं है।

६. रोमशा ब्रह्मवादिनी

ऋ. १/१२६/७ सङ्ख्यक एक मन्त्र की ऋषिका 'रोमशा' कही जाती है । मन्त्र में वक्त्री द्वारा स्वयं को 'रोमशा' कहा गया है अर्थात् रोमयुक्ता या प्रौढ़बुद्धिमती ।[३४] सर्वानुक्रमणी के अनुसार छठे मन्त्र में 'स्वनय भावयव्य' नामक राजा ऋषि है और वह रोमशा से अपनी बात कह रहा है, अतः 'रोमशा' देवता है । जब कि सातवें मन्त्र में रोमशा ऋषि है जो अपने पति से बात कर रही है, इसलिए 'भावयव्य' देवता है । इन मन्त्रों में भावयव्य और उसकी पत्नी रोमशा का संवाद है और 'यस्य वाक्यं स ऋषिः' के अनुसार रोमशा अपने कथनरूप मन्त्र की ऋषिका है । मात्र एक मन्त्र की द्रष्ट्री होने पर भी वह ऋग्वेद में राजा से सम्बद्ध एक महत्त्वपूर्ण स्त्री-ऋषि है, जो अपने वाक्य द्वारा नारी के मौलिक चिन्तन और स्वाभिमान को व्यक्त करती है –'हे पति ! मेरे पास आकर मेरी सलाह ले । तू मेरे कामों को छोटा मत समझ ।...मैं सब जगह रोमवाली हूँ अर्थात् छोटी नहीं हूँ, प्रौढ़ बुद्धिवाली हूँ ।' सायण ने उसे 'ब्रह्मवादिनी' कहा है[३५] और शौनक ने बृहद्देवता में बताया है कि बृहस्पति ने रोमशा नामक अपनी पुत्री राजा भावयव्य को प्रदान की थी । शाकटायन के विचार में इन दो ऋचाओं में इन्द्र के सन्दर्भ में एक पति और पत्नी की कथा है ।[३६]

७. लोपामुद्रा

ऋ. १/१७९ के प्रथम दो मन्त्रों की ऋषिका 'लोपामुद्रा' है । लोपामुद्रा अगस्त्य ऋषि की पत्नी है और इन दो ऋचाओं द्वारा वह पति को अपना अभिप्राय व्यक्त करती है । तब आनन्द प्राप्त करने की इच्छा से अगस्त्य ने उसे बाद की दो ऋचाओं द्वारा सन्तुष्ट किया है । अन्तिम दो मन्त्र अगस्त्य के शिष्यों ने तप के प्रभाव से दोनों की आनन्द-प्राप्ति की इच्छा को जानकर और इन बातों को सुनना पाप समझकर प्रायश्चित करते हुए गाये हैं ।[३७] चौथे मन्त्र में 'लोपामुद्रा' नाम आया है । सूक्त का देवता 'रति' है । ऋषिका लोपामुद्रा के दाम्पत्य-सुखबोध और कामेच्छा-विषयक विचारों से वैदिक नारी के चिन्तन के व्यापक आयाम का आभास मिलता है ।

८. विश्ववारा आत्रेयी

ऋ. ५/२८ की ऋषिका सर्वानुक्रमणी में 'विश्ववारा आत्रेयी' बतायी

गयी है। आर्षानुक्रमणी में 'विश्ववारा' को 'अत्रिगोत्रजा' कहा गया है।[३८] उसने छह मन्त्रों के इस सूक्त में अग्नि देवता का स्तवन किया है। प्रथम मन्त्र में ही उसका नाम व्यवहृत हुआ है। 'देवों के प्रति स्तोत्रों से स्तुति करती हुई और हवि तथा घृत से भरी हुई स्रुवा को लेकर विश्ववारा पूर्व की ओर मुख करके अग्नि के प्रति जाती है।'[३६] यहाँ विश्ववारा द्वारा आहुति देने के प्रसंग से सांकेतिक अर्थ निकलता है कि वेद के अनुसार स्त्रियों को भी यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त है। अग्नि-स्तवन और यजन के सन्दर्भ से विश्ववारा ने वैदिक नारी की मन्त्र-दर्शन के साथ-साथ देव-यजन की क्षमता को भी प्रदर्शित किया है। द्रष्टव्य है कि 'विश्ववारा' ऋचाओं में उषादेवी का विशेषण है (ऋ. ३/६१/१) और सम्पूर्ण पञ्चम मण्डल के ऋषि 'अत्रि' हैं, अतः ऋषिका विश्ववारा को आधिदैविक दृष्टि से भी समझा जा सकता है।

(ग) अप्सरारूप

१. उर्वशी

ऋ. १०/६५ अठारह मन्त्रों का ऐल पुरूरवा और उर्वशी का संवाद सूक्त है। इसमें नौ मन्त्रों की ऋषिका उर्वशी है। जो ऋचाएँ उर्वशी द्वारा कही गयी है, उनमें वह ऋषि है और पुरूरवा देवता। शेष में ऐल पुरूरवा ऋषि है, तो उर्वशी देवता है। अतः मन्त्र की वक्ता होने से उसका ऋषित्व उपपन्न होता है। बृहद्देवता में पुरूरवा और उर्वशी की कथा दी गयी है- प्राचीनकाल में अप्सरा उर्वशी राजर्षि पुरूरवस् के साथ रही और समझौता करके उनके साथ पत्नी-धर्म का आचरण करने लगी। उर्वशी और पुरूरवा के ऐसे अनुराग को देखकर इन्द्र ने उन्हें पृथक् करने के लिए वज्र से कहा। वज्र ने अपनी माया से उनके प्रेम को भंग कर दिया। तब उर्वशी से विहीन होकर राजा पुरूरवा उन्मत्त होकर फिरने लगे। वे इस प्रकार घूम रहे थे, तो उन्होंने एक तालाब के पास सखियों के साथ उर्वशी को देखा। जब राजा ने लौटने को कहा, तब उसने उत्तर दिया, 'अब तुम यहाँ नहीं, अपितु स्वर्ग में ही मुझे प्राप्त कर सकोगे।'[४०] ऋग्वैदिक पुरूरवा-उर्वशी-संवाद में संवाद भले ही उनके प्रेमी-प्रेमिका रूप को दर्शाते हैं, किन्तु उनसे 'उर्वशी' के पार्थिव कन्या रूप का सर्वथा निराकरण हो जाता है। 'अन्तरिक्षप्राम्' और 'रजसो विमानीम्' विशेषणों[४१] से वह 'जलसंचारिणी' अर्थात् अप्सरा ज्ञात होती है।

'पुरूरवा' को 'वसिष्ठ' बताया गया है। दोनो का स्वरूप नितान्त रहस्यमय और विचारणीय है। ऋषिका के रूप में 'उर्वशी' की उद्भावना का आधार उसका संवाद में भाग लेना ही है। उसका व्यक्तित्व वैदिक नारी के दृढ़ विश्वास और निर्णय-कुशलता का प्रकाशक है।

२. शिखण्डिन्यौ काश्यपी

ऋ. ९/१०४ की ऋषि शिखण्डिनी नामक कश्यप की दो अप्सरा-पुत्रियाँ अथवा पर्वत काण्व और नारद काण्व बताये गये हैं। इस प्रकार ये दोनों सम्मिलित ऋषिकाएँ वैकल्पिक ऋषित्व में आती हैं। यह पवमान सोम का सूक्त है और अधिकांश में उसी को सम्बोधित है। शिखण्डिनी ऋषिकाओं का उल्लेख अन्यत्र नहीं है। इन मन्त्रों में भी उनका नाम नहीं मिलता है, न ही पर्वत और नारद का नाम आया है। अतः अनुक्रमणी-ग्रन्थों में इन दो सम्मिलित ऋषिकाओं को ऋषिनिर्धारण के अन्तर्गत विकल्प में रखने का कोई आधार चिन्तन से सर्वथा परे है। मन्त्र-प्रणयन आदि में दो ऋषियों के समकक्ष ही हैं–दो ऋषिकाएँ, इस संकेत से वैदिक दृष्टि में नर-नारी के समभाव का अभिप्राय अवश्य ग्रहणीय है।

(घ) मनुष्येतर-प्राणिरूप

१. सरमा देवशुनी

ऋ. १०/१०८ सङ्ख्यक सरमापणि-संवाद सूक्त के छह मन्त्रों की ऋषिका देवशुनी सरमा कही गयी है। इस सूक्त में पणियों का सरमा के साथ संवाद वर्णित है। इसलिए जो मन्त्र सरमा की उक्ति के रूप में हैं, उनकी ऋषिका 'सरमा' है। जो मन्त्र पणियों की उक्ति के रूप में हैं, उनमें देवता 'सरमा' है। पणि देवों के शत्रु थे। उन्होंने इन्द्रादि देवों के सोमपान के लिए आवश्यक दूध प्रदान करने वाली गायों को चुराकर छिपा दिया था। गायों के अन्वेषण के लिए देवों ने सरमा नाम की अपनी कुतिया को दूती बनाकर भेजा। उसने पणियों के स्थान का पता लगाया और उन्हें देवों की चुरायी हुई गायों को लौटाने की सलाह दी। पहले पहल पणियों ने रिश्वत देकर सरमा को अपने वश में करना चाहा। बाद में उसे डराने-धमकाने की खूब कोशिश की, फिर भी सरमा टस से मस नहीं हुई। इन्द्र के दूतकार्य को सरमा ने निष्ठापूर्वक निभाया। पणियों के द्वारा बहिन बनाये जाने के प्रस्ताव

से भी वह विचलित नहीं हुई। बृहद्देवता में सरमापणि-कथा का विवरण दिया गया है।[४२] स्पष्ट ही देवशुनी सरमा का ऋषित्व संवाद में भाग लेने से ही है, पर स्त्री-ऋषि के रूप में वह एक सफल दूतकार्यसंपादिका सिद्ध होती है।

२. गोधा

ऋ. १०/१३४ के सातवें मन्त्र की ऋषिका 'गोधा' है। सायण ने इसे ब्रह्मवादिनी कहा है। सामवेद (१७६) में भी इस मन्त्र की ऋषि 'गोधा' को बताया गया है। मन्त्र में देवों को सम्बोधित करते हुए वर्णन है कि 'हम किसी भी कर्म में शैथिल्य या उदासीनता नहीं करते हैं। हम मन्त्र और श्रुति के अनुसार आचरण करते हैं। हम स्तोत्र और हवि से इस यज्ञकर्म का सम्पादन करते हैं।'[४३] मन्त्र या सूक्त में 'गोधा' नाम नहीं आया है। बृहद्देवता में एक स्थान पर इस शब्द से 'घड़ियाल' का अर्थ लिया गया है।[४४] कपिलदेव शास्त्री ने 'गोधा' को मनुष्येतर प्राणि-रूप ऋषियों में उल्लिखित किया है।[४५] 'गोधा' के देव या मनुष्यवाची ऋषित्व के किसी भी संकेत के अभाव में इसे मनुष्येतर प्राणी मानना समीचीन प्रतीत होता है। विशेष बात है कि स्त्री-ऋषि के रूप में उसने कर्मदृढ़ता और यज्ञनिष्पत्ति के प्रति अपना समर्पण व्यक्त किया है।

३. सार्पराज्ञी

ऋ. १०/१८९ की ऋषिका 'सार्पराज्ञी' है। सूक्त में तीन गायत्री मन्त्र हैं। सूक्त का देवता वह स्वयं या सूर्य है।[४६] बृहद्देवता के अनुसार सार्पराज्ञी ही देवता है, क्योंकि यहाँ उसने अपने लिए गायन किया है।[४७] शौनक ने भिन्न मत भी उद्धृत किया है; जिसके अनुसार सूर्य देवता है या फिर वाक् देवता है। ऋषिका के रूप में सार्पराज्ञी का स्वरूप न इन मन्त्रों से व्यक्त होता है और न अन्यत्र किसी से। किन्तु अपने नाम से यह मनुष्येतर प्राणधारी में ऋषित्व की वैदिक धारणा का उदाहरण प्रतीत होती है।

(ङ) अचेतन-पदार्थरूप

१. नद्यः

ऋ. ३/३३ के चार मन्त्र (४,६,८,१०) की ऋषिका 'नद्यः' अर्थात् नदियाँ हैं। यह सूक्त विश्वामित्र और नदियों के बीच वार्तालाप के रूप में

है, इसलिए जिन मन्त्रों में नदियों ने 'ऋषि' को सम्बोधित किया है, उनकी ऋषिका 'नद्यः' और देवता विश्वामित्र है। अन्यत्र 'नद्यः' देवता हैं। मन्त्रों के प्रतिपाद्य से स्पष्ट होता है कि इसमें पानी द्वारा प्रदेशों को तृप्त करती हुई[४८] भौतिक नदियों का ही अभिप्राय ग्राह्य है। संवाद में भाग लेने से ही अचेतन नदियों का ऋषित्व उपस्थापित हुआ है। बहुवचनान्त शब्द से वे सम्मिलित ऋषिकाएं मानी जानी चाहिए। विपाट्, शुतुद्री, सिन्धु आदि कुछ नदी-नामों के प्रयोग के साथ यहाँ विश्वामित्र ने नदियों की महिमा का गान किया है। ऋषि ने विवरण को संवाद-शैली द्वारा रोचक रूप प्रदान किया है। तृतीय मण्डल के ऋषि विश्वामित्र के होने से यहाँ 'नद्यः' में ऋषिका रूप का आरोपण माना जाना चाहिए, क्योंकि वे मन्त्र-द्रष्ट्रियों के अर्थ में ऋषिकाएँ नहीं है।

२. रात्रिः

ऋ. १०/१२७ के ऋषि कुशिक सौभर या रात्रि भारद्वाजी बताये गये हैं। सात मन्त्रों के इस सूक्त का देवता 'रात्रि' है। यहाँ लगभग प्रत्येक मन्त्र में रात्रि को सम्बोधन है अथवा उसका स्वरूप वर्णित है। भरद्वाजपुत्री रात्रि को वैकल्पिक ऋषित्व प्रदान किया गया है, जो विचारणीय है। भरद्वाज से रात्रि का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं हो पाता है, पर इतना निश्चित है कि यहाँ 'रात्रि' वैयक्तिक ऋषि-नाम न होकर भौतिक रात्रि की प्रतिनिधि ऋषिका ही है। उसे उषा की बहिन और द्यु की दुहिता कहना एवं निद्रा, अन्धकार आदि से उसका सम्बन्ध बताना– इस तथ्य तक पहुंचने के आधार हैं।

३. दक्षिणा

ऋ. १०/१०७ में दक्षिणा प्राजापत्या को विकल्प से ऋषिका और देवता दोनों माना गया है। सूक्त में यज्ञ में दी जाने वाली दक्षिणा अथवा दक्षिणा देने वालों की महिमा का वर्णन है। अतः प्रजापतिरूप यज्ञ से सम्बद्ध दक्षिणा की इस सूक्त में प्रशंसा होने से वह देवता है और ऋषि भी। विकल्प से दिव्य आङ्गिरस का ऋषित्व कहा गया है। जिस पर कुछ कहना कठिन है। परन्तु 'दक्षिणा' ऋषिका कोई स्त्री-ऋषि नहीं, यज्ञ में दी जाने वाली दक्षिणा ही है, जो आख्यान की दृष्टि से यज्ञरूप प्रजापति की पुत्री के रूप में परिकल्पनीय रही है। बृहद्देवताकार के मत में इस सूक्त में दक्षिणा प्राजापत्य ने अपनी स्तुति की है।[४९]

(च) अमूर्त-तत्त्वरूप

१. वाक् आम्भृणी

ऋ. १०/१२५ की ऋषिका 'वाक् आम्भृणी' कही गयी है ।[५०] सर्वानुक्रमणी में उसे ही देवता बताया गया है कि यहाँ वाक् ने स्वयं अपनी स्तुति की है ।[५१] निरुक्त की दृष्टि में 'वागाम्भृणीयम्' सूक्त आध्यात्मिक ऋचाओं का उत्कृष्ट उदाहरण है । वस्तुतः इस सूक्त में मन्त्रद्रष्ट्री ने सर्वगत परमात्मा के रूप में अपना प्रतिपादन करके सर्वजगत्रूप एकाधिष्ठाता का वर्णन किया है । वाक् नाम्नी ब्रह्मविदुषी अम्भृण महर्षि की दुहिता है– ऐसा भाष्यकार सायण मानते हैं । किन्तु कहीं भी 'आम्भृणी' विशेषण से 'वाक्' का 'अम्भृण' के साथ पिता-पुत्री सम्बन्ध व्यक्त नहीं हो पाता है । निघण्टु में 'अम्भृण' को महान् का पर्याय बताया गया है।[५२] ऋग्वेद में 'अम्भृणम्' शब्द का केवल एक बार प्रयोग हुआ है ।[५३] जहाँ सायण ने शब्दार्थक √भ्रण् से व्युत्पन्न मानकर इससे 'अतिभयंकर शब्द करने वाला' या 'महान्' अर्थ लिया है । वाक् को शब्द की अधिष्ठात्री और महती महिमामयी होने से 'आम्भृणी' कहना संगत प्रतीत होता है। 'वाक्' कुछ दूसरी ऋचाओं की देवता भी हैं, जहाँ उसके ब्रह्मत्व का सूक्ष्म वर्णन हुआ है - वाणी के चार स्थान नापे गये हैं, जो मनीषी हैं, वे उनको जानते हैं इत्यादि ।[५४] स्पष्ट ही 'वाक्' से अमूर्त वाणी अभिप्रेत है, जो ऋग्वेद में विशिष्ट देवता है और ऋषिका भी । वेलणकर ने माना है कि "यह हाड़मांस की कन्या न होकर ऋषि की मानी हुई पुत्री यानी स्तुतिरूपा वाणी है, जो समूचे विश्व का आधार बनी हुई दैवी वाक् के रूप में प्रस्तुत सूक्त की अधिष्ठात्री देवता है ।"[५५]

२. श्रद्धा कामायनी

ऋ. १०/१५१ की ऋषिका श्रद्धा कामायनी मानी गयी है ।[५६] यह पाँच मन्त्रों का एक छोटा सा सूक्त है, इसलिए 'श्रद्धा' ही सूक्त की देवता भी है । आर्षानुक्रमणी में श्रद्धासूक्त की ऋषिका 'श्रद्धा कामायनी मुनि' को कहा गया है ।[५७] कामायनी से भाष्यकार सायण ने उसे 'कामगोत्रजा' अर्थात् काम के गोत्र में होने वाली माना है ।[५८] श्रद्धा एक अति प्रशंसनीय उदात्त भाव है, उसकी प्रशंसा और कामना सूक्त का प्रतिपाद्य है । श्रद्धा भाव का उदय उसके प्रति निष्ठापूर्वक कामना से सम्भव है– यदि इस रूप में 'कामायनी'

विशेषण को ग्रहण किया जाये, तो सूक्त की ऋषिका और देवता का एकत्व 'श्रद्धा द्वारा श्रद्धा के आवाहन' के अभिप्राय में सुसंगत प्रतीत होता है। यह काम से उत्पन्न श्रद्धा निस्सन्देह श्रद्धाभावना ही है- मन्त्रार्थ इसमें प्रमाण है।[५९]

(छ) खिलसूक्तों की ऋषिकाएँ

बृहद्देवता में ऋग्वेद की मन्त्रद्रष्ट्रियों के परिगणन में पाँच ऐसे नाम हैं, जिनको खिलसूक्तों या खिलमन्त्रों की ऋषिकाएँ कहा गया है- उपनिषद्, निषद्, श्री, लाक्षा और मेधा। इनमें प्रथम दो ने 'प्रधारयन्तु मधुनो घृतस्य' से आरम्भ होने वाली खिल की सात ऋचाओं का दर्शन किया है और देवता की स्तुति की है; तो श्री[६०], लाक्षा[६१] और मेधा[६२] ने 'आत्मा' का गायन किया है, अतः वे ऋषि भी हैं और देवता भी।[६३]

निष्कर्ष

ऋग्वेद में प्राप्त इन तीस ऋषिकाओं के स्वरूप और अवस्थिति के आलोचनात्मक विश्लेषण से कई महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आते हैं :

(१) स्त्री-ऋषि या ऋषिका की अवधारणा का सम्बन्ध देवों, अप्सराओं, ऋषियों, मनुष्यों, मनुष्येतर प्राणियों, अचेतन पदार्थों और अमूर्त भावों से रहा है। इनकी परिकल्पना सदा मानवीय व्यक्तियों को लेकर नहीं हुई है। केवल कुछ प्रसंगों में ये ऋषि या ऋषिकाओं के वैयक्तिक नाम प्रतीत होते हैं, विशेषकर जब ये किसी ऋषि या राजा की माता, पत्नी या कन्या बतायी जाती हैं। अगस्त्यस्वसा, अपाला, घोषा, रोमशा, लोपामुद्रा, शश्वती और जुहू–इसी कोटि की स्त्री-ऋषि हैं, जिनके साथ किसी ऋषि या राजा का सम्बन्ध अनुक्रमणी-ग्रन्थों में दर्शाया गया है और मन्त्रों में उसके संकेत भी हैं।

(२) ऋग्वेद में ऋषियों के समान ही ऋषिकाओं की स्थिति भी स्वतन्त्र ऋषि और वैकल्पिक ऋषि– दोनों प्रकार से रही है। अदिति दाक्षायणी, शिखण्डिन्यौ, रात्रि भारद्वाजी और जुहू ब्रह्मजाया को वैकल्पिक ऋषित्व प्राप्त है।

(३) नाम के बहुवचनान्त रूप द्वारा कुछ बार एक साथ कई ऋषिकाओं के सम्मिलित ऋषित्व को बताया गया है, यथा - इन्द्रमातरः और नद्यः। द्विवचनान्त पद द्वारा एक साथ शिखण्डिनी नामक दो अप्सराओं के ऋषित्व को प्रदर्शित किया गया है।

(४) द्रष्टा और द्रष्टव्य का एकीकरण करते हुए कुछ ऋषिकाओं ने

अपने द्वारा दृष्ट मन्त्रों में अपना ही स्तवन किया है अर्थात् वे समान मन्त्रों की ऋषि और देवता हैं, जैसे - शची, सूर्यासावित्री (कुछ मन्त्रों की), सार्पराज्ञी (विकल्प से), दक्षिणा, वाक्, श्रद्धा, रात्रि ।

(५) कुछ ऋषिकाएँ दूसरे ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों की देवता हैं, जैसे- इन्द्राणी, अदिति, यमी, रोमशा, उर्वशी, सरमा और नद्यः । अपने द्वारा दृष्ट मन्त्र में ऋषि और देवता होने के अतिरिक्त 'वाक्' कुछ दूसरे ऋषियों के मन्त्रों की देवता भी है । यह अधिकतर संवाद-सूक्तों में हुआ है ।

(६) ऋग्वैदिक ऋषिकाओं से सम्बद्ध सूक्त ही अधिकांश में रोचक वैदिक आख्यानों और संवादात्मक पुराकथाओं से समलंकृत हैं अथवा उनके बीजरूप हैं । पुरूरवा-उर्वशी, शश्वती-आसंग, नदी-विश्वामित्र, यम-यमी, सरमा-पणि, इन्द्र-अदिति, अगस्त्य-लोपामुद्रा, रोमशा-भावयव्य, इन्द्र- इन्द्राणी-वृषाकपि आदि के ऋषित्व वाले सूक्त इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं । सूर्या, घोषा और अपाला के सूक्तों का आख्यानात्मक महत्त्व सबसे बढ़कर है ।

(७) यद्यपि ऋग्वैदिक ऋषिकाओं में से कुछ को ही वैयक्तिक स्त्री-ऋषि के रूप में ग्रहण करके वैदिक नारी की बौद्धिक परिपक्वता, मौलिक सर्जनशीलता और स्त्री-प्रज्ञा का प्रतिनिधि माना जा सकता है, तथापि मन्त्रद्रष्ट्री के रूप में माता (इन्द्रमातरः), पुत्रवधू (इन्द्र-स्नुषा), बहिन (अगस्त्यस्वसा), पुत्री (घोषा काक्षीवती), पत्नी (शश्वती नारी) आदि नारी के सम्बन्धवाची पदों के प्रयोग को देखकर सुनिश्चित हो जाता है कि वैदिक दृष्टि में नारी अपने सभी रूपों में मन्त्रद्रष्ट्री और बौद्धिक कार्यों की साधिका हो सकती है। वेद उसकी योग्यता के प्रति पूर्णतया आश्वस्त है । पुरुष के समकक्ष ही गम्भीर चिन्तनकार्यों में उसके सामर्थ्य को जानकर वहाँ ऋषि और देवता के रूप में स्त्रीतत्त्व की अवधारणा की गयी है। अतः ऋग्वैदिक ऋषिकाओं का विश्लेषण वैदिक नारी के सजग व्यक्तित्व और सर्वविध योगदान को संकेत रूप में प्रतिबिम्बित करता है ।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च ।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः ।। *ऋग्वेदभाष्यभूमिका*, सायण ।

२. एवम् उच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति । नि. ७/३.

३. ऋषिर्दर्शनात् । स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः । नि. २/११.
४. तद् यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवंस्तद् ऋषीणाम् ऋषित्वम्। नि. २/११.
५. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः । नि. १/२०.
६. *ऋक्सर्वानुक्रमणी* २/४-५.
७. यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति । नि. ७/१; अर्थमिच्छन्नृषिः । बृ.दे. १/६.
८. संवादेष्वाह वाक्यं यः स तु तस्मिन्भवेदृषिः ।
यस्तेनोच्येत वाक्येन देवता तत्र सा भवेत् ।। बृ.दे. २/८८.
९. बृ. दे. २/८२-८४; *आर्षानुक्रमणी* १०/१००-१०२.
१०. नवकः प्रथमस्त्वासां वर्गस्तुष्टाव देवताः ।
ऋषिभिर्देवताभिश्च समूदे मध्यमो गणः ।।
आत्मनो भाववृत्तानि जगौ वर्गस्तथोत्तमः ।
उत्तमस्य तु वर्गस्य य ऋषिः सैव देवता ।। बृ.दे. २/८५-८६.
११. सर्वानुक्रमणी-'आत्मदैवतम्' इत्यादि देवतानिर्देश में ।
१२. इन्द्रस्य मातरो यास्ता ऋषयो देवजामयः ।
ईङ्खयन्तीरिति...। *आर्षानुक्रमणी* १०/७६.
ईङ्खयन्तीर्देवजामय इन्द्रमातरः । ऋ.सा.भा. १०/१५३; *सर्वानुक्रमणी*।
१३. ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते ।
भेजानासः सुवीर्यम् ।। ऋ. १०/१५३/१.
१४. यज्ञं परोक्षवत्प्राह श्वशुरो नागतो मम । बृ.दे. ७/३१.
ममेदह श्वशुरो ना जगाम । ऋ. १०/२८/१.
इन्द्रस्य स्नुषा परोक्षवदिन्द्रमाह । *सर्वानुक्रमणी* ।
१५. वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी । ऋ. १०/८६/१०.
१६. ऋ. १/२२/१२, २/३२/८,१०/८६.
१७. सप्तानामर्धर्चानां तथादितिः । *आर्षानुक्रमणी* ४/३.
१८. ऋ. १०/१८५.
१९. बृ.दे. ७/११९-१३७.
२०. सावित्री चैव सूर्या च सैव पत्नी विवस्वतः ।
स्तुता वृषाकपायीति उषा इति च योच्यते ।। बृ.दे. ७/११९-२०.

२१. उदसौ त्वस्य पौलोमी शची नाम मुनिः स्मृतः । *आर्षानुक्रमणी* १०/८२.
२२. पौलोमी स्वान्गुणांस्तत्र सपत्नीनां च शंसति । बृ.दे. ८/६३.
२३. अहं केतुरहं मूधा..। ऋ. १०/१५६/२.
२४. उदसौ षट् पौलोमी शच्यात्मानं तुष्टाव । *सर्वानुक्रमणी*.
२५. अगस्त्यस्य नद्भ्यः सप्ती युनक्षि रोहिता । ऋ. १०/६०/६.
२६. प्रा.ह.दा. वेलणकर, *ऋक्सूक्तवैजयन्ती*, पूणें, १६६५, पृ. २६४; *बृहद्देवता* ६/६६-१०७ में विस्तार से अपाला की कथा दी गयी है।
२७. अपालात्रिसुता त्वासीत् । बृ.दे. ६/६६.
आत्रेयी अपाला । *सर्वानुक्रमणी*.
अपाला नाम कन्येति सूक्तस्यात्रेः सुता मुनिः । *आर्षानुक्रमणी* ८/३६.
२८. शश्वती नार्यभिचक्ष्याह । ऋ. ८/१/३४.
२६. बृ. दे. ६/४०.
३०. *आर्षानुक्रमणी* ८/५.
३१. आसीत्काक्षीवती घोषा पापरोगेण दुर्भगा ।
उवास षष्टिं वर्षाणि पितुरेव गृहे पुरा ।।
आतस्थे महतीं चिन्तां न पुत्रो न पतिर्मम ।
जरां प्राप्तां मुधा तस्मात् प्रपद्येऽहं शुभस्पती ।।
...भर्तारं ददतुस्तस्यै सुहस्त्यं च सुतं मुनिम् ।। बृ.दे. ७/४२-४७.
३२. तेऽवदन्वैश्वदेवं तु ब्रह्मजाया जुहूर्जगौ । बृ.दे. ८/३६.
३३. तेऽवदन्निति सूक्तस्य ब्रह्मजाया जुहूर्मुनिः ।
.अथवोर्ध्वनाभा नाम ब्रह्मपुत्रः ऋषिः स्मृतः । *आर्षानुक्रमणी* १०/५१-५२.
३४. उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः ।
सर्वाहमस्मि रोमशा...। ऋ. १/१२६/७.
३५. रोमशा नाम ब्रह्मवादिनी । ऋ.सा.भा. १/१२६/७.
३६. प्रादात्सुतां रोमशां नाम नाम्ना बृहस्पतिर्भावयव्याय राज्ञे । बृ.दे. ३/१५५.
३७. बृ.दे. ४/५८-५६; *सर्वानुक्रमणी* ।
३८. समिद्धो अग्निरित्यस्मिन् विश्ववारात्रिगोत्रजा । *आर्षानुक्रमणी* ५/१५.
३६. एति प्राची विश्ववारा नमोभिः । ऋ. ५/२८/१.
४०. बृ.दे. ७/१४७-१५२.
४१. अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीम् । ऋ. १०/६५/१७.

४२. बृ.दे. ८/२४-३६.
४३. ...नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ।
पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि सं रभामहे ।। ऋ. १०/१३४/७.
४४. उत्तरा त्वभवद्गोधा । बृ.दे. ६/१०६.
४५. कपिलदेवशास्त्री, *वैदिक ऋषि : एकपरिशीलन*, कुरुक्षेत्र,१९७८,पृ. १२२.
४६. सार्पराज्ञी आत्मदैवतं सौर्यं वा । *सर्वानुक्रमणी*.
सार्पराज्ञी मुनिः स्मृतः । *आर्षानुक्रमणी* १०/९८.
४७. आयं गौरिति यत्सूक्तं सार्पराज्ञी स्वयं जगौ । बृ.दे. ८/८६.
४८. एना वयं पयसा पिन्वमानाः । ऋ. ३/३३/४.
४९. आत्मानमेव तुष्टाव प्राजापत्याथ दक्षिणा । बृ.दे. ८/२२.
५०. आम्भृणी नाम वागृषिः । *आर्षानुक्रमणी* १०/६२.
५१. अहमष्टौ वागाम्भृणी तुष्टावात्मानं द्वितीया जगती । *सर्वानुक्रमणी*.
५२. नि. ७/२; निघ. ३/३.
५३. पिशङ्गभृष्टिमम्भृणं पिशाचिम् । ऋ. १/१३३/५.
५४. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
ऋ. १/१६४/४५; ८/१००/१०-११ इत्यादि.
५५. वेलणकर, *ऋक्सूक्तवैजयन्ती*, पृ. ४२३.
५६. श्रद्धया श्रद्धा कामायनी । *सर्वानुक्रमणी*.
५७. अस्य श्रद्धा कामायनी मुनिः । आर्षानुक्रमणी १०/७८.
५८. कामगोत्रजा श्रद्धा नामर्षिका । ऋ.सा.भा. १०/१५१.
५९. श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः । ऋ. १०/१५१/१.
श्रद्धे श्रद्धापयेह नः । ऋ. १०/१५१/५.
६०. ऋ. ५/८७ के बाद के खिल या श्रीसूक्त की ऋषि ।
६१. खिल की ऋषि; तुलनीय, ऋ. ८/५१.
६२. ऋग्वेद १०/१५१ के बाद के खिल या मेधासूक्त की ऋषि ।
६३. बृ.दे. २/८२-८६.

[**The Kalyana Kalpataru**, Gita Press, Gorakhpur, Woman Number, Vol. XLI, 1995, pp. 23-28 **में संक्षिप्त और इंगलिश में अनूदित रूप में प्रकाशित ।**]

* * *

नासदीयसूक्त

ऋग्वैदिक आर्यों के गम्भीर एवं सूक्ष्म तात्त्विक चिन्तन से ओतप्रोत दार्शनिक सूक्तों में नासदीय सूक्त का एक विशिष्ट स्थान है। यह आर्यों की अदृष्ट के प्रति अनुसन्धान की प्रवृत्ति और गूढ़ रहस्य की प्रातिभ अनुभूति की पराकाष्ठा है। यह सृष्ट्युत्पत्ति-विषयक जटिल विषय का प्रौढ़ प्रतिपादक है। नासदीय सूक्त वैदिक आर्यों के अलौकिक तत्त्व के साक्षात्कार के फलस्वरूप उद्भूत हुए मौलिक सिद्धान्तों का संसूचक है। जगत्सृष्टि की प्रागवस्था, सृष्टि-उत्पत्ति का मूलतत्त्व, उसके उद्भव का क्रम, अद्वैततत्त्व की प्रतिष्ठा और वेद की परम प्रमाणता– इसके मुख्य प्रतिपाद्य हैं। अपनी उदात्त सरलता और दार्शनिक दृष्टिकोण के चरमोत्कर्ष में यह सूक्त प्राचीनतम युग के दर्शन का सम्भवतः सर्वाधिक प्रशंसनीय भाग है। इसकी व्याख्याएँ विविधतया की गयी हैं; पर निस्सन्देह कोई भी व्याख्या इसके अन्तर्निहित सत्य एवं सौन्दर्य को पूर्णतया प्रतिबिम्बित नहीं कर सकी है। इसे यदि मानवजाति की प्रथम, श्रेष्ठतम और उत्कृष्ट दार्शनिक उद्भावनाओं का परिचायक कहा जाये, तो अत्युक्ति न होगी।

ऋषियों ने ऋग्वेदसंहिता में यत्र-तत्र जगत् के मूल कारण और आरम्भ के विषय में प्रश्न उपस्थापित किये हैं। दशम मण्डल के कतिपय पूरे-पूरे सूक्तों में दार्शनिक विचारों को अभिव्यक्त किया गया है। हिरण्यगर्भ सूक्त (ऋ. १०/१२१) में कौतुकाक्रान्त ऋषि ने पूछा है कि किस देव के लिए हम हवि का विधान करें ? हिरण्यगर्भ ही प्राणियों का एकमात्र स्वामी तथा स्वर्ग और पृथिवी का आश्रय है। पुरुषसूक्त (ऋ. १०/९०) ने विराट् पुरुष का प्रतिपादन किया है– जो यह सब कुछ है तथा जो विश्व को चारों ओर से अभिव्याप्त

करके उससे भी ऊपर अवस्थित है। ऋ. १०/८२ में विश्वकर्मा की महिमा-गान के साथ जल को मूलतत्त्व या प्रधान कारण कहा गया है। ऋ. १०/१२५ सङ्ख्यक वाक्सूक्त में वाक् का देवताओं की सहचरी या धारिका के रूप में वर्णन है और उसे सभी धार्मिक कार्यों और उनके आनुषंगिक प्रसाद की आधारभूत बताया गया है। जगत् की उत्पत्ति और उसके कारण के गहन शोध के इसी क्रम में नासदीय सूक्त (ऋ. १०/१२६) एक आदर्श सूक्त है, जो सृष्टि-उत्पत्ति- परक अधिक गम्भीर और महत्त्वपूर्ण, किन्तु कठिन चिन्तन को प्रस्तुत करता है। इसमें स्पष्ट रूप में समझ में न आने वाली बातों की संख्या इतनी अधिक है, कि यह सम्भवतः सर्वाधिक रहस्यमय सूक्त है। इसमें आदितत्त्व और सृष्टि के आरम्भ के उपन्यास के साथ-साथ उससे सम्बद्ध अनेक आशंकाएँ भी अभिव्यक्त की गयी हैं। कुछ पारिभाषिक शब्द अर्थगाम्भीर्य के कारण भिन्न-भिन्न अभिप्रायों को प्रकट करने में सक्षम हैं, और वेदार्थ को दुर्विज्ञेय बनाकर सूक्त की जटिलता को घनीभूत करते हैं। वस्तुतः नासदीय सूक्त की उत्कृष्टता का सूत्र भी इन सभी तथ्यों में समाहित है।

'नासदासीत्' से प्रारम्भ होने के कारण सूक्त का अधिक प्रचलित नाम 'नासदीय सूक्त' है। यह ऋग्वेद के भाववृत्त-चतुष्टय में से अन्यतम सूक्त है। इसमें त्रिष्टुप् छन्द में बद्ध कुल सात मन्त्र हैं। इसके **भाववृत्तम्** रूप देवता का निर्देश शौनक की आर्षानुक्रमणी, कात्यायन की सर्वानुक्रमणी, शौनक के बृहद्देवता आदि में किया गया है। कात्यायन की 'या तेनोच्यते, सा देवता'[1]—परिभाषा के अनुसार 'भाववृत्तम्' ही इस सूक्त का प्रतिपाद्य है। अतः इसमें 'भावों का वृत्त' अर्थात् वियत् (आकाश) आदि भावों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का वृतान्त प्रस्तुत किया गया है। सायणाचार्य के अनुसार भावों का कर्ता परमात्मा इसका देवता है; जब कि 'भाववृत्तम्' नाम से व्यक्त होता है कि इसमें सत्ता और सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है।[2]

नासदीय सूक्त का ऋषि **परमेष्ठी प्रजापति** निर्दिष्ट है। अतः परम स्थान में बैठने वाला (परमेष्ठी) और प्रजाओं का उत्पादक (प्रजापति) ऋषि इसका मन्त्रद्रष्टा है। परमस्थान में स्थित प्रजापति की चर्चा सूक्त के अन्तिम भाग में की गयी है -'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्।' सूक्त में प्रतिपादित सत्यधर्मों का द्रष्टा या ज्ञाता और कोई नहीं, द्रष्टव्य या ज्ञातव्य ही है, जो परमेष्ठी या स्वयंभू है। वह है– सत्, असत्, मृत्यु, अमृत आदि द्वन्द्वों

से परे, उनसे पूर्व अवस्थित। परमेष्ठी ही वह अव्यक्त तत्त्व है, जो अनन्तर व्यक्त होकर सृष्ट प्रतीत होता है। व्यक्त कार्यजगत् के उद्भव को उसके अतिरिक्त कौन देख सकता है ? अतः द्रष्टव्य और द्रष्टा के समीकरण के रूप में इस सूक्त के ऋषितत्त्व की अवधारणा को समझा जा सकता है।

नासदीय सूक्त के प्रतिपाद्य की रहस्यमयता और महत्ता के कारण इस सूक्त की बहुविध और सर्वाधिक व्याख्याएँ की गयी हैं। यह सूक्त तैत्तिरीयब्राह्मण[३] में सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध होता है। सायणाचार्य ने ऋग्वेद और ब्राह्मण में इस सूक्त की व्याख्या अलग-अलग तरह से की है। ऋग्वेदीय नासदीय सूक्त पर वेङ्कटमाधव का प्राचीन भाष्य भी मिलता है। कीथ, मैकडॉनल, ग्रिफिथ, विलसन, लुई रेनू, मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों के अतिरिक्त स्वामी दयानन्द, डा. राधाकृष्णन्, डा. वासुदेवशरण अग्रवाल[४], पं. मधुसूदन ओझा, श्री हरिदामोदर वेलणकर[५], सातवलेकर, श्री अरविन्द आदि भारतीय विद्वानों की व्याख्या या विचार भी इस सूक्त पर प्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं। इन सबके आधार पर दार्शनिक दृष्टि से इस सूक्त के निहितार्थ के अवबोधन का प्रयत्न यहाँ किया जा रहा है।

१. सृष्टि-उत्पत्ति की पूर्वावस्था

सूक्त के प्रारम्भ में सृष्टि की उत्पत्ति से पहले की अवस्था का वर्णन निषेधात्मक और प्रश्नात्मक शैली में किया गया है। प्रागवस्था का संकेतक पद है 'तदानीम्'। तीसरे मन्त्र में 'एक' की उत्पत्ति की चर्चा से स्पष्ट हो जाता है कि उससे पहले की अवस्था का चित्रण ही पूर्व के ढ़ाई मन्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्य है। 'सृष्टि' को छठे मन्त्र में 'विसृष्टि' कहने से उसकी विविधरूपता और प्रपञ्चात्मकता द्योतित होती है, अतः उससे विपरीत इस प्रागवस्था को 'निरस्तसमस्तप्रपञ्चरूपा' कहना सर्वथा सम्भव है। जब पूर्वसृष्टि विलीन हो चुकी थी, उत्तर सृष्टि हुई नहीं थी,महाप्रलयावस्था थी, व्यक्त अव्यक्त में लय हो चुका था, उस अवस्था में क्या था अथवा वह अवस्था कैसी थी, यह स्पष्टरूप में बतलाना कदापि सम्भव नहीं है, क्योंकि वह अवस्था 'अव्यक्त अवस्था' है। जिन तथ्यों को हम प्रत्यक्ष, अनुमान या किसी भी प्रमाण से जान सकते हैं, उन सबकी स्थिति का निषेध करके उस प्रागवस्था के चित्रण की चेष्टा भर की जा सकती है। 'नेति नेति' वैदिक ऋषि की विशिष्ट व्याख्या पद्धति ही है।

सर्वप्रथम कहा गया है कि उस समय 'असत्' नहीं था और 'सत्' भी नहीं था। 'असत्' और 'सत्' सांख्य दर्शन, वेदान्त दर्शन और श्रीमद्भगवद्गीता में प्रयुक्त तत्त्ववाचक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द हैं। ऋग्वेद में भी इनका प्रयोग दार्शनिक और सृष्टिसम्बद्ध प्रसंगों में हुआ है।[६] उनको ही आधार बनाकर यदि इन शब्दों के निहितार्थ को जानने का प्रयत्न किया जाये, तो ज्ञात होता है कि वेद की दृष्टि में 'असत्' पहले है और 'सत्' बाद में हुआ है तथा असत् से सत् की उत्पत्ति हुई है। ऋ. १०/७२/३ में **असतः सदजायत** अर्थात् 'असत् से सत् प्रादुर्भूत हुआ है' कहा गया है।[७] नासदीय सूक्त के 'सतो बन्धुमसति निरविन्दन्' अर्थात् 'सत् का बन्धक असत् में ढूँढ़ लिया'– कथन में इसी तथ्य का संकेत है। असत् निरुपाख्य तत्त्व है। यह नामरूप से वर्जित है। असत् जगत् के मूलकारण का वाचक है। 'सत्' नामरूप से विशिष्ट, स्पष्ट रूप से प्रतीयमान, कार्यरूप 'जगत्' का वाचक है। सृष्टि की पूर्वावस्था में दिखायी देने वाला यह कार्यरूप जगत् नही था और न ही इसका कारण था।[८] असत् और सत् के निषेध से सदसद्विलक्षण अनिर्वाच्य 'माया' तत्त्व का स्वतः निराकरण हो जाता है। मूल या परम कारणतत्त्व एकमात्र ब्रह्म है, इसलिए 'असत्' से उसका और 'सत्' से उसकी प्रकृति का बोध वासुदेवशरण अग्रवाल के मत से सहमत होते हुए किया जा सकता है। 'सदासद्वाद' के प्रतिपादन द्वारा सृष्टि की प्रागवस्था को कार्य और कारण से सर्वथा विरहित बताया गया है।

रजस्, व्योमन् और उससे 'जो पर'– इनका निषेध मन्त्र के द्वितीय पाद का प्रतिपाद्य है। 'रजस्' लोक हो सकते हैं, रजोगुण हो सकता है या फिर हो सकता है– सृष्ट्युत्पत्ति का आदिम भौतिक तत्त्व। इसे उपलक्षण मानकर पृथिवी आदि समस्त लोक, सत्त्व-रज-तम गुणत्रय और आदि बीज का निषेध अभिप्रेत है। 'व्योमन्' से आकाश आदि पञ्च भूतों का निराकरण ग्राह्य है। 'पर' इस सबके अतिरिक्त अपर पदार्थ या फिर इससे कुछ भी उत्कृष्ट पदार्थ को द्योतित कर उनकी सत्ता का उस अवस्था में अभाव बताता है। सायणाचार्य के अनुसार इस मन्त्रांश द्वारा चतुर्दश भुवन से सम्पन्न ब्रह्माण्ड का ही स्वरूपतः निषेध बताया गया है। डॉ. अग्रवाल ने रजोवाद, व्योमवाद और परावरवाद के सन्दर्भ यहाँ ग्रहण किये हैं।

मन्त्र के तृतीय पाद में तीन प्रश्न रखे गये हैं - किसने या किसको

आवृत किया हुआ था ? कहाँ ? किसकी शरण में ?[९] ये तीनों सामान्य प्रश्न आवरण के सम्बन्ध में हैं । पुराणों में महत्तत्त्व आदि आवरक तत्त्व के रूप में प्रसिद्ध हैं । किन्तु वेदमन्त्र आक्षेप द्वारा क्रमशः आवरक तत्त्व, उसके आधारदेश और उसके निमित्त का निषेध कर रहा है । आवार्य के अभाव के साथ-साथ आवरक की भी नितान्त असत्ता थी । भोग्य और भोक्तृ रूप व्यावहारिक 'सत्' नहीं था ।

आवरणसहित ब्रह्माण्ड के निषेध के अनन्तर मन्त्र के अन्तिम पाद में दुष्प्रवेश और अगाध जल के अस्तित्व के विषय में प्रश्न रखा गया है– 'क्या उस समय अगाध और गहरा जल विद्यमान था ?'[१०] तैत्तिरीयसंहिता आदि के श्रुतिवाक्य प्रारम्भ में 'सलिलम् आपः' की अवस्थिति का उल्लेख करते हैं ।[११] यहाँ मन्त्र आक्षेप द्वारा सृष्टि की प्रागवस्था में 'अम्भस्' की सत्ता का निषेध ही कर रहा है । श्रुति में विरोधपरिहार की दृष्टि से भाष्यकारों ने जल की आदिम सत्ता की चर्चा को अवान्तर-प्रलय-विषयक प्रतिपादित किया है । इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व असत् और सत् की सत्ता के अभाव की व्याख्या करते हुए मन्त्र ने स्वयं ही सभी अन्य भावी विचारधाराओं का निराकरण कर के यह सिद्ध कर दिया है कि वह अव्यक्त अवस्था सर्वथा अचिन्तनीय, अवर्णनीय और शून्यरूप थी ।

२. 'तत् एकम्' की अवस्थिति

'तदानीम्' अर्थात् सृष्टि की उस पूर्वावस्था का चित्रण द्वितीय मन्त्र में भी किया गया है । वह प्रतिसंहार काल था । व्यक्त अव्यक्त में विलीन हो चुका था । कार्यवर्ग कारणवर्ग में समाहित हो चुका था । किसी भी प्रकार की द्वन्द्वात्मकता नहीं थी । केवल 'एक' ही तत्त्व सर्वत्र व्याप्त था, जो 'तत्' नाम से सर्वप्रसिद्ध है ।[१२] वह वात का अस्तित्व न होने के कारण बिना वात के **स्वधा** से श्वासोच्छ्वास कर रहा था ।[१३] श्वासोच्छ्वास का अभिप्राय है कि वह चैतन्य, क्रियाशील या अस्तित्ववान् था, परन्तु बिना प्राणवायु के । यही वह तत्त्व है जिसे उपनिषद् में बिना प्राण के प्राणन करने वाला कहा गया है ।[१४] 'स्वधा' शब्द बहु-अर्थवाची है - स्वेच्छा, प्रेरणा, स्वयं, शक्ति, माया, प्रकृति, स्वभाव आदि सभी अर्थों से वह 'एक' तत्त्व सर्वसमर्थ, स्वतन्त्र, अद्वितीय और प्रकृतिसमवेत सिद्ध होता है । वेदान्त दर्शन के अद्वैतसिद्धान्त

के अनुसार अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व अपने निरुपाधिक रूप में माया या प्रकृति से अविभागापन्न होता है; जिसे श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढम्' कहा गया है।[१५] मन्त्र उसी अवस्था का वर्णन कर रहा है जब ब्रह्म या पर कारण से अव्याकृत प्रकृति अभेदावस्था में थी। इस प्रकार के एक तत्त्व के अतिरिक्त कुछ भी भिन्न या पर उस समय नहीं था।[१६] संहारक मृत्यु, मृत्यु की अभावरूप अमरता, सूर्यचन्द्र आदि काल के चिह्न किंवा काल आदि का प्रत्याख्यान मन्त्र के पूर्वार्द्ध में करके ऋषि ने 'व्यक्त' की सत्ता के सभी अधिकरणों का निषेध पहले ही कर दिया है।[१७] मृत्यु और अमृत का सह अस्तित्व होता है। प्रथम का सम्बन्ध भूतजात से है, तो द्वितीय का देववर्ग से। डा. अग्रवाल ने द्वितीय मन्त्र के आधार पर अमृत-मृत्युवाद और अहोरात्रवाद का व्याख्यान किया है।

तृतीय मन्त्र का पूर्वार्द्ध सृष्टि की पूर्वावस्था को एक ऐसी अभेदावस्था के रूप में चित्रित करता है, जिसमें सब कुछ एक रूप था - 'प्रारम्भ में तमस् से गूढ़ तमस् था।'[१८] आवरण करने वाला भी 'तमस्' था और जिसे आवरण किया जा रहा था, वह भी 'तमस्' था। **तमस्** सामान्य अन्धकार न होकर आच्छादकरूप वह मूल अज्ञान है, जिसे अविद्या, माया या प्रकृति कहते हैं, वह ब्रह्म को आवृत करती है इसलिए 'तमस्' है। जगत्रूप कार्य भी तमस् है, क्योंकि वह उससे उत्पन्न होता है। उस अवस्था में यह जगत् माया में गूढ़ था, जैसे वृक्ष बीज की अदृश्य अणिमाशक्ति में छिपा रहता है या घट मिट्टी में छिपा रहता है। यह परिदृश्यमान जगत् जिसे 'इदम्' कहते हैं, उस समय अपने कारण से संगत था।[१९] उससे पृथक् करके नहीं जाना जा सकता था।[२०] इसीलिए 'अप्रकेत सलिल' से उसकी उपमा दी गयी है[२१] - 'यह सब कुछ अप्रज्ञात सलिल जैसा था।' सृष्टि की प्रागवस्था में कारण और कार्य अथवा आवरक और आवार्य अथवा माया और जगत् अथवा कर्ता और कर्म का ऐसा तादात्म्य था कि दोनों को एक नाम से अभिहित करने के अतिरिक्त शाब्दिक वर्णन का कोई अन्य प्रकार सम्भव नहीं है। शब्दावली की परिमितता से अवगत वैदिक ऋषि ने असीम की ससीमरूप में अनुपम प्रस्तुति की है।

३. 'तत् एकम्' का 'आभु' होना

तृतीय मन्त्र का उत्तरार्ध कई गूढ़ शब्दों को सरल वाक्य में प्रस्तुत

करके कहता है - "जो 'आभु' था, वह 'तुच्छ्य' से आवृत था; वह 'एक' 'तपस्' की महिमा से प्रादुर्भूत हो गया।"[२२] सृष्टि-उत्पत्ति की पूर्वावस्था के चित्रण के बाद **सृष्टि-उत्पत्ति की प्रथम अवस्था** को प्रतिपादित किया गया है। 'आ समन्तात् भवति इति आभु' व्युत्पत्ति के अनुसार 'आभु' वह तत्त्व है, जो 'प्रादुर्भूत होने वाला' है। यह 'तुच्छ' अर्थात् तुच्छसदृश सदसद्विलक्षण अज्ञानरूप कारण तमस् से आवृत था। 'आभु' सृष्टिरूप कार्य को बनाने वाला वह तत्त्व है, जो प्रारम्भिक अवस्था में कारण से आच्छादित होकर एकरूप था। जिसे पहले ही बिना हवा के प्राणन करने वाला तत्त्व कहा जा चुका है, वही 'तत् एकम्' अपने ज्ञानमय तपस् की महिमा से कार्यरूप में उत्पन्न हो जाता है। यही है–हिरण्यगर्भसूक्त का हिरण्यगर्भ और पुरुषसूक्त का विराट् को अधिकरण बनाने वाला पुरुष। इससे ही व्यक्त जगत् होता है। व्यक्त होने पर भी वह अपने पारमार्थिक रूप में परम कारण या अद्वितीय ब्रह्म ही रहता है। इस प्रकार नासदीय सूक्त ने सृष्टि की उत्पत्ति की पहली कड़ी के रूप में कारण की कार्यरूपता का प्रतिपादन किया है। यही अव्यक्त का अंशतः व्यक्त होना है। **तपस्** सायण की दृष्टि में स्रष्टव्य का पर्यालोचन है, जो सर्वदा सर्वत्र सर्जन की मूल अपेक्षा है। दूसरी दृष्टि से इसे तपस्या अथवा ऊर्जा अथवा ऊष्मा का नाम माना जा सकता है। यह 'तपस्' का माहात्म्य ही था कि वह 'एकमेव आभु' अपने सामर्थ्य से प्रकट हो सका। उपनिषदों में सर्वज्ञ के ज्ञानरूप तपस् का उल्लेख हुआ है।[२३] पुरुषसूक्त में पुरुष के चतुर्थांशरूप एक पाद से विविधरूपा सृष्टि और त्रिपाद की द्योतनात्मक स्वरूप में अवस्थिति द्वारा जो तथ्य स्पष्टरूप में कहा गया है[२४], यहाँ वही सांकेतिक रूप में ग्राह्य है। 'आसीत्' और 'अजायत' पदों से सांख्य का सत्कार्यवाद सूचित होता है कि कारण में विद्यमान कार्य ही व्यक्त होता है, अर्थात् असत् से ही सत् का प्रादुर्भाव होता है। 'तपसः महिना' से चेतनकारणवाद का संकेत मिलता है।

४. आभु में 'काम' का उदय

चतुर्थ ऋचा में सृष्टि-उत्पत्ति की **अगली अवस्था** का वर्णन है– तब प्रारम्भ में काम उत्पन्न हुआ, जो मन का प्रथम रेतस् था।[२५] सभी प्राणियों के अन्तःकरण में समवेत बीजभूत भाव 'काम' है, जो सभी मानवीय

चित्तवृत्तियों और व्यवहारों का हेतु है।[२६] किसी भी सर्जन या कार्य से पूर्व उसकी इच्छा मन में उत्पन्न होती है। इसलिए इसको मन का उत्पादक बीज कहा गया है। इस सम्पूर्ण विकाररूप सृष्टि के मूल में भी 'काम' की सत्ता का औचित्य है। अतः मन्त्र में सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व 'काम' के प्रादुर्भाव का निर्देश किया गया है। मन्त्र से स्पष्ट नहीं होता कि यह 'काम' किसके मन में उत्पन्न हुआ। परन्तु चूंकि पिछले मन्त्र में 'अजायतैकम्' द्वारा उस एक ब्रह्मतत्त्व का 'आभु' रूप में प्राकट्य उल्लिखित किया जा चुका है, इसलिए उसी 'एकमेव आभु' में सृष्टि के निर्माण की अभिलाषा का उदय हुआ - यही निहितार्थ समीचीन प्रतीत होता है। तैत्तिरीयारण्यक में ब्रह्म के 'तपस्' और 'काम' की व्याख्या हुई है।[२७] 'एकोऽहं बहु स्याम्' रूप ब्रह्म की सिसृक्षा का उपनिषदों में भी प्रतिपादन हुआ है। ब्रह्म की यह सिसृक्षा अथवा कामना ही वह महनीय तत्त्व है, जिसको असत् में सत् का बन्धक हेतु माना जाना चाहिए।[२८] असत् से सत् उत्पन्न हुआ, किन्तु क्यों ? उसका बन्धनहेतु क्या रहा? चतुर्थ मन्त्र के अनुसार वह 'काम' है। 'सत्' है– प्रतीयमान व्यक्तरूप भूत-भौतिकरूप जगत् और 'असत्' है– अव्याकृत कारण। इन दोनों में विद्यमान रहे बन्धनहेतु कामतत्त्व का पता अपने हृदय में बुद्धि से विचार करके क्रान्तद्रष्टा प्रतिभासम्पन्न कवियों ने लगाया है, अन्यथा इसे और कौन जानने में समर्थ हो सकता है ? अदृष्ट और अगम्य सृष्टि-विषयक अनुसन्धान को अतीत, अनागत और वर्तमान के द्रष्टा ऋषियों के प्रज्ञाचक्षुओं द्वारा ही किया जा सकता है। अतः इस सम्बन्ध में मात्र श्रुति ही प्रमाण है- यह मन्त्र की स्पष्ट घोषणा है।

५. एकमेव आभु का द्वैधीभाव

सृष्टि का निर्माण करने वाला बीज तत्त्व 'काम' है, जिससे एक दो में विभाजित हो जाता है। यही 'काम' असत् से सत् को बाँधने वाला सूत्र भी है। सर्वत्र सृष्टि या उत्पत्ति के पीछे व्यावहारिक जगत् में भी अभिलाषा विद्यमान रहती है। सृष्टि-उत्पत्ति की अगली अवस्था में यह उस 'एकम्' रूप आभु के कामरूपी रेतस् का ही प्रभाव था कि वह दो भागों में विभाजित हो गया। मन्त्र में चार शब्द प्रयुक्त हुए हैं–रेतोधाः, महिमानः, स्वधा और प्रयतिः। ये सृष्टि के दो खण्डों का निर्देश कर रहे हैं। अर्थ की दृष्टि से

ये अनेकशः व्याख्यात किये जा सकते हैं । सायण ने **रेतोधाः** को रेतस् रूप बीजभूत कर्म के धारणकर्ता भोक्ता जीव और **महिमानः** को महान् आकाश आदि भोग्य पदार्थों का वाचक माना है। तदनुसार मायासहित परमेश्वर ने सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करके स्वयं उसमें प्रविष्ट होकर उसको भोक्ता और भोग्य-दो भागों में बाँट दिया। उनमें से भोग्यप्रपञ्च को ही 'स्वधा' कहकर निकृष्ट बताया गया है, क्योंकि उसकी अपेक्षा भोक्तृप्रपञ्चरूप 'प्रयति' उत्कृष्ट हुआ करता है। सातवलेकर ने कुछ भिन्न भावार्थ को ग्रहण करते हुए लिखा है कि ब्रह्म की बीज शक्ति से भोग्य और भोक्ता का एक जोड़ा पैदा हुआ और उससे ही सारी सृष्टि हुई। इनमें भोग्य निकृष्ट होने के कारण भोक्ता के अधीन है ।

तैत्तिरीयब्राह्मण के भाष्य में सायण ने भिन्न व्याख्या करते हुए द्विविधा सृष्टि का अभिप्राय नहीं लिया है, अपितु सभी सृष्ट पदार्थों को प्रकाशचैतन्य के सार को धारण करने से 'रेतोधाः' और महान् होने से महिमावान् माना है । **स्वधा** शब्द माया या अविद्या का बोधक है जो अधम कारण है और शक्तिप्रयत्नाधार परमात्मा **प्रयति** है, जो उत्तम कारण है। सायण की यह व्याख्या सांख्य के प्रकृति और पुरुष का स्मरण कराती है। दूसरे मन्त्र में 'स्वधा' शब्द ब्रह्म की अविद्या के अभिप्राय में प्रयुक्त हो चुका है, इसलिए यह अर्थ पर्याप्त उपयुक्त प्रतीत होता है। सृष्टि के दो भागों में विभाजन का मन्त्र में स्पष्ट संकेत न होने से सभी भूतभौतिक रूप पदार्थों का विवरण भी ग्रहणीय है ।

सृष्ट कार्य के दो भागों में विभाजन के तात्पर्य को श्री वेलणकर ने एक भिन्न दृष्टिकोण से स्पष्ट किया है - आधी शक्तियाँ रेतःसेक करने वाला पुरुषतत्त्व बन गयीं और शेष आधी गर्भधारण-पोषण करने वाली विशाल स्त्रीतत्त्व बन गयीं । अपने में धारण करने वाली स्वधा शक्ति नीचे थी और अपने से आगे फेंकने वाली प्रयतिशक्ति उसके ऊपर थी। इस व्याख्या का आधार बृहदारण्यकोपनिषद् को बनाया गया है।[२९] पुंस्तत्त्व और स्त्रीतत्त्व के बीच कामरूपी रश्मि खींची रहती है, जिसका मन्त्र के पूर्वार्द्ध में उल्लेख हुआ है। यह मन्त्र कई तरह से समझा जा सकता है, किन्तु जहाँ 'एक' का द्वैधीभाव 'पर' और 'अवर' शब्दों से वाच्य है, वहाँ चार शब्दों से जोड़े का प्रतिपादन भी सांकेतिक है। इसके अनन्तर हुई सृष्टि की चर्चा सूक्त

में नहीं हैं, इसलिए यहाँ तक सृष्टि का स्वरूप अवश्यमेव निर्मित हो जाना चाहिए। अतः भोक्तृ-भोग्यरूपा सृष्टि का विवरण ही सर्वाधिक समीचीन प्रतीत होता है। 'रेतोधाः' ही 'प्रयतिः' है और 'महिमानः' 'स्वधा' है। स्वधारूप माया का विस्तार है– भोग्यप्रपञ्च और रेतस् को धारण करने वाले 'आभु' रूप अद्वितीय ब्रह्म का ही स्वरूप हैं– समस्त जीव। इन दोनों में जीवरूप परमात्मा उत्कृष्ट है और उसकी प्रकृतिरूप माया अवर है। दोनों संयुक्त होकर ही सृष्टि को साकार करते हैं। सृष्टि के अवान्तर विभाग इनके क्रमिक विस्तारमात्र हैं, इसलिए नासदीय सूक्त में उनकी चर्चा नहीं है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त और हिरण्यगर्भसूक्त में सृष्टि के विस्तार की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

६. सृष्टि-उत्पत्ति में शीघ्रता

कारण से कार्य की उत्पत्तिरूप सृष्टि के उल्लेख से पूर्व 'आभु' और उसमें काम का उदय बताया गया है। 'काम' की उत्पत्ति के बाद ही आभु का द्वैधीभाव निर्दिष्ट है, जो समग्र सृष्टि को द्वन्द्वात्मक रूप में प्रस्तुत कर देता है। प्रश्न स्वाभाविक है कि इस विशाल उत्पत्ति का क्रम क्या रहा ? उपनिषदों और आरण्यकग्रन्थों में क्रमप्रतिपत्ति आदि के जो निर्देश हुए हैं[३०]– उनका क्या औचित्य है ? नासदीय सूक्त ने इस जिज्ञासा की सम्भावना का शमन सृष्टि के प्रतिपादन से पहले ही पञ्चम मन्त्र के पूर्वार्द्ध में कर दिया है - **रश्मि** अर्थात् विद्युत् के प्रकाश के समान सृष्टि ऊपर, नीचे और मध्य में सर्वत्र इतनी शीघ्रता से एक साथ व्याप्त हुई कि उसका क्रम दुर्लक्ष्य ही रहा। इसलिए पहले कहाँ हुई[३१]–यह प्रश्न अनावश्यक है। तात्पर्य है कि असत्रूप कारण से सत्रूप कार्य की उत्पत्ति शीघ्रता से हुई, जो स्वरूपतः सर्वत्र विस्तृत है।

७. सृष्ट कार्य में चैतन्य कारण की अवस्थिति

पञ्चम मन्त्र का पूर्वार्द्ध भिन्न व्याख्या के आधार पर एक मौलिक प्रश्न उपस्थापित कर रहा है और आक्षेप द्वारा उसका उत्तर भी दे रहा है। 'रश्मि' सूर्यरश्मि के समान स्वयंप्रकाशरूप चैतन्य का वाचक है। वह चैतन्यरूप परमात्मा जगत् के सभी पदार्थों में विद्यमान है। उसे नामरूपात्मक कार्य में जहाँ भी देखना चाहें, वह वहाँ है। वस्तुतः कार्य का उपादान कारण कार्य

में सर्वत्र उपस्थित होता है, क्योंकि वह अपने मूल रूप में कारण से अभिन्न होता है। जैसे घट का उपादानभूत मृत्पिण्ड घट के सब भागों में होता है, उसी प्रकार पदार्थों के उपादान कारण कार्यों में परिव्याप्त होते हैं। अतः रश्मिरूप चैतन्य कहाँ था ? यह प्रश्न उसकी सर्वत्र अवस्थिति का संकेतक है। 'असति सतो बन्धुं निरविन्दन्' की व्याख्या के रूप में यही तथ्य ग्रहणीय है। 'रेतोधाः' पद द्वारा भी सृष्ट कार्यों में सर्वत्र बीजभूत रेतस् की सत्ता प्रतिपादित की गयी है।

८. सृष्टि का अध्यक्ष

सूक्त के सप्तम मन्त्र में सृष्टि या इस कार्यरूप जगत् के अध्यक्ष का वर्णन है - **यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्** अर्थात् 'जो इसका स्वामी परम व्योम में।' 'अस्य' से परिदृश्यमान भूतभौतिकरूप जगत् ही अभिप्रेत है, क्योंकि उसको देखने वाला 'ब्रह्म' इसका अध्यक्ष है। ऋग्वेद में अन्यत्र 'द्वा सुपर्णा' नाम से उदासीन द्रष्टा या साक्षी के रूप में परम तत्त्व का उल्लेख है,[३२] जो उससे असम्पृक्त रहकर देखता भर है। पुरुषसूक्त में 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः'[३३] –कहकर संसाररहित और ब्रह्मस्वरूप त्रिपात्पुरुष की जिस ऊर्ध्व स्थिति का उल्लेख हुआ है, वह इसके समकक्ष है। स्रष्टा अध्यक्ष उत्कृष्ट आकाशवत्निर्मल स्वप्रकाश में अथवा निरतिशय आनन्दस्वरूप में अथवा देश, काल और वस्तु से अपरिछिन्न विशिष्ट ज्ञानात्मा में प्रतिष्ठित रहता है। वह परमार्थतः उससे असम्पृक्त और उत्कृष्ट है।

९. सृष्टि का धारक

जगत्सर्जन दुर्विज्ञेय और दुर्धर है। इस विसृष्टि स्वरूप वाले कार्य का उपादान कारण ही इसका स्रष्टा है और धारक भी है। **यदि वा दधे यदि वा न** अर्थात् 'धारण करता है तो वही, नहीं धारण करता है तो वही' –कहकर सप्तम मन्त्र में एक ओर स्रष्टा को उपादान कारण बताया गया है और दूसरी ओर उसे ही सृष्टि का एक मात्र धारक भी कहा गया है। गीता में श्रीकृष्ण के 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' उद्घोष के समान यह मन्त्र सृष्टि और स्थिति के नियामक के रूप में उसके अध्यक्ष को ही निर्दिष्ट कर रहा है। सप्तम मन्त्र द्वारा इस तथ्य को बल मिलता है कि उस एक तत्त्व के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में किसी का भी सामर्थ्य नहीं है।

१०. सृष्टिविद्या का ज्ञाता

भोक्तृ-भोग्यरूपा विविधा या विरुद्धा सृष्टि की उत्पत्ति-विषयक प्रारम्भिक कड़ियों पर प्रकाश डालने के अनन्तर छठे मन्त्र में सृष्टिविद्या की गूढ़ता, रहस्यमयता और दुर्विज्ञेयता का प्रतिपादन प्रश्नों को उपस्थापित करके किया गया है - 'कौन वस्तुतः जानता है और कौन भली-भांति कह सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से और किस कारण से हुई है ? देव इस जगत्सृष्टि के बाद हुए, इसलिए यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई, उसे कौन जानता है?'[३४] मन्त्र पूर्वप्रतिपादित सृष्टि-उत्पत्ति-सम्बन्धी मीमांसा पर प्रश्नचिह्न नहीं लगा रहा है, अपितु वह स्पष्ट करना चाहता है कि इस सम्बन्ध में दूसरी सम्भावनाओं या आशंकाओं का कोई औचित्य नहीं है । यह सृष्टिविद्या किसी प्राणी के ज्ञान या वर्णन का विषय प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा नहीं हो सकती है । **देवाः** अर्थात् दिव्यशक्तियों अथवा विद्वानों की शक्ति भी सृष्टि के उपादान कारण और निमित्त कारण को जानने में किसी प्रकार सफल नहीं हो सकती है, क्योंकि वे स्वयं सृष्टि के अनन्तर हुए हैं और उसी का हिस्सा हैं । कोई भी अपने से पूर्व विद्यमान को साक्षात् कैसे जान सकता है ? अथवा उसको कैसे बता सकता है ?

परवर्ती दर्शनों में सृष्टिविज्ञान को लेकर अनेक सिद्धान्त परिकल्पनीय हुए । कणाद, गौतम आदि के सिद्धान्तों के अनुसार परमाणु, कपिल आदि के मत में स्वतन्त्र अचेतन प्रधान तत्त्व, माध्यमिक आचार्यों की दृष्टि में शून्य आदि की जगत्सृष्टि के मूल कारण के रूप में उत्प्रेक्षा की गयी । ऋग्वेद के तत्त्वज्ञान से उद्भूत ही हैं – परवर्ती दर्शनों के ये सब सिद्धान्त; किन्तु यहाँ वेद का निर्देश है कि इस विषय में 'इदम् इत्थम्' नहीं मान लेना चाहिए। यह तत्त्व **परम गूढ़** और रहस्यमय है और वेद द्वारा ही जाना जा सकता है । 'वेद' परम ज्ञान है, इसका द्रष्टा या ज्ञाता ही इसको जानता है और जो ज्ञातव्य है–वह भी वही है । यहाँ ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय का अभेद प्रतिपादन सांकेतिक है । जब 'कार्य' मूलतः कारण है, तब उसको जानना कारणतत्त्व को जानना ही है । इसलिए कर्म और कर्ता अथवा ज्ञातव्य और ज्ञाता का समीकरण रहस्यमयता का आधार है । यजुर्वेद के परमात्मासूक्त में 'तदासीत्' कहकर[३५] जो तादात्म्य वर्णित है, वही यहाँ ग्राह्य है । सूक्त के द्रष्टा ऋषि की परिकल्पना की सुसंगति तभी सम्भव है, जब उसे ही सृष्टि के ज्ञाता के

रूप में समझा जाये। नासदीय सूक्त में सृष्टि-उत्पत्ति-विषयक तत्त्वमीमांसा के चरमबिन्दु पर पहुंच कर अन्तिम पाद में आशंका के साथ कहा गया है 'जानता है तो वह, अथवा वह भी नहीं जानता है।'[३६] असत् में विद्यमान रहे सत् के इस रहस्य को परमेष्ठी अध्यक्ष के अतिरिक्त कोई भी पूर्णतया नहीं जान सकता है। इस प्रतिपादन के साथ संशय या आशंका से ध्वनित होता है कि सम्भवतः वह भी नहीं जानता है। उसे 'ज्ञाता' कहना उसे ज्ञातव्य से पृथक् करना होगा, जो तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अनुचित है। 'एकम्' तत्त्व ही 'आभु' हो रहा है, फिर वही सत्ता में आ रहा है अर्थात् अव्याकृत से व्याकृत हो रहा है। अभेदज्ञान कराने के उद्देश्य से ही वेद ने शाब्दिक असमर्थता के वशीभूत होकर प्रश्नात्मक और निषेधात्मक प्रस्तुतिविधान का आश्रय लिया है। यहाँ परमार्थतत्त्व के सम्बन्ध में वेद की परमप्रमाणता और ज्ञानरूपता स्वतःसिद्ध हो जाती है।

११. नासदीयसूक्त और परवर्ती दार्शनिक सिद्धान्त

सृष्टि-विद्या भारतीय दर्शन की सभी चिन्तन-धाराओं का महत्त्वपूर्ण विषय है। ऋग्वेद समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों का आदिस्रोत है। अतः स्वाभाविक है कि नासदीयसूक्त में प्रतिपादित अद्भुत और अनुपम सृष्टि-रहस्य का प्रभाव अवान्तरकालीन दार्शनिक सिद्धान्तों पर पड़ा हो। इनमें वेदान्त दर्शन का सुप्रतिष्ठित अद्वैत सिद्धान्त द्वितीय और तृतीय मन्त्रों में 'तत् एकम्' में अन्तर्निहित है, तो सांख्यदर्शन का प्रसिद्ध सत्कार्यवाद तृतीय मन्त्र में तमस् के द्विधा प्रयोग में गर्भित है। उपनिषदों और आरण्यकों के कितने ही सृष्टि-विषयक विवरण इससे उद्भूत हुए हैं अथवा इससे अनुप्राणित हैं। सत्, असत्, अम्भस्, तमस्, तपस्, सलिलम्, स्वधा, कामः, रश्मिः आदि शब्दों को दार्शनिक सिद्धान्तों में पारिभाषिक शब्दावली के रूप में ग्रहण किया गया है। आवार्य और आवरण की कल्पना 'हिरण्यगर्भ' और 'प्रजापति' की अवधारणा का बीज है। सूक्त ने ज्ञाता की महत्ता का जो प्रतिपादन कवियों के अनुसन्धाता रूप के वर्णन द्वारा किया है तथा ज्ञान की जटिलता, अपरिमितता और अनिश्चितता का जो संकेत अन्तिम भाग में उठायी गयी आशंकाओं द्वारा दिया है; अनन्तर औपनिषदिक चिन्तन में उनका ही अधिकाधिक विस्तार होता गया है। पण्डित मधुसूदन ओझा और डा. वासुदेव

शरण अग्रवाल ने प्रथम और द्वितीय मन्त्र के आधार पर सदसद्वाद, रजोवाद, व्योमवाद, परावरवाद, आवरणवाद, अम्भोवाद, अमृतमृत्युवाद, अहोरात्रवाद, देववाद और ब्रह्मवाद– इन **दस वादों** का व्याख्यान किया है; जिनकी चर्चा संहिताओं और ब्राह्मणों में यत्र-तत्र हुई है। पुरुषतत्त्व और प्रकृतितत्त्व का बीज सूक्त के पञ्चम मन्त्र में उपलब्ध है, जो भारतीय दर्शनों के केन्द्रगत सम्प्रत्यय हैं। अनेक परवर्ती दार्शनिक विचारों का उपजीव्य होने से नासदीय सूक्त का वैशिष्ट्य और अधिक बढ़ गया है।

प्रस्तुत सूक्त का 'भाववृत्त' स्वरूप कई दृष्टियों से विलक्षण और अनुपम है। 'आभु' से हुए 'भाव' का द्विविध प्रतिपादन करने से पूर्व सम्पूर्णतया 'अभाव' का विश्लेषण और उससे भाव के प्रादुर्भाव का विवरण अन्ततः उसकी अनित्यता और निस्सारता को द्योतित करता है। तभी प्रपञ्चमात्र होने से भाव के विस्तार की चर्चा को अनावश्यक समझा गया है। इसके स्थान पर सूक्त ने सृष्टि-उत्पत्ति के क्रम, उसके अध्यक्ष, धारक और ज्ञाता, जैसे गहन पक्षों पर दार्शनिक दृष्टि से प्रारम्भिक, किन्तु अद्यावधि जटिल एवं सूक्ष्म चिन्तन करके जिस आर्ष दृष्टिकोण को व्यक्त किया है, उससे उसका 'भाववृत्त' नाम चरितार्थ होता है। सूक्त के शब्दों में ही अन्त में कहा जा सकता है कि इस सूक्त के 'भाव' को कोई भी परमार्थतः सत्यरूप में जानने में सफल नहीं है– 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्।'

सन्दर्भ–सङ्केत

१. *ऋक्सर्वानुक्रमणी* २/४-५.

२. यथेदमग्रे नैवासीद् असदप्यथवापि सत्।
जज्ञे यथेदं सर्वं तद् भाववृत्तं वदन्ति तु ।। बृ.दे. २/१२०.

३. तै.ब्रा. २/१/६/३-६.

४. V.S. Agrawal, *Nasadiya Sukta, A Hymn of Creation*;

५. वेलणकर, *ऋक्सूक्त-वैजयन्ती*, पूणें, १९६५.

६. असच्च सच्च परमे व्योमन्। ऋ. १०/५/७.

७. असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत। तै.उप. २/७.

८. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्। ऋ. १०/१२९/१.

९. किमावरीवः कुह कस्य शर्मन् । ऋ. १०/१२६/१.
१०. अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् । ऋ. १०/१२६/१.
११. आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् । तै.सं. ७/१/५/१.
१२. तत् त्वमसि । छा. उप. ६/८/७;
आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। ऐ.उप. २/१/१.
१३. आनीदवातं स्वधया तदेकम् । ऋ. १०/१२६/२.
१४. यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते । केन उप. १/८;
अप्राणो हि अमनाः । मु.उप. २/१/१.
१५. श्वे.उप.१/३.
१६. तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास । ऋ. १०/१२६/२.
१७. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
ऋ. १०/१२६/२.
१८. तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे । ऋ. १०/१२६/३.
१९. कारणेन सङ्गतमविभागापन्नम् । ऋ.सा.भा. १०/१२६/२.
२०. आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ।। मनु. १/५.
२१. अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् । ऋ. १०/१२६/३.
२२. तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ।। ऋ. १०/१२६/३.
२३. यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । मु.उप. १/१/६.
२४. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि । ऋ. १०/६०/३.
२५. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
ऋ. १०/१२६/४.
२६. अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः । वा.सं.; कामबन्धनमेवेदं नान्यदस्तीह बन्धनम् । महा.–तै.ब्रा. *सायणभाष्य* ।
२७. सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति सतपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च । तै.आ. ८/६.
२८. सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।
ऋ. १०/१२६/४.

२९. तस्मादेकाकी न रमते । स द्वितीयमैच्छत् । स ह एतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ । बृह.उप. १/४/३.

३०. आत्मनः आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः । तै.आ. ८/१.

३१. तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ।
ऋ. १०/१२९/५.

३२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया । ऋ. १/१६४/२०.

३३. ऋ. १०/९०/४.

३४. ओ अद्धा वेद क इह प्रवोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेना
ऽथा को वेद यत आबभूव ।। ऋ. १०/१२९/६.

३५. तदपश्यत् तदभवत् तदासीत् । यजु. ३२/१२.

३६. सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद । ऋ. १०/१२९/७.

[**भाववृत्तसूक्तचतुष्टयम्**, सं. डॉ. उर्मिला रुस्तगी, दिल्ली १९९९, पृ. ३७-५२ में **प्रकाशित** ।]

***

सृष्टितत्त्व का वेत्ता, वेद्य और वेदन
(नासदीयसूक्त के सन्दर्भ में)

ऋग्वेदीय नासदीयसूक्त के प्रारम्भिक पाँच मन्त्रों में ऋषि परमेष्ठी प्रजापति ने 'विसृष्टि' की पूर्वावस्था और उसकी क्रमिक उत्पत्ति का गम्भीर, विस्तृत और विशद विवरण प्रस्तुत करने के अनन्तर अन्तिम दो मन्त्रों में प्रश्नों और संशयों के रंग-बिरंगे प्रकाश से अध्येता की बुद्धि के अन्तर्चक्षुओं को चकाचौंध करते हुए 'सृष्टि के वेत्ता' का प्रतिपादन किया है। शब्दों की प्रस्तुति इतनी अद्‌भुत और व्यञ्जनापूर्ण है कि उससे कई उजले और धुंधले चित्र उभरते हैं। स्वाभाविक ही है कि मन्त्रों के प्रतिपाद्य को अलग-अलग बौद्धिक धरातल पर अर्थवित्ताओं द्वारा बोधगम्य किया गया हो। प्राच्य प्राचीन एवं अर्वाचीन तथा पाश्चात्य वैदिक विद्वानों की व्याख्याओं में विविधता और विरोध हैं। कभी लगता है कि रहस्य स्पष्ट हो रहा है और कभी यह कि वह तो और भी गहराई में चला गया। यही वेद की वेदता की महत्ता है कि उसकी इयत्ता का निर्देश निश्चयात्मक रूप से नहीं किया जा सकता है। समस्त वैदिक विचारधारा को ध्यान में रखते हुए नासदीय सूक्त के सन्दर्भ से वेत्ता का चिन्तन, वेद्य और वेदन के सह चिन्तन से परिपूर्ण और स्पष्ट होता है, अत एव यहाँ वैदिक प्रमाणों के आधार पर इनकी अवधारणा अध्येय है।

षष्ठ और सप्तम मन्त्रों में 'को अद्धा वेद', 'अथा को वेद यत आबभूव' और 'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद' से वेत्ता, 'अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन' से देवरूप अवेत्ता, 'कुतः', 'कुतः' और 'यतः' से वेद्य और 'वेद' के चार बार प्रयोग से वेदन का संकेत किया गया

है । ये सभी शब्द वैदिक संहिताओं और दूसरे वैदिक ग्रन्थों में बहुप्रयुक्त हैं, अतः उन-उन प्रयोगों और उनसे अभिप्रेत भावों का अन्वेषण करते हुए ही उक्त तीनों तत्त्व मीमांसायोग्य हैं ।

(क) वेत्ता

सृष्टि-प्रक्रिया अथवा सृष्टि-विद्या को जानने वाला तत्त्व 'कौन' है ? स्वाभाविक है कि भाववृत्त में भावों की उत्पत्ति से पूर्व जब असत्, सत् आदि अनेक तत्त्व निषिद्ध कर दिये गये और यह भी कह दिया गया कि कोई 'अवातम् एकम्' ही था, तो फिर सर्वसमर्थ सर्वज्ञ प्रकाशमान एवं द्योतक देवों का ज्ञाता होना कदापि सम्भव नहीं है । इसलिए मन्त्र ने स्पष्ट किया कि देवता 'देवाः' इस विसर्जन से अर्वाचीन हैं, अतः वे कदापि 'वेत्ता' नहीं हैं। **देवाः** दिव्यशक्तियों के अतिरिक्त 'विद्वान्' अथवा 'इन्द्रियाँ' भी हैं, जो विषयों का प्रकाशन करते हैं एवं उनका व्याख्यान करते हैं । ऋचा का उद्घोष है कि ऐसा कोई भी 'प्रकाशक' सृष्टि को जानने में असमर्थ है, क्योंकि इसका वेत्ता वही हो सकता है, जो इसके होने से पहले विद्यमान हो । इसका बताने वाला वही हो सकता है, जो इसको अपने समक्ष प्रादुर्भूत होते देख रहा हो। द्वितीय मन्त्र में पूर्वावस्थित इस तत्त्व को **तदेकम्** कहा गया है, जो बिना वात के 'स्वधा' से प्राणवान् अर्थात् चेतन था। इसके अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व के उस समय न होने की बात साथ ही स्पष्टतया कहकर एकमात्र 'तत् एकम्' की सत्ता को ही अवान्तर से पुष्ट किया गया है । अतः तार्किक दृष्टिकोण से नासदीयसूक्त के मत में सृष्टि का वेत्ता केवल 'तत् एकम्' है और कोई नहीं ।

प्रश्न है कि षष्ठ मन्त्र में 'को अद्धा वेद' कहकर वेत्ताविषयक जिज्ञासा पुनः क्यों उठायी गयी ? 'कः' वेद में बहुप्रयुक्त शब्द हैं । प्रश्नवाचक सर्वनाम (कौन, कोई)[1], संज्ञापद ('क' नाम) और क्रियापद (करोति-करना)[2]- तीनों रूपों में इसके प्रयोग प्राप्त होते हैं । यहाँ वाक्यविन्यास के आधार पर यह प्रथम दो रूपों में ग्रहणीय हो सकता है ।

प्रश्नवाचक सर्वनाम के अर्थ में 'कः' का प्रयोग वेद में एक साधारण बात है। 'को अद्धा वेद' अर्थात् कौन वस्तुतः जानता है ? –इस दृष्टि से यहाँ यह वाक्य एक प्रश्न उपस्थापित करता है। सृष्टि-उत्पत्ति की चर्चा के बाद इस प्रश्न का औचित्य यह जतलाना है कि इसको जानने वाला

कोई नहीं है। यह अति दुर्विज्ञेय और वर्णनातीत है। व्यञ्जना से यह संकेत अवश्य ग्रहण किया जाना चाहिए कि पहले के मन्त्रों में जो कुछ भी प्रतिपादित किया गया, उसको स्वतः प्रमाणित मानना चाहिए। उसको लेकर कोई शंका सर्वथा निर्मूल है। वेदविद्या ही वस्तुतः सृष्टिविद्या है। अतः 'को वेद' अर्थात् कौन जानता है—यह प्रश्न काकू द्वारा प्रश्न का उत्तर भी दे रहा है। समाधान कुछ इस प्रकार प्रतीत होता है कि उपर्युक्त प्रतिपाद्य में जो 'तद् एकम्' की सत्ता बतायी जा चुकी है, उसे छोड़कर सृष्टि को जानने वाला और कौन हो सकता है ? अर्थात् कोई भी अन्य वेत्ता नहीं हो सकता है, क्योंकि वही एकमात्र वेत्ता है। प्रश्न रखकर काकू द्वारा उसका उत्तर अथवा समाधान दे देना वेद की शैलीगत एक सुविदित विशेषता है। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' अर्थात् हिरण्यगर्भ को छोड़कर और किस देव की हम हवि द्वारा पूजा करें, वही परम उपासनीय है— व्याख्या में भी इसे सुष्ठ रूप से देखा जा सकता है। नासदीयसूक्त के प्रथम मन्त्र में ही 'अम्भः किमासीत् गहनं गभीरम्' प्रश्न से यह गूंज उठती है कि 'नहीं वह भी नहीं था।' एक इन्द्र-मन्त्र में जब ऋषि कहते हैं, 'प्राचीन काल से तू असुरों को मारता आ रहा है, अतः तेरे ऊपर कौन स्वामी हैं ?' तो काव्यात्मक ढंग से काकू द्वारा यही अर्थ निकलता है कि 'कोई नहीं तू ही एकमात्र परम स्वामी है।'[३] अन्यत्र जब ऋषि पूछते हैं कि जल के बीच भला कौन सा वृक्ष स्थिर रह सकता है ? तब उत्तर स्वतः ही निकलता है 'कोई भी नहीं टिक सकता।'[४] इस प्रकार 'कः' को प्रश्नार्थ में लेने पर निष्कर्ष निकलता है कि सृष्टि-तत्त्व के वेत्ता के रूप में षष्ठ मन्त्र ने पूर्वोक्त 'तत् एकम्' की ही संपुष्टि की है। उसके अतिरिक्त अन्य और कोई नहीं जानता है और न जान सकता है। इसीलिए इस सम्बन्ध में 'देवाः' भी निराकरणीय हैं।

वेद में **कः** नामपद के रूप में भी व्यवहृत हुआ है। निघण्टु में इसको मध्यमस्थानीय देवता का नाम बताया गया है और यास्क ने इसकी त्रिविध व्युत्पत्ति की है - √कम् से, √ क्रम् से या सुखवाची 'क' शब्द से।[५] तदनुसार कामियों की कामनाओं का साधन या स्वयं बहुत्व की कामना करने वाला (एकोऽहं बहुः स्याम्), सबकी गति का साधन, सुखमय अथवा सुख प्रदान करने वाला प्रजापति 'क' देव है। इसके उदाहरण-मन्त्र के लिए यास्क ने हिरण्यगर्भ-सूक्त का प्रथम मन्त्र उद्धृत किया है। अतः वे स्पष्ट रूप

से 'हिरण्यगर्भ' को प्रजापति 'क' से समीकृत कर रहे हैं । सूक्त के दशम मन्त्र में हिरण्यगर्भ को 'प्रजापति' सम्बोधन भी दिया गया है । अनेक श्रुतिवाक्य **प्रजापति** की 'क' संज्ञा का निर्देश करते हैं ।[६] कई बार 'क' से स्कन्दस्वामी,[७] उवटाचार्य,[८] महीधर,[९] सायण,[१०] दयानन्द सरस्वती[११] आदि भाष्यकारों ने प्रजापति का ग्रहण किया है और यथास्थान उससे सृष्टि की कामना करने वाले,[१२] सुखस्वरूप,[१३] सुखकारक[१४], आनन्दस्वरूप[१५] आदि का तात्पर्य लिया है ।

तैत्तिरीयब्राह्मण की एक कथा के अनुसार 'क' प्रजापति की एक संज्ञा है, जो 'क्या' के अर्थ-बोध के लिए उसको दी गयी है ।[१६] वेद में 'नाक' से दुःखराहित्य से सम्पन्न जिस 'स्वर्ग' का तात्पर्य लिया जाता है, उसके मूल में मुख्य शब्द सुखवाची 'क' है । प्रजापति के लिए उपर्युक्त सभी अर्थों में 'क' नाम सुसंगत है । 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि' द्वारा नासदीयसूक्त में उसको कामनावान् कहा गया है । एकोऽहं बहुःस्याम्—इस प्रकार उसमें सृष्टि की कामना होती है ।[१७] परमतत्त्व के सुखरूप और आनन्दस्वरूप में किञ्चित् मात्र भी सन्देह का अवकाश नहीं है, क्योंकि उपनिषदों में विस्तार से उनको आनन्दघन और सच्चिदानन्दरूप कहा गया है ।[१८] जब 'मुक्ति' परमा शान्ति और आनन्द का नाम है और ब्रह्मभाव की प्राप्ति मुक्ति है - तब ब्रह्म या प्रजापति का सुखस्वरूप स्वतः ही सिद्ध है । 'उनका स्वरूप जाना नहीं जा सकता है', इसलिए अनिर्ज्ञात-स्वरूप होने से 'क्या' या 'कोई' अर्थ में वह 'क' संज्ञा से विभूषित किया गया है ।[१९] उपनिषदों में इसी अनिर्वचनीयता के कारण परमतत्त्व को 'नेति', 'नेति' कहा गया है । जब श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मतत्त्व-विवेचन के प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण आत्मा को 'आश्चर्य' कहते हैं, तब उसकी अवर्णनीयता ही निहितार्थ होता है ।[२०] केनोपनिषद् ने उसे 'क उ देवः' अर्थात् 'कौन' किन्तु 'प्रसिद्ध देव' कहा है, जो मन को विषयों में भेजता है, प्राण को प्रेरित करता है और वाणी को बोलने का सामर्थ्य देता है ।[२१]

अनिर्ज्ञातस्वरूप और अनिर्वचनीय तत्त्व के लिए सर्वनाम पदों का प्रयोग भारतीय दर्शन में सुप्रचलित है— सोऽहमस्मि, तत् त्वमसि, अहम् ब्रह्मास्मि इत्यादि । 'सर्व' की ही सर्वनाम संज्ञा की जाती है । 'कः' या 'किम्' सर्वनाम से उस परम तत्त्व की सर्वरूपता, दुर्विज्ञेयता, रहस्यमयता, व्यापकता आदि का बोध होता है ।

ऋग्वेदसंहिता में ब्रह्म के लिए 'कः' नाम का निर्देश नासदीय और हिरण्यगर्भ सूक्तों के अतिरिक्त कुछ अन्य सन्दर्भों में भी द्रष्टव्य है। 'हिरण्यगर्भ' में 'क' नाम से वही परम उपासनीय देवता निर्दिष्ट है और उसका चित्रण सत्यधर्मा अथवा अग्रजात और परम प्रकाशक के रूप में हुआ है।[२२] **हिरण्यगर्भ** और पुरुष सूक्त का **पुरुष** स्वरूपतः एक हैं।[२३] इसलिए विराट् पुरुष से नासदीयसूक्त के 'क' प्रजापति को समीकृत करना सर्वथा उपयुक्त है। ऋक्सर्वानुक्रमणी में ऋ. १/२४/१ का देवता भी 'कः प्रजापतिः' बताया गया है। मन्त्र में कहा गया है-'हम अमर देवों में से किस देव के शुभ नाम का मनन करें, कौन देव (-सातवलेकर), या सुखस्वरूप देव (-दयानन्द) या 'क' नामक प्रजापति (-सायण) मुझे महती अदिति के पास पुनः देता है, जिससे मैं पिता और माता को देख सकूँ।'[२४] यहाँ 'कः' से प्रश्नपरक सर्वनाम और संज्ञा–दोनों रूपों में देवता का ग्रहण किया गया है। कुछ अन्य सन्दर्भों में भी इसी प्रकार दोनों तरह से अर्थ-निर्धारण सम्भव है, यद्यपि वहाँ सर्वानुक्रमणी ने प्रजापति या 'कः' का देवतारूप में उल्लेख नहीं किया है। विश्वामित्रपुत्र या वाक्पुत्र प्रजापति का एक मन्त्र इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है, जहाँ नासदीयसूक्त के षष्ठ मन्त्र की शब्दावली का ही प्रयोग किया गया है –

–को अद्धा वेद क इह प्रवोचद् देवाँ अच्छा पथ्या३ का समेति।[२५]

अर्थात् 'कौन सा मार्ग देवों की तरफ सीधा जाता है –इसे निश्चयपूर्वक कौन जानता है और उसका वर्णन यहाँ कौन कर सकता है ?' यहाँ व्यञ्जना से अर्थ निकलता है कि कोई नहीं जानता; अथवा इस गूढ़ विषय को 'क' ही जानता है।

–कस्तद् वेद यदद्भुतम्।[२६]

अर्थात् 'जो अभी अभूत है उसे कौन या कोई ही जानता है।' यहाँ भी अनिश्चयबोधक सर्वनाम पद से अनिर्ज्ञातस्वरूप देव का ग्रहण सुतराम् सम्भव और समीचीन प्रतीत होता है।

– कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को वि वेद।[२७]

अर्थात् 'इन दोनों (द्यावापृथिवी) में कौन पहले और कौन बाद में है ? ये दोनों किस प्रकार उत्पन्न हुई ? हे कवियों ! इन बातों को कौन जानता है?' तात्पर्य है कि कोई भी नहीं, या फिर 'क' देव जानता है।

– को वेद नूनमेषां यत्रा मदन्ति धूतयः । ऋतजाता अरेपसः ।।[२८]
अर्थात् 'शत्रुओं को हिलाने वाले, सत्य की रक्षा के लिए उत्पन्न हुए, निष्पाप ये वीर जहाँ आनन्द का उपभोग करते हैं, वह इनका स्थान भला कौन जानता है ?' भावार्थ है कि कोई नहीं जानता या फिर कोई 'क' नाम वाला ही जानता है ।

–को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत् ।[२९]
अर्थात् 'इस प्रथम दिन की बात को कौन जानता है ? कौन देखता है और इस सम्बन्ध में कौन बता सकता है ?'

– को वेद जानमेषाम् ।[३०]
अर्थात् 'इनके जन्म का रहस्य कौन जानता है?'

– को ददर्श प्रथमं जायमानम् ।[३१]
अर्थात् 'उसे उत्पन्न होते हुए सर्वप्रथम किसने देखा ?'

– कवीयमानः क इह प्रवोचद् देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ।[३२]
अर्थात् 'यह दिव्य मन कहाँ से हुआ, इसे जानने वाला कौन है ?

इन मन्त्रों में भी पूर्वोक्त रीति से द्विविध अर्थों का संकेत लिया जा सकता है। दर्शनीय है कि प्रश्नवाचक सर्वनाम पद 'कः' अधिकतर उन स्थलों में ही– कौन जानता है ? या 'कोई' जानता है – इस प्रकार द्विविध अर्थों में सरलतया ग्रहणीय है, जहाँ 'कः' के साथ 'वेद' क्रियापद व्यवहृत हुआ है। 'देखना' या 'कहना' क्रियाओं के साथ भी उक्त अर्थों की संगति कदाचित् देखी जाती है। 'कः' वह अनबूझा तत्त्व है, जिसका संकेत इन मन्त्रों में हुआ है और नासदीयसूक्त में जिसको परम वेत्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

सप्तम मन्त्र में 'योअस्य अध्यक्षः परमे व्योमन्' कहकर एक ओर समस्त द्वन्द्वात्मक सृष्टि के अध्यक्ष अर्थात् अधिष्ठाता या द्रष्टा को परम व्योम में स्थित बताया गया है, तो दूसरी ओर 'सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद' कहकर उसके वेत्तारूप के प्रति शङ्का प्रकट करते हुए संकेत दिया गया है कि यदि कोई वेत्ता है, तो एकमात्र वही है। सूक्त का द्रष्टा ऋषि 'परमेष्ठी प्रजापति' है और यहाँ अध्यक्ष को 'परम' विशेषणसम्पन्न व्योम में स्थित बताकर निर्विवाद रूप से 'प्रजापति' ही ज्ञापित किया जा रहा है। प्रजापति

न केवल सृष्टि का वेत्ता है, अपितु वही इसका द्रष्टा भी है। व्योम से निरतिशय आनन्द, सर्वव्याप्ति, ज्ञानात्मा, स्वप्रकाश आदि अर्थों का ग्रहण किया जाता है, जिसके द्वारा प्रजापति के आनन्दरूप, व्यापक, ज्ञानस्वरूप और प्रकाशरूप होने का भावार्थ ग्रहणीय है। सृष्टि का परम कारण होकर भी वह उससे परे, असम्पृक्त और मात्र साक्षी है। पुरुषसूक्त में भी त्रिपात्पुरुष की ऊर्ध्व स्थिति का विवरण है।[३३] प्रजापति 'क' एक ज्ञाता के रूप में बहुशः चित्रित है। यदि वा न वेद– ज्ञेय से उसके अभेद के व्यञ्जनार्थ है। 'वेद्य' तत्त्व की मीमांसा से यह तथ्य अधिक स्पष्ट होता है।

(ख) वेद्य

'वेत्ता' तत्त्व की निर्मिति 'वेद्य' पर निर्भर है। 'क प्रजापति' यदि वेत्तारूप में नासदीयसूक्त का प्रतिपाद्य है, तो वेद्य के विषय में भी सूक्तद्रष्टा के संकेत अवश्य ही अवधारणीय हैं। षष्ठ मन्त्र में प्रश्न रखा गया है कि यह 'विसृष्टि' किससे और किससे 'आजाता' हुई ? 'कुतः' पद की द्विरुक्ति कारणद्वय की वाचक है– इसके उपादान कारण और इसके निमित्त कारण क्या रहे ? 'यह विसृष्टि जिससे उत्पन्न हुई' सप्तम मन्त्र के इस कथन में 'यतः' पद संयुक्त रूप से उक्त दोनों कारणों का वाचक है। अतः कार्यरूप सृष्टि का मूल कारणतत्त्व भिन्न रूप में दो हैं, पर अभिन्न रूप में वे एक हैं - यह पहला संकेत प्राप्त होता है। फिर यह अभिन्ननिमित्तोपादन कारण ही 'वेद्य' है– यह संकेत मिलता है, जब उसको जानने और बताने वाले के विषय में 'क इह प्रवोचत्' से प्रथम जिज्ञासा रखी जाती है। सृष्टि का 'वेद्यतत्त्व' है– उसका मूल कारण। कारण को समग्र रूप में जानने पर कार्य और उसकी विविधता का ज्ञान सरलता से हो जाता है। मिट्टी को जान लेने पर मिट्टी से बने सभी पदार्थों को और सुवर्ण को जान लेने पर सुवर्ण से बने सभी पदार्थों को जानना सम्भव है। इसीलिए मुण्डकोपनिषद् में शौनक ने अंगिरा से पूछा है कि 'भगवन् ! किस एक तत्त्व को जान लेने पर यह सब ज्ञात हो जाता है ?'[३४] **सृष्टितत्त्व का मूलकारण** ही परम वेदनीय है। उसका बोध होते ही सृष्टि-रहस्य स्वतः उद्घाटित होने लगते हैं।

सप्तम मन्त्र का अंश 'यदि वा न वेद' वेत्ता के वेदन के प्रति शंकायुक्त नहीं है, अपितु वेद्य के साथ उसकी एकरूपता ध्वनित करता है। सृष्टि-

सम्बन्ध में ज्ञाता ही ज्ञातव्य है। वेत्ता 'क प्रजापति' जब वेद्य 'अभिन्ननिमित्तोपादन कारण' है, तब कौन ज्ञाता और कौन ज्ञेय ? इसीलिए 'अथवा वह नहीं जानता'– ऐसा विवशतापूर्वक कहना पड़ रहा है। यहाँ यजुर्वेद के परमात्मा-सूक्त का स्मरण हो आता है, जब ज्ञानी आत्मा के परमात्मा रूप को प्राप्त करने का वर्णन कुछ इसी प्रकार किया गया है कि उससे शब्दों की सीमा का भान भी होता है –'ज्ञानी ने ब्रह्म का साक्षात्कार किया, तद्रूप हो गया, वह तो वह था ही।'[३५]

परतत्त्व-दर्शन एक मूलतत्त्व का अन्वेषण है। दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनों ही एक बीज के द्विदलों को अंकुरित होते देखकर एक विशाल वृक्ष की कल्पना करने लगते हैं। इस नन्हें से बीज में इतना बड़ा वृक्ष छिपा है। क्या विशाल विश्व के मूल में भी विद्यमान रही कोई एक ही सत्ता तो विकसित नहीं हो रही है ? परतत्त्वदर्शन दृश्यमान जगत् के पीछे ऐसी ही किसी एक परम सत्ता की कल्पना करता है। ऋग्वेद में अद्वैत या एकत्व के प्रतिपादक मन्त्रों से यह सांकेतिक अर्थ अवश्य प्राप्त किया जाना चाहिए।[३६] एक ही यह सब हो गया है। पुरुष, हिरण्यगर्भ अथवा प्रजापति से भिन्न यहाँ कुछ नहीं है। जो कुछ उत्पन्न हुआ है और जो कुछ उसके ऊपर अनुत्पन्न कोश के रूप में है, वह सब प्रजापति ही है। सबके आश्रयरूप उस एक तत्त्व को अन्यत्र 'अक्षर परम व्योम' भी कहा गया है। जिसको जान लेने पर ज्ञाता समासीन, समाहित और शान्त हो जाता है।[३७] अतः वही वेदनीय है। उपनिषदों के सन्दर्भ से परम कारण रूप ब्रह्म या आत्मा ही परम ज्ञेय है[३८] – इससे भी नासदीयसूक्त के सन्दर्भ से प्रतिपादित 'वेद्य' तत्त्व की मीमांसा सिद्ध होती है।

(ग) वेदन

नासदीयसूक्त में 'वेद' क्रियापद के प्रयोग द्वारा 'वेदन' का संकेत किया गया है। यह शब्द ज्ञानार्थक √विद् के परस्मैपद में लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन का रूप है। यह वेद की सभी संहिताओं और ग्रन्थों में बहुशः प्रयुक्त हुआ है। नासदीयसूक्त में इसका प्रथम प्रयोग क्रिया- विशेषण पद 'अद्धा' के साथ हुआ है। वस्तुतः, स्पष्टरूपेण, प्रत्यक्षतः, निश्चयेन, सत्यम्, प्रसिद्धम्, साक्षात् आदि अर्थों में इसका ग्रहण किया जाता है। ज्ञान-साधना

का उद्देश्य है– परम सत्य का दर्शन। अतः 'सत्य' या 'वास्तविकता' को जानना ही वेदन या ज्ञान है।[३९] इसका अभिप्राय है कि अन्तर्निहित तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान वेदन है। नासदीयसूक्त में सत्य को जानने या मूल कारण को जानने के प्रसंग में इसकी अभिव्यक्ति से संकेत मिलता है कि वेद की दृष्टि में 'वेदन' तत्त्व **सत्यान्वेषण** का ही दूसरा नाम है, अन्यथा कुछ नहीं। ऋग्वेद का ज्ञानसूक्त (१०/७१) इसमें प्रमाण है, जिसमें ज्ञान से परब्रह्मज्ञान अभिप्रेत रहा है जो परमपुरुषार्थ- साधन हो, और सत्य का भान कराये। वेद संज्ञा का सीधा अर्थ 'ज्ञान' है, इसीलिए 'वेद' ज्ञान का पर्याय है। इस दृष्टि से वेद का प्रतिपाद्य 'वेद' ही है। डॉ. अभयदेव की समीक्षा उल्लेखयोग्य है, "वेदतत्त्व आत्मबोध को कहते हैं। आत्मा और आत्मप्रसूत सृष्टि, इनका रहस्यज्ञान वेदतत्त्व है। जो ज्ञाता है, वही बता सकता है। प्रजापति सत्यज्ञाता है और वही सत्यप्रवक्ता है।"[४०] वेद्य है- सृष्टि का मूलकारण अर्थात् वही वेत्ता। अतः वेदन और कुछ नहीं, यहाँ वेत्ता और वेद्य के समीकरण का ही नाम है। नासदीयसूक्त के सन्दर्भ से ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के अभेद का सिद्धान्त सुनिश्चित होता है। साथ ही यह भी ग्राह्य है कि ज्ञानरूप 'वेद' ही सृष्टि के सम्बन्ध में परम प्रमाण है।

ऋषियों का ऋषित्व इसी में है कि उनको स्वयं स्फुरित हुए ज्ञान ने दर्शन दिये।[४१] जिस प्रकार ज्ञान स्वयं प्रादुर्भूत होने वाला तत्त्व है, उसी प्रकार 'क प्रजापति' भी वह 'एक तत्त्व' है, जिसके परे सृष्टि के आरम्भ में कोई तत्त्व नहीं था।[४२] इसीलिए वेदन और वेत्ता में अभेद है। 'वेदः' या 'वेदाः' को प्राजापत्य, ब्रह्म, अनन्त आदि कहकर श्रुतिवाक्यों[४३] ने जहाँ वेद की अपौरुषेयता परिपुष्ट की है, वही दूसरी ओर 'वेदन' और वेत्ता' का ताद्रूप्य भी स्थापित किया है।

इस प्रकार नासदीयसूक्त के सन्दर्भ से वेत्ता, वेद्य और वेदन के सम्बन्ध में जो प्रभूत तथ्य उपलब्ध होते हैं, उनसे ही तद्विषयक वैदिक चिन्तन प्रभावित और अनन्तर विकसित हुआ है। वे ही सर्वत्र मान्य एवं प्रौढ़ भारतीय चिन्तन के संक्षिप्त रूप हैं।

सन्दर्भ–सङ्केत

१. ऋ. १/३०/२०, १/४०/७, १/६५/३, १/७५/३, १/७६/१, १/१६१/१३, ४/२५/१, ५/५३/२, ७/५६/१,

२. ऋ. १/७२/१, ८/४५/३१, ६/६२/५, १०/१०/५.

३. यदद्या चित् कृणवः कस्त्वा परि । ऋ. १/५४/५.

४. कः स्विद् वृक्षो निष्ठितो मध्ये अर्णसः । ऋ. १/१८२/७.

५. निघ. ५/४; कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा । नि. १०/२२; ऋ. १०/१२१/१.

६. प्रजापतिर्वै कः । ऐ.ब्रा. २/३८, ६/२१; शत. ब्रा. ६/४/३/४; तै.ब्रा. २/२/५/५; कः । मै.सं. १/१०/१०; का.सं. ३६/५; ता.ब्रा. ७/८/३; गो.ब्रा. १/२२; शत.ब्रा. ७/४/१६; तै.सं. १/७/६/६; जै.उ.ब्रा. ३/२/१०.

को वै नाम प्रजापतिः । ऐ.ब्रा. ३/२१.

को हि प्रजापतिः । शत.ब्रा. ६/२/२/५;

को वै प्रजापतिः । गो.ब्रा. ६/३.

७. ऋ.स्क.भा. १/२४/१.

८. यजु. *उवटभाष्य*. २३/१३.

६. यजु. *महीधरभाष्य* .२३/१३.

१०. ऋ.सा.भा. १/२४/१.

११. ऋ.दया.भा. १/२४/१.

१२. ऋ.सा.भा. १०/१२१/१,५.

१३. सुखस्वरूपाय (कस्मै) ईश्वराय । ऋ.दया.भा. १/२४/१; यजु. दया. भा. २५/१२, १२/१०२.

१४. सुखकारकाय । यजु.दया.भा. २५/१०.

१५. आनन्दस्वरूपाय देवाय । यजु.दया.भा. २३/३.

१६. तै.ब्रा. २/२/१०/१-२.

१७. सोऽकामयत बहुः स्यां प्रजायेय । तै.आ. ८/६.

१८. आनन्द आत्मा । तै.उप. २/५.
१६. अत्र किं शब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते । ऋ.सा.भा. १०/१२१/१.
२०. आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः । गीता २/२६.
२१. केनेषितं पतितं प्रेषितं मनः
केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति
चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ।। केन उप. १/१.
२२. यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान । ऋ. १०/१२१/६.
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । ऋ.१०/१२१/१.
२३. पुरुष एव इदं सर्वं यत् भूतं यत् च भव्यम् । ऋ. १०/६०/२.
२४. कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ।। ऋ. १/२४/१.
२५. ऋ. ३/५४/५.
२६. ऋ. १/१७०/१.
२७. ऋ. १/१८५/१.
२८. ऋ. ५/६१/१४.
२६. ऋ. १०/१०/६; अथर्व. १८/१/७.
३०. ऋ. ५/५३/१.
३१. ऋ. १/१६४/४.
३२. ऋ. १/१६४/१८.
३३. त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुषः । ऋ. १०/६०/४.
३४. कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति । मु.उप. १/१/३.
३५. तदपश्यत् तदभवत् तदासीत् । यजु. ३२/१२.
३६. (१) पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् । यजु. ३१/२.
(२) यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् । यजु. ३२/८.
(३) एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः । ऋ. ८/५८/२.
(४) तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः । यजु. ३२/१.

(५) सर्वेऽस्मिन् देवा एक वृतो भवन्ति । अथर्व. १३/४/२१.

(६) महित्वैक इद् राजा जगतो बभूव । यजु. २३/३; ऋ. ४/२/२.

३७. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ।।
ऋ. १/१६४/ ३६; अथर्व. ६/१०/१८.

३८. ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति । मु.उप. ३/२/६.

३६. कः सत्यम् इह जानति । ऋ.वे.भा. १०/१२६/६.

४०. *वेदसविता (पत्रिका)*, वेद संस्थान, दिल्ली, वर्ष १६, अंक १-४, १६६५.

४१. तै.आ. २/१६.

४२. तस्माद् धान्यन् न परः किञ्चनास । ऋ. १०/१२६/८.

४३. प्राजापत्यो वेदः । तै.ब्रा. ३/३/२/१.
प्राजापत्यो वै वेदः । तै.ब्रा. ३/३/७/२, ३/३/८/६.
प्रजापतेर्वा एतानि श्मश्रुणि यद्वेदः । तै.ब्रा. ३/३/६/११.
वेदो ब्रह्मः । जै.उ.ब्रा. ४/२५/३.
अनन्ताः वै वेदाः । तै.ब्रा. ३/१०/११/३.

* * *

दैर्घतमस आप्रीसूक्त

ऋग्वेद-संहिता के अधिकांश सूक्त देवस्तुतिपरक हैं । संहिता में देवस्तुतियों से भिन्न दार्शनिक, लौकिक और कुछ दूसरे विषयों से सम्बद्ध सूक्त भी संकलित है । अनेक सूक्त कतिपय स्वतन्त्र विषयों के प्रतिपादक है । ये सूक्त न केवल स्वरूप की दृष्टि से आकर्षक हैं, अपितु प्रतिपाद्य की दृष्टि से भी विलक्षण और महत्त्वपूर्ण हैं । इनमें ही परिगणनयोग्य हैं - ऋग्वेदीय आप्रीसूक्त । इन सूक्तों का महत्त्व ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग, संकलन, विषय, स्वरूप आदि अनेकानेक दृष्टियों से है ।

ऋग्वेद-संहिता में दस आप्रीसूक्त हैं । इन आप्रीसूक्तों का बाह्य रूप लगभग एक जैसा दिखलायी देता है, परन्तु इनके आलोचनात्मक विश्लेषण से ज्ञात होता है कि ये सभी स्वतन्त्र और विशिष्ट हैं । इनके स्वरूप की विवेचना करते हुए दीर्घतमा ऋषि द्वारा दृष्ट आप्रीसूक्त का यहाँ विशेष रूप से अध्ययन किया जा रहा है ।

ऋक्संहिता के चतुर्थ, षष्ठ और अष्टम मण्डलों को छोड़कर अवशिष्ट सभी मण्डलों में आप्रीसूक्तों की व्यवस्था है ।[1] प्रथम मण्डल में तीन आप्रीसूक्त और दशम मण्डल में दो आप्रीसूक्त प्राप्त होते हैं । अत एव दस मण्डलों में कुल मिलाकर दस आप्रीसूक्त हैं । इन सभी सूक्तों में से छह आप्रीसूक्त मण्डलों के प्रारम्भिक भागों में संयोजित किये गये हैं । इसे आप्रीसूक्तों का प्रथम संयोजनपरक वैशिष्ट्य मानना चाहिए । इसीप्रकार अधिकतर इनकी अवस्थिति अग्निसूक्तों के मध्य में है । इसे कौतूहलवर्धिनी और विचारयोग्य द्वितीय विशेषता समझना चाहिए ।

ऋग्वेद के दसों आप्रीसूक्तों में क्रम से द्वादश आप्रीदेवताओं का स्तवन

किया गया हैं– इध्मः, तनूनपात्, नराशंसः, ईळः, बर्हिः, द्वारः, उषासानक्ता, दैव्या होतारा, तिस्रो देवीः, त्वष्टा, वनस्पतिः, स्वाहाकृतयः । यास्काचार्य का निरुक्त[२], कात्यायन की सर्वानुक्रमणी[३], शौनक का बृहद्देवता[४] और ऐतरेय ब्राह्मण[५] आप्रीदेवताओं की चर्चा के सम्बन्ध में उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं । इन बारह देवताओं में से तनूनपात् और नराशंस नामक देवताओं का वैकल्पिक स्तवन आठ आप्रीसूक्तों में किया गया है ।[६] शेष दो सूक्तों में पूर्वोक्त क्रम से ही द्वादश देवताओं की स्तुतियाँ उपलब्ध होती हैं ।[७] इसीलिए आप्रीसूक्तों को आचार्यों ने तीन श्रेणियों में विभाजित किया है[८]:–

(१) **नराशंसवान्**- वसिष्ठ, आत्रेय, वाध्र्यश्व और गृत्समद ऋषि के सूक्त।

(२) **उभयवान्**- मेधातिथि और दीर्घतमा के सूक्त तथा प्रैषसूक्त–नराशंस तथा तनूनपात् से युक्त होने के कारण ।

(३) **तनूनपात्वान्**– ऋषि अगस्त्य, विश्वामित्र, असित और जमदग्नि के सूक्त ।

प्रस्तुत दैर्घतमस सूक्त उभयवान् है।

आप्रीदेवताओं के विषय में विशेष बात है कि इनमें अनेकविध देवता आम्नात हैं, यथा– 'दैव्या होतारा' और 'उषासानक्ता' युगलदेवता हैं; 'तिस्रो देवीः' तीन देवियों का समूह है, तो 'देवीर्द्वारः' और 'स्वाहाकृतयः' बहुदेववाची देवगण हैं ।

आप्रीदेवताओं के स्वरूप के सम्बद्ध में विद्वानों में अनेक मत हैं । स्वयं आचार्य यास्क ने दो मत दिये हैं । आप्रीदेवता अग्निरूप हैं या यज्ञावयवाभिमानी हैं । यद्यपि उन्होंने सब देवताओं की यज्ञपरक व्याख्या नहीं की है और न सब की व्याख्या ही की है। यास्क के मतानुसार जिन **प्रयाज** कर्मों में इन मन्त्रों का विनियोग होता है, उन प्रयाजों का देवता 'अग्नि' है - इस हेतु से इध्म आदि अग्नि वाचक हैं ।[९]

इस आप्रीसूक्तों के द्रष्टा ऋषि भी दस ही हैं - मेधातिथि, दीर्घतमा, अगस्त्य, गृत्समद, विश्वामित्र, आत्रेय वसुश्रुत, वसिष्ठ, काश्यप असित देवल, वाध्र्यश्व और जमदग्नि । अतः स्पष्ट ही प्रत्येक ऋषिगोत्र का एक आप्रीसूक्त है । गोत्रानुसार आप्रीसूक्त के चयन की विशेषता विनियोगसम्बन्धी विवेचन से सुव्यक्त हो जाती है । ऐतरेयब्राह्मण और आश्लायनश्रौतसूत्र के अनुसार पशुयाग में विधीयमान एकादश प्रयाजों में याज्यारूप में आप्रीमन्त्रों को पढ़ना

चाहिए ।[10] तदनुसार यजमान द्वारा अपने गोत्र के अनुसार उसी गोत्र के ऋषि के द्वारा दृष्ट आप्रीसूक्त का ग्रहण करके कर्म किया जाना चाहिए। प्रोफेसर पोतदार के विचार में ये सूक्त यागों की प्रारम्भिक अवस्था में परिकल्पित किसी सामान्य प्रकृति के पारिवारिक कर्मकाण्ड से सम्बद्ध थे ।[11] इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेक तथ्य उपस्थित किये हैं ।[12] गोत्रानुसार आप्रीसूक्तों के चयन से सिद्ध होता है कि आप्रीसूक्तों का प्रणयन याज्ञिक प्रयोजन से हुआ था। आप्रीसूक्त कुलपरम्परा के वैविध्य के अमूल्य प्रमाण है, यह भी इससे सुनिश्चित होता है ।[13]

ऋक्संहिता के प्रथम मण्डल का १४२वां सूक्त **औचथ्य दीर्घतमा** द्वारा दृष्ट आप्रीसूक्त हैं। संहिता में प्राप्ति के क्रम से यह सूक्त आप्रीसूक्तों में द्वितीय स्थान पर आता है, परन्तु मन्त्रसङ्ख्या, देवता, विनियोग, छन्द, भाव आदि की दृष्टि से यह सभी आप्रीसूक्तों में अत्यन्त विलक्षण दिखायी देता है। आठ आप्रीसूक्तों में ग्यारह आप्रीदेवताओं का स्तवन होने से ग्यारह ऋचाएं हैं। दो सूक्त उभयवान् है, अतएव उनमें बारह आप्री देवताओं का स्तवन क्रमशः किया गया है। प्रथम आप्रीसूक्त (ऋ. १/१३) में यही स्थिति है, और वहाँ बारह देवताओं के लिए बारह ऋचाएँ हैं; परन्तु दैर्घतमस आप्रीसूक्त में इससे सर्वथा भिन्न रूप में तेरह ऋचाएँ हैं। अतः मन्त्रसङ्ख्या की दृष्टि से यह सूक्त ऋषि की स्वतन्त्रता और मौलिकता को उपन्यस्त करता है।

इस सूक्त में प्राप्त होने वाले तेरहवें मन्त्र से सूचित हो जाता है कि इसमें एक अतिरिक्त देवता का स्तवन किया गया है। इस मन्त्र में **स्वाहाकृतानि** पद के प्रयोग को देखकर कुछ विद्वान् 'स्वाहाकृतयः' को ही इसका देवता मानते हैं ।[14] सायण आदि कुछ आचार्यों के मत में इस मन्त्र का देवता 'इन्द्र' है; क्योंकि यहाँ 'इन्द्र' को सम्बोधित किया गया है। अनुक्रमणिका ने 'अन्त्यैन्द्री' कहकर यही मत सुस्थिर किया है। अतः ऋषि औचथ्य दीर्घतमा ने आप्रीदेवताओं को समर्पित अपने सूक्त में प्रथम से लेकर द्वादश मन्त्र तक इध्म आदि द्वादश आप्रीदेवताओं का ही क्रमशः स्तवन किया है, किन्तु त्रयोदशी ऋचा में इन्द्र की प्रधानता को अङ्गीकार करते हुए उसके प्रति अपनी श्रद्धाभावना प्रदर्शित की है। अतएव कह सकते हैं कि आप्री-देवता से सम्बद्ध परम्परा का अनुसरण करके भी ऋषि ने मन्त्रों के देवता के विषय में अपनी मौलिकता प्रस्तुत की है।

दैर्घतमस आप्रीसूक्त **पशुयाग** में किन कर्मकाण्डियों द्वारा ग्रहणयोग्य है - इस सम्बन्ध में आश्वलायन श्रौतसूत्र का प्रतिपादन है कि यह आप्रीसूक्त कण्ववर्जित अङ्गिरोगोत्रोत्पन्न कर्मकाण्डियों के लिए विधीयमान है। पृथक्-पृथक् गोत्र वाले कर्मकाण्डियों के लिए पृथक्-पृथक् आप्रीसूक्तों द्वारा आप्रीदेवताओं के यजन का विधान है।[९५] इस आधार पर कण्वगोत्र वाले कर्मकाण्डियों का कण्व ऋषि-प्रणीत आप्रीसूक्त (१/१३), अगस्त्यगोत्र के कर्मकाण्डियों का अगस्त्य ऋषि-प्रणीत आप्रीसूक्त (१/१८८), गृत्समद तथा शुनक गोत्र के कर्मकाण्डियों का उनके द्वारा दृष्ट आप्रीसूक्त (२/३), विश्वामित्र के गोत्र के कर्मकाण्डियों का विश्वामित्र ऋषि-प्रणीत आप्रीसूक्त (३/४), आत्रेयवसुश्रुत गोत्रवाले कर्मकाण्डियों का आत्रेयवसुश्रुत के द्वारा दृष्ट आप्रीसूक्त (५/५), वसिष्ठ गोत्र वाले कर्मकाण्डियों का वसिष्ठ-दृष्ट आप्रीसूक्त (७/२), काश्यपासित गोत्र के कर्मकाण्डियों का काश्यपासित-प्रणीत आप्रीसूक्त (९/५), वाध्र्यश्व गोत्र वालों का वाध्र्यश्व-प्रणीत आप्रीसूक्त (१०/७०), शुनक तथा वसिष्ठ ऋषि के गोत्रवालों के अतिरिक्त अन्य सब गोत्र वालों के लिए अथवा जमदग्निगोत्र के कर्मकाण्डियों के लिए जमदग्नि ऋषि द्वारा दृष्ट आप्रीसूक्त (१०/११०) विहित है। परन्तु ऋषि दीर्घतमा का प्रस्तुत आप्रीसूक्त अङ्गिरोगोत्रोत्पन्न कर्मकाण्डियों के लिए विधीयमान बताया गया है। इससे सुस्पष्ट होता है कि औचथ्य दीर्घतमा अङ्गिरा गोत्र के अन्यतम, वरिष्ठ और सुविख्यात सूक्तद्रष्टा रहे थे, तभी उनके आप्रीसूक्त को इस गोत्रपरिवार के लिए निर्दिष्ट किया गया।

छन्द की दृष्टि से भी यह सूक्त अन्य आप्रीसूक्तों से किञ्चित् भिन्न ही दिखायी देता है। ऋग्वेदसंहिता में सभी आप्रीमन्त्र अधिकतर गायत्री या त्रिष्टुप् छन्द में निबद्ध है।[९६] जब कि दैर्घतमस आप्रीसूक्त में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग किया गया है। विशेष बात यह है कि ऋषि दीर्घतमा ने अपने दूसरे सूक्तों में प्रायः त्रिष्टुप् या जगती छन्दों को अपनाया है।

ऋग्वेदीय आप्रीसूक्तों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि ऋषि दीर्घतमा के इस सूक्त के सात मन्त्रों या मन्त्रांशों में पाद या पादांश **की दस आवृत्तियाँ** हैं, जो दूसरे आप्रीसूक्तों में समुपलब्ध हैं, यथा–

१. समिद्धो अग्न आ वह (१ अ) = सुसमिद्धो न आ वह। (१/१३/१अ)।
२. मधुमन्तं ...यज्ञम् (२ आ, इ) = यज्ञं मधुमन्तम् (३/४/२ इ)।
३. वि श्रयन्तामृतावृधः (६ अ) = वि श्रयन्तामृतावृधो (१/१३/६ अ)।

४. आ भन्दमाने उपाके (७ अ) = आ भन्दमाने उषसा उपाके (३/४/६अ)।
५. यह्वी ऋतस्य मातरा (७ इ) = यह्वी ऋतस्य मातरा ।(५/५/६ आ)।
६. यज्ञं नो यक्षतामिमम् (८ इ) = यज्ञं नो यक्षतामिमम् (१/१३/८ इ), यज्ञं नो यक्षतामिमम् (१/१८८/७ इ) ।
७. तन्नस्तुरीपमद्भुतं... विष्यतु (१० अ, इ) = तन्नस्तुरीपमध... वि... स्यस्व (३/४/६ अ, आ) ।
८. अवसृजन्नुप (११ अ) = उपावसृज (१०/११०/१० अ) ।
९. देवान् यक्षि (११ आ) = देवान् यक्षि (२/३/३ आ) ।
१०. अग्निर्हव्या सुषूदति (११ इ) = अग्निर्हव्यानि सिष्वदत्...। (१/१८८/१०इ)।

द्रष्टव्य है कि अधिकतर आवृत्तियाँ समान देवताओं के मन्त्रों में ही हैं । इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आप्रीसूक्तों का प्रणयन समकालीन नहीं है और न ही एक दूसरे से असम्बद्ध है । सम्भवतः किसी एक आप्रीसूक्त के प्रणयन के अनन्तर ही दूसरे ऋषियों द्वारा दूसरे आप्रीसूक्त देखे गये हैं । श्री दिवेकर के मतानुसार आप्रीसूक्तों के प्रणयन-क्रम में यह आप्रीसूक्त नवम स्थान पर आता है ।[१७] इस विचार के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋषि दीर्घतमा के समक्ष दूसरे ऋषियों के आप्रीसूक्त थे; किं वा दूसरे ऋषियों ने उनके सूक्त को उदाहरण बनाया। यह सत्य है कि गहनतम वेदविद्या का कालनिर्धारण अतिदुष्कर और कदाचित् असम्भव ही है, परन्तु इस सूक्त और दूसरे आप्रीसूक्तों में प्राप्त कुछ समान अंशों या आवृत्तियों को देखकर यह निष्कर्ष सहज सम्भावित है कि दैर्घतमस आप्रीसूक्त श्रुतिपरम्परा में अतीव लोकप्रिय रहा ।

प्रस्तुत आप्रीसूक्त में कुछ ऐसे पद प्रयुक्त हुए हैं, जो संहिता में अन्यत्र अप्रयुक्त या अल्पतया प्रयुक्त हैं । इनसे ऋषि दीर्घतमा की **शब्द-समृद्धि** की विपुलता सुग्राह्य है । 'दैव्या होतारा' का विशेषण पद 'जुगुर्वणी' संहिता में एकमात्र यही प्राप्त है ।[१८] 'देवव्यचस्तमम्', 'स्तृणानासः'[१९] और 'गात्रवेपसे'[२०] पद अन्यत्र कम ही प्रयुक्त हुए हैं । यतस्रुचे, सुतसोमाय, दाशुषे, शशमानस्य, स्तृणानासः इत्यादि कुछ यज्ञप्रक्रिया से सम्बद्ध पदों के प्रयोग से ज्ञात होता है कि ऋषि याज्ञिक प्रक्रिया से सुपरिचित थे । मन्त्रों में काव्यसौण्ठव और प्राणभूत गेयता आलंकारिक वर्णनों से अधिकाधिक परिपुष्ट हुई हैं - कुछ

दैर्घतमस आप्रीसूक्त **पशुयाग** में किन कर्मकाण्डियों द्वारा ग्रहणयोग्य है - इस सम्बन्ध में आश्वलायन श्रौतसूत्र का प्रतिपादन है कि यह आप्रीसूक्त कण्ववर्जित अङ्गिरोगोत्रोत्पन्न कर्मकाण्डियों के लिए विधीयमान है। पृथक्-पृथक् गोत्र वाले कर्मकाण्डियों के लिए पृथक्-पृथक् आप्रीसूक्तों द्वारा आप्रीदेवताओं के यजन का विधान है।[९५] इस आधार पर कण्वगोत्र वाले कर्मकाण्डियों का कण्व ऋषि-प्रणीत आप्रीसूक्त (१/१३), अगस्त्यगोत्र के कर्मकाण्डियों का अगस्त्य ऋषि-प्रणीत आप्रीसूक्त (१/१८८), गृत्समद तथा शुनक गोत्र के कर्मकाण्डियों का उनके द्वारा दृष्ट आप्रीसूक्त (२/३), विश्वामित्र के गोत्र के कर्मकाण्डियों का विश्वामित्र ऋषि-प्रणीत आप्रीसूक्त (३/४), आत्रेयवसुश्रुत गोत्रवाले कर्मकाण्डियों का आत्रेयवसुश्रुत के द्वारा दृष्ट आप्रीसूक्त (५/५), वसिष्ठ गोत्र वाले कर्मकाण्डियों का वसिष्ठ-दृष्ट आप्रीसूक्त (७/२), काश्यपासित गोत्र के कर्मकाण्डियों का काश्यपासित-प्रणीत आप्रीसूक्त (६/५), वाध्र्यश्व गोत्र वालों का वाध्र्यश्व-प्रणीत आप्रीसूक्त (१०/७०), शुनक तथा वसिष्ठ ऋषि के गोत्रवालों के अतिरिक्त अन्य सब गोत्र वालों के लिए अथवा जमदग्निगोत्र के कर्मकाण्डियों के लिए जमदग्नि ऋषि द्वारा दृष्ट आप्रीसूक्त (१०/११०) विहित है। परन्तु ऋषि दीर्घतमा का प्रस्तुत आप्रीसूक्त अङ्गिरोगोत्रोत्पन्न कर्मकाण्डियों के लिए विधीयमान बताया गया है। इससे सुस्पष्ट होता है कि औचथ्य दीर्घतमा अङ्गिरा गोत्र के अन्यतम, वरिष्ठ और सुविख्यात सूक्तद्रष्टा रहे थे, तभी उनके आप्रीसूक्त को इस गोत्रपरिवार के लिए निर्दिष्ट किया गया।

छन्द की दृष्टि से भी यह सूक्त अन्य आप्रीसूक्तों से किञ्चित् भिन्न ही दिखायी देता है। ऋग्वेदसंहिता में सभी आप्रीमन्त्र अधिकतर गायत्री या त्रिष्टुप् छन्द में निबद्ध है।[९६] जब कि दैर्घतमस आप्रीसूक्त में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग किया गया है। विशेष बात यह है कि ऋषि दीर्घतमा ने अपने दूसरे सूक्तों में प्रायः त्रिष्टुप् या जगती छन्दों को अपनाया है।

ऋग्वेदीय आप्रीसूक्तों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि ऋषि दीर्घतमा के इस सूक्त के सात मन्त्रों या मन्त्रांशों में पाद या पादांश **की दस आवृत्तियाँ** हैं, जो दूसरे आप्रीसूक्तों में समुपलब्ध हैं, यथा–

१. समिद्धो अग्न आ वह (१ अ) = सुसमिद्धो न आ वह। (१/१३/१अ)।
२. मधुमन्तं ...यज्ञम् (२ आ, इ) = यज्ञं मधुमन्तम् (३/४/२ इ)।
३. वि श्रयन्तामृतावृधः (६ अ) = वि श्रयन्तामृतावृधो (१/१३/६ अ)।

४. आ भन्दमाने उपाके (७ अ) = आ भन्दमाने उषसा उपाके (३/४/६अ)।
५. यह्वी ऋतस्य मातरा (७ इ) = यह्वी ऋतस्य मातरा ।(५/५/६ आ)।
६. यज्ञं नो यक्षतामिमम् (८ इ) = यज्ञं नो यक्षतामिमम् (१/१३/८ इ), यज्ञं नो यक्षतामिमम् (१/१८८/७ इ) ।
७. तन्नस्तुरीपमद्भुतं... विष्यतु (१० अ, इ) = तन्नस्तुरीपमध... वि... स्यस्व (३/४/६ अ, आ) ।
८. अवसृजन्नुप (११ अ) = उपावसृज (१०/११०/१० अ) ।
९. देवान् यक्षि (११ आ) = देवान् यक्षि (२/३/३ आ) ।
१०. अग्निर्हव्या सुषूदति (११ इ) = अग्निर्हव्यानि सिष्वदत्...। (१/१८८/१०इ)।

द्रष्टव्य है कि अधिकतर आवृत्तियाँ समान देवताओं के मन्त्रों में ही हैं । इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आप्रीसूक्तों का प्रणयन समकालीन नहीं है और न ही एक दूसरे से असम्बद्ध है । सम्भवतः किसी एक आप्रीसूक्त के प्रणयन के अनन्तर ही दूसरे ऋषियों द्वारा दूसरे आप्रीसूक्त देखे गये हैं । श्री दिवेकर के मतानुसार आप्रीसूक्तों के प्रणयन-क्रम में यह आप्रीसूक्त नवम स्थान पर आता है ।[१७] इस विचार के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋषि दीर्घतमा के समक्ष दूसरे ऋषियों के आप्रीसूक्त थे; किं वा दूसरे ऋषियों ने उनके सूक्त को उदाहरण बनाया। यह सत्य है कि गहनतम वेदविद्या का कालनिर्धारण अतिदुष्कर और कदाचित् असम्भव ही है, परन्तु इस सूक्त और दूसरे आप्रीसूक्तों में प्राप्त कुछ समान अंशों या आवृत्तियों को देखकर यह निष्कर्ष सहज सम्भावित है कि दैर्घतमस आप्रीसूक्त श्रुतिपरम्परा में अतीव लोकप्रिय रहा ।

प्रस्तुत आप्रीसूक्त में कुछ ऐसे पद प्रयुक्त हुए हैं, जो संहिता में अन्यत्र अप्रयुक्त या अल्पतया प्रयुक्त हैं । इनसे ऋषि दीर्घतमा की **शब्द-समृद्धि** की विपुलता सुग्राह्य है । 'दैव्या होतारा' का विशेषण पद 'जुगुर्वणी' संहिता में एकमात्र यही प्राप्त है ।[१८] 'देवव्यचस्तमम्', 'स्तृणानासः'[१९] और 'गात्रवेपसे'[२०] पद अन्यत्र कम ही प्रयुक्त हुए हैं । यतस्रुचे, सुतसोमाय, दाशुषे, शशमानस्य, स्तृणानासः इत्यादि कुछ यज्ञप्रक्रिया से सम्बद्ध पदों के प्रयोग से ज्ञात होता है कि ऋषि याज्ञिक प्रक्रिया से सुपरिचित थे । मन्त्रों में काव्यसौण्ठव और प्राणभूत गेयता आलंकारिक वर्णनों से अधिकाधिक परिपुष्ट हुई हैं - कुछ

सङ्केत ही निदर्शनार्थ पर्याप्त हैं, यथा- नक्तोषासा सुपेशसा, घृतवन्तमुप मासि मधुमन्तम्, दिवो देवो देवेषु, पुषण्वते मरुत्वते ।[२१]

अतः ऋषि दीर्घतमा का आप्रीसूक्त अन्य ऋग्वेदीय आप्रीसूक्तों की तुलना में अनेक विशिष्टताओं से संवलित है। दीर्घतमा ऋषि द्वारा दृष्ट ऋग्वेद के पच्चीस सूक्तों में भी इसका विशेष स्थान है ।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. ऋ. १/१३, १/१४२, १/१८८, २/३, ३/४, ५/५, ७/२, ९/५, १०/७०, १०/११०.

२. नि. ८/४-२२; निघ. ५/२.

३. समिद्धो वाग्निस्तनूनपान्नराशंस इळो बर्हिर्देवीर्द्वार उषासानक्ता दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ तिस्रो देव्यः सरस्वतीळाभारत्यस्त्वष्टा वनस्पतिः स्वाहाकृतय इति प्रत्यृचं देवताः । *अनुक्रमणी* १२/१३.

४. बृ.दे. २/१४७-१५०.

५. ऐ.ब्रा. ६/४.

६. सूक्तेऽस्मिन्प्रत्यृचं यास्तु देवताः परिकीर्तिताः ।
ता एव सर्वास्वाप्रीषु द्वितीया तु विकल्पते ।। बृ.दे. २/१५१.

७. ऋ. १/१३, १/१४२.

८. तेषां वासिष्ठमात्रेयं वाध्र्यश्वं गात्र्समदमिति नाराशंसवन्ति । मैधातिथं दैर्घतमसं प्रैषिकमित्युभयवन्ति । अतोऽन्यानि तनूनपात्वन्ति । नि. ८/२२; बृ.दे. २/१५४-५७.

९. आग्नेया इति तु स्थितिः । नि. ८/२२/८.

१०. ऐ.ब्रा. ६/४; समिद्धो अद्येति सर्वेषाम् । आ.श्रौ. ३/२; कीथ, वैदिक *धर्म एवं दर्शन* (अनूदित), द्वितीय भाग, मोतीलाल बनारसीदास, १९६५, पृ. ४०३.

११. Potdar, *Sacrifice in Rigveda*, Bombay, 1953, p. 136; *Journal of the University of Bombay*, XV, Part 2, pp. 39-42.

१२. द्र.–लेखिका की पुस्तक, *ऋग्वेदीय आप्रीसूक्त*, दिल्ली, १९८१, पृ. ९८-९९.

१३. कीथ, *वैदिक धर्म एवं दर्शन* (अनूदित), प्रथम भाग, मोतीलाल बनारसीदास १९६३, पृ. ३१८.
१४. स्वाहाकृतान्या गह्युप हव्यानि वीतये ।
इन्द्रा गहि श्रुधी हवं त्वां हवन्ते अध्वरे ।। ऋ. १/१४२/१३.
१५. यथर्षिवा । आ. श्रौ. ३/२.
१६. गायत्री छन्द - ऋ. १/१३; १/१८८, ५/५, ६/५/१-७.
त्रिष्टुप् छन्द - ऋ. २/३/१-६, २/३/८-११, ३/४, ७/२, १०/७०, १०/११०.
जगती छन्द - ऋ. २/३/७.
अनुष्टुप् छन्द - ऋ. ९/५/८-११.
१७. दिवेकर, *ऋग्वेद-सूक्त-विकास*, ग्वालियर, १९७०, पृ. २५६.
१८. ऋ. १/१४२/८.
१९. ऋ. १/१४२/५.
२०. ऋ. १/१४२/१२.
२१. ऋ. १/१४२/७,२,३,१२.

[**संगमनी**, संस्कृतपत्रिका, संस्कृतसाहित्यपरिषद्, सं. प्रभात शास्त्री, इलाहाबाद, त्रयोविंशवर्ष, तृतीय अङ्क, १९९५, पृ. ४-६ **में संस्कृतमाध्यम से प्रकाशित।**]

* * *

पुरुषसूक्त

पुरुषसूक्त ऋग्वेद-संहिता के दशम मण्डल का ९० वां सूक्त है। यही सूक्त कुछ पाठभेद और क्रमभेद के साथ वाजसनेयिसंहिता, अथर्ववेदसंहिता और तैत्तिरीयारण्यक में भी प्राप्त होता है।[1] सर्वानुक्रमणी में इस सूक्त के ऋषि 'नारायण', देवता 'पुरुष' और छन्द 'अनुष्टुप्' एवं 'त्रिष्टुप्' निर्दिष्ट हैं। इस सूक्त में कुल सोलह मन्त्र हैं। यह सूक्त ऋग्वेद की संहिता के उन कतिपय सुविदित सूक्तों में से एक है, जिनको वैदिक ऋषियों की दार्शनिक उद्भावनाओं के अभिव्यञ्जक होने से 'दार्शनिक' परिभाषित किया जाता है। दार्शनिक सूक्त स्तवनात्मक न होकर मुख्यतः वर्णनात्मक और तथ्यनिरूपणात्मक हैं। सामान्यतया प्रचलित मत के अनुसार इनसे प्रारम्भिक अवस्था का दार्शनिक चिन्तन प्रकट होता है, इसीलिए इनमें अभिव्यक्त विचारों में स्पष्टता और सुसम्बद्धता का अभाव है। यही कारण है कि विद्वानों द्वारा इनकी विविध व्याख्याएँ की गयी हैं। अन्य ऋग्वेदीय दार्शनिक सूक्तों की तुलना में पुरुषसूक्त का चिन्तन और दर्शन अपेक्षाकृत अधिक विशद और क्रमबद्ध है। पुरुषसूक्त में जगत् के मूलकारण पुरुष और उससे हुई सृष्टि जैसे गम्भीर विषयों का विशेषतया प्रतिपादन किया गया है। इस सूक्त का महत्त्व सर्वातिशायी और बहुविध है, क्योंकि यह न केवल ऋग्वैदिक आर्यों की दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारधाराओं का बोधक है, अपितु यह उनकी याज्ञिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अवधारणाओं का भी समान रूप से परिचायक है।

पुरुषसूक्त का देवता **पुरुष** अनन्त और महिमाशाली है। आचार्य सायण के अनुसार यह श्रुतियों में प्रसिद्ध अव्यक्त, महत् आदि से विलक्षण

और चेतन 'विराट्' नामक पुरुष है ।[२] कठोपनिषद् में कहा गया है – महत्तत्त्व से सूक्ष्म अव्यक्त है, उसकी अपेक्षा सम्पूर्ण कारणों के कारण और प्रत्यगात्मरूप होने से पुरुष सूक्ष्मतर एवं महान् है। पुरुष से पर और कुछ नहीं है। वही सूक्ष्मत्व की पराकाष्ठा और परागति है ।[३] अन्यत्र पुरुष को अङ्गुष्ठ-परिमाण वाला, भूत और भविष्यत् का शासक तथा शरीर के मध्य में स्थित कहा गया है ।[४] अन्य उपनिषदों में भी पुरुष का स्वरूप वर्णित है ।[५] इस आधार पर कहा जा सकता है कि उपनिषदों में 'पुरुष' शब्द निश्चित रूप से अमृत, नित्य और अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व का वाचक है। यजुर्वेद और अथर्ववेद की संहिताओं में प्राप्त पुरुषस्वरूप के द्योतक कई मन्त्रों या मन्त्रखण्डों में भी 'पुरुष' नाम की ब्रह्मवाच्यता दर्शनीय है।[६] निस्सन्देह 'पुरुष' शब्द मनुष्यवाची भी है और इस अर्थ में ऋक्संहिता में इसका बहुशः प्रयोग हुआ है ।[७]

निरुक्तकार यास्क ने 'पुरुष' शब्द की त्रिविध निरुक्तियाँ की हैं –(१) पूः + √सद् से, वृत्तिकार दुर्गाचार्य के अनुसार 'पूः' शरीर या बुद्धि है, उसमें जो विषयोपलब्धि के लिए रहता है; अथवा (२) पूः+√शी से, जो शरीर या बुद्धि में सोता है अर्थात् विशेषतया रहता है; अथवा (३) √पॄ (√पूर्) से, अन्दर से सारे जगत् को पूर्ण कर रहा है –अन्तर्यामी होकर सर्वत्र व्याप्त है, वह पुरुष है ।[८] अन्तिम निरुक्ति **पुरुष के परमात्मा** अर्थ को स्पष्टतः अभिलक्षित करती है। एतदर्थ यास्क ने प्रमाणरूप में मन्त्र उद्धृत किया है।[९]

पुरुषसूक्त में स्तूयमान 'पुरुष' संज्ञक देवता अपने नाम के अर्थभेद के कारण विद्वानों द्वारा विविध रूप में व्याख्येय रहा है। सायणाचार्य के पूर्वोक्त अर्थ के समान ही प्राचीन भाष्यकार वेङ्कटमाधव ने 'पुरुष' को 'परोक्ष पुरुष' और महीधर ने 'अव्यक्तमहदादिविलक्षणचेतनपुरुष' के अर्थ में ग्रहण किया है। आधुनिक भारतीय विद्वानों में स्वामी दयानन्द ने यजुर्वेदीय पुरुषसूक्त की व्याख्या में इससे 'सर्वत्र पूर्ण जगदीश्वर' का अभिप्राय लिया है और वेलणकर ने 'सर्वव्यापी और सर्वोत्तम पुरुषोत्तम' का। इससे कुछ भिन्न दृष्टिकोण सत्यभूषण योगी का है। उन्होंने पुरुषसूक्त में पुरुष शब्द से 'अनेक गुणों से विशिष्ट मनुष्य' का अर्थ लिया है और सूक्त के प्रत्येक मन्त्र की मनुष्यार्थ में विशेष व्याख्या की है ।[१०] पाश्चात्य विद्वानों में ए. ए. मैकडॉनल के मत में, जिन्होंने इस सूक्त पर विस्तार से विचार किया है, पुरुष का अर्थ

है – 'आदिम दैत्य' (Primeval giant)। देवता सृष्टि-कर्ता थे, जिन्होंने विश्व की सृष्टि के लिए पुरुषाभिधेय किसी आदिम दैत्य के शरीर को उपादान बनाया था।[११] 'पुरुष' का 'मनुष्य' अर्थ करते हुए भी एच. डी. ग्रिसवोल्ड ने उसे 'विश्व दैत्य' (World-giant) का वाचक माना है।[१२] पिटर्सन ने इस सूक्त में 'पुरुष' की सामान्यरूप में मानव (Man) अर्थ में ही व्याख्या की है।[१३] दूसरी ओर विलसन,[१४] ग्रिफिथ[१५] प्रभृति कई पाश्चात्य विद्वानों द्वारा 'पुरुष' मनुष्य के रूप में उपस्थित विश्व के आदिस्रोत परम आत्मा के अर्थ में भी ग्राह्य है।

सूक्त के पांचवें मन्त्र में दो पुरुषों की चर्चा है। दूसरा 'पुरुष' पहले पुरुष से उत्पन्न **विराज्** से प्रादुर्भूत हुआ है।[१६] दर्शनीय है कि विद्वानों द्वारा की गयी उपर्युक्त व्याख्याएँ प्रथम पुरुष के स्वरूप के सम्बन्ध में ही हैं। सूक्त के प्रारम्भिक चार मन्त्रों में इसी पुरुष के भव्य स्वरूप का वर्णन है– वह सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष और सहस्रपाद है। यहाँ **सहस्र** शब्द 'अनन्त' के अर्थ को उपलक्षित करता है। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को सर्वतः व्याप्त करके उससे दश अङ्गुल अधिक बढ़कर है।[१७] यहाँ **दश** अनियतबहुत्व का सूचक है। पुरुष ही यह सब है, वही भूत, वर्तमान और भविष्यरूप जगत् है। वही अमृतत्व (सायण एवं महीधर के अनुसार देवत्व और उवट के अनुसार मोक्ष) का स्वामी है। सायण की व्याख्या के अनुसार वही प्राणियों के कर्मफलभोग के लिए अपनी कारणावस्था का अतिक्रमण करके परिदृश्यमान जगदवस्था को प्राप्त करता है।[१८] विश्वरूप पुरुष विश्व की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा है। त्रिकालवर्ती प्राणी तो उस पुरुष का चतुर्थांश मात्र है। उसका अमृतरूप तीन चौथाई भाग द्युलोक (सायण के अनुसार द्योतनात्मक स्वप्रकाशस्वरूप) में अवस्थित है।[१९] तीन अंशों से युक्त पुरुष, जो संसार से भिन्न और बाहर है वह ऊर्ध्ववर्ती है और उसका एक अंश ही सृष्टि-संहार आदि के लिए यहाँ स्थित है। अनन्तर वही चेतन-अचेतन के रूप में व्याप्त हो जाता है।[२०] इस प्रकार मन्त्रों में पुरुष देव का जो विश्वरूपत्व, विश्वव्यापकत्व और अमृतत्व प्रतिपादित है, उससे वह सरलतया सर्वप्राणिसमष्टिरूप ब्रह्माण्डदेह विराट्पुरुष के रूप में परिकल्पनीय है। वह सर्वात्मा है, इसीलिए समग्र प्राणियों के शिर आदि उसी के हैं ; फिर भी वह अथवा उसका स्वरूप इयत्ता से रहित है।

पुरुषसूक्त में वर्णित पुरुष देव उपनिषदों में प्रतिपादित सर्वव्यापक, स्वयम्भू, सर्वोत्तम, अनन्त **ब्रह्म** के समकक्ष है। इस सन्दर्भ में एक-दो उपनिषद्-वाक्यों का उल्लेख ही पर्याप्त होगा – जिनमें समान रूप से ब्रह्म को सभी भूतों के अन्दर स्थित और उनके बाहर भी विद्यमान कहा गया है।[२१] कहा जा सकता है कि औपनिषद्-दर्शन में ब्रह्म के स्वरूप-वर्णन और अनेक बार उसके लिए प्रयुक्त 'पुरुष' नाम का आधार प्रस्तुत पुरुषसूक्त ही है। यही नहीं, इस सूक्त में उद्घोषित तथ्य **'पुरुष एवेदं सर्वम्'** निस्सन्देह वेदान्तदर्शन के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' आदि महावाक्यों से सुविख्यात अद्वैतसिद्धान्त का आदिस्रोत है। ग्रिसवोल्ड ने भी इस सूक्त में उपनिषदों और वेदान्तदर्शन में विकसित एकदेववाद के सिद्धान्त का सूत्रपात स्वीकार किया है।[२२] दूसरे मन्त्र में पुरुष को जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण बताते हुए जिस 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद' का बीजारोपण किया गया है, उसका भी वेदान्तदर्शन में प्रमुख सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादन है। अनन्तर विकासप्राप्त आस्तिक दर्शनों में से सांख्य में जिस मूल और अनादि तत्त्व 'पुरुष' को मान्यता दी गयी है, उसका मूलबीज भी ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त का 'पुरुष' माना जा सकता है, यद्यपि दोनों में स्वरूपतः पर्याप्त भेद हैं। ऋग्वेदीय चिन्तकों द्वारा की गयी 'पुरुष' की कल्पना ही ब्राह्मणों में वर्णित 'हिरण्यगर्भ' अथवा 'प्रजापति' के स्वरूप का आधार प्रतीत होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् का विश्वरूप वर्णन प्रस्तुत सूक्त के विराट् पुरुष के चित्र से पर्याप्त प्रभावित है।[२३] निष्कर्षतः कह सकते हैं कि पुरुषसूक्त का दर्शन उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य में प्राप्त आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का मूल और कई दर्शनों के प्रमुख सिद्धान्तों का आधार है।

पुरुषसूक्त के द्वितीय मन्त्र में **सर्वदेववाद** का स्पष्टतया निर्देश है। इस वाद के अन्तर्गत एक देव अथवा तत्त्व को ही विश्वरूप माना जाता है अर्थात् विश्व को एक देव अथवा तत्त्व का ही रूपान्तर माना जाता है। मैकडॉनल ने इस सूक्त को 'भारत में सर्वदेववादी दर्शन का मूल' घोषित किया है।[२४] पाश्चात्य विद्वानों ने ऋग्वेद के धार्मिक विकास के क्रम में तीन वादों की परिकल्पना की है –बहुदेववाद (Polytheism), एकदेववाद (Monotheism) और सर्वदेववाद (Pantheism)।[२५] तदनुसार ऋग्वैदिक ऋषियों की प्रौढ़ दार्शनिक विचारधाराओं का अभिव्यञ्जक होने से पुरुषसूक्त अन्य ऋग्वेदीय

सूक्तों की अपेक्षा उत्तरकालीन सिद्ध होता है। मैकडॉनल ने इसे परवर्ती सूक्तों में ही आम्नात किया है।[२६] ऋग्वेद के धार्मिक और लौकिक सूक्तों से तुलना करने पर दार्शनिक सूक्तों में जो तात्त्विक चिन्तनपरक अभिरुचि दृष्टिगोचर होती है, वह वैदिक चिन्तकों की उत्तरोत्तर विकसित जिज्ञासा और मननशीलता के फलस्वरूप ही सम्भव है। इस दृष्टि से पुरुषसूक्त को ऋग्वेदीय सूक्तों में अपेक्षाकृत उत्तरवर्ती मानना असङ्गत नहीं है।

पुरुष-सूक्त के अधिकांश भाग में 'पुरुष' द्वारा सम्पादित **सृष्टि-प्रक्रिया** का वर्णन है। पांचवें मन्त्र में कहा गया है कि उस आदि पुरुष से विराज् व्यक्त हुआ और फिर उसे ही अधिकरण बनाकर (दूसरा) पुरुष उत्पन्न हुआ। महीधर और सायण के मत में 'ब्रह्माण्डदेह' विराज् है, जिसमें विविध पदार्थ प्रकाशित होते हैं (विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट्)। ग्रासमान ने अपने कोष में विराट् का व्याख्यान 'आदि पुरुष से उत्पन्न आदिसत्व' किया है। ऋग्वेद के जर्मन अनुवाद में गेल्डनर ने इसे 'सृष्ट्युत्पत्ति का नारीतत्त्व' माना है। वेलणकर के मत में यह वह नारीतत्त्व है, जो दूसरे यज्ञिय पुरुष के जन्म में समर्थ है।[२७] अतः सर्वात्मक मूल पुरुष और परवर्ती सृष्टि के उपादानभूत यज्ञिय पुरुष के मध्य प्रादुर्भूत 'विराज्' नामक महत्त्वपूर्ण तत्त्व विद्वानों द्वारा विविध रूप में व्याख्येय है। उससे जायमान पुरुष भी अत्यन्त विशाल कहा गया है, क्योंकि वह उत्पन्न होते ही भूमि के आगे और पीछे से उससे भी अधिक बढ़ जाता है।[२८] इसी 'उत्पन्न पुरुष' को सामान्य हवि मानकर सृष्टिकर्ता देवों ने सृष्टि के लिए मानसिक यज्ञ का अनुष्ठान किया।[२९] उस जगत्सृष्टि रूप यज्ञ का कर्तृत्व देवों को दिया गया है, परन्तु उस अनुष्ठान में देवों के साथ साध्यों और ऋषियों ने भी भाग लिया था।[३०] वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतुएं उस यज्ञ में सामग्री के रूप में प्रयुक्त की गयी थीं।[३१] विराज् से उत्पन्न उस यज्ञसाधनभूत पुरुष को देवताओं ने जल छिड़क कर पवित्र किया[३२] और यज्ञिय पशु के रूप में बांधा।[३३] वह यज्ञ 'सर्वहुत्' था,[३४] क्योंकि सर्वात्मक पुरुष ही उसमें हव्यरूप में समर्पित किया गया था; अनन्तर वही सृष्टि के रूप में परिवर्तित होने लगा। उस यज्ञ के परिणामस्वरूप विविध वायव्य, आरण्य और ग्राम्य पशु उत्पन्न हुए।[३५] ऋक्, सामन्, छन्दस् और यजुष् उत्पन्न हुए।[३६] उसी सृष्टि-यज्ञ से अश्व, गाय आदि पशुओं की उत्पत्ति हुई।[३७] पुरुष के विविध अवयवों से अथवा उनके रूप में ब्राह्मणादि

चारों वर्ण,[३८] चन्द्र, सूर्य आदि देवता[३९] और अन्तरिक्ष आदि लोक[४०] भी उसी सृष्टि-यज्ञ से प्रादुर्भूत हुए। इस प्रकार इस सूक्त में सृष्टि का रूपक देकर समस्त संसार की सृष्टि उस (दूसरे) पुरुष से निर्दिष्ट की गयी है।

सृष्टि-यज्ञ का साधनभूत और विराज् से उत्पन्न यह पुरुष संवत्सररूप प्रजापति प्रतीत होता है। सायण ने स्पष्टतः १२, १३, १४ और १६ सङ्ख्यक मन्त्रों की व्याख्या में इससे प्रजापति का ग्रहण किया है। ब्राह्मणों में जगत् स्रष्टा का नाम **प्रजापति** है। इसे 'हिरण्यगर्भ' की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है।[४१] पुराणों में इसे ही 'ब्रह्मा' कहा गया है। इस पृष्ठभूमि में डॉ. रामगोपाल का मन्तव्य ध्यान देने योग्य है - 'आदि पुरुष से विराज् अर्थात् 'सबको नियम में रखने वाली शक्ति' उत्पन्न हुई और उस शक्ति से संवत्सर अर्थात् कालगति उत्पन्न हुआ। शतपथब्राह्मण तथा गोपथब्राह्मण में पुरुष को 'संवत्सर' कहा गया है। ब्राह्मणों में अन्यत्र संवत्सर को 'प्रजापति' भी कहा गया है।[४२] पुरुषसूक्त में वर्णित सृष्टिसम्बन्धी दृष्टिकोणों के मूल में वैदिक आर्यों की यह बलवती धारणा है कि सर्वात्मक पुरुष ही विश्व की सृष्टि का उपादान कारण और निमित्त कारण है। वही जगत् में विविध रूपों में उत्पन्न होता है, किन्तु वह उतना ही नहीं है! स्वरूपतः वह इससे कहीं अधिक बड़ा है।

सृष्टि के सर्जनकार्य पर यज्ञकर्म का आरोपण और विश्वस्रष्टा पुरुष की **यज्ञिय पशुरूप** में कल्पना ऋग्वैदिक आर्यों के जीवन में यज्ञ की प्रधानता के सूचक हैं। उन्होंने सृष्टि के उत्पादन की व्याख्या को सुकर करने के लिए सहज रूप में यज्ञ को माध्यम बनाया है। वेलणकर के शब्दों में कह सकते हैं, 'इस सूक्त की रचना के समय यज्ञसंस्था का पर्याप्त प्रचार हो चुका था और यज्ञकर्म को आर्यों के जीवन में केन्द्रीय स्थान प्राप्त था। असल में समूचे संसार की उत्पत्ति को भी एक तरह का यज्ञकर्म मानने की धारणा प्रचलित थी।'[४३] १५ और १६ सङ्ख्यक मन्त्रों की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि यह १५ वीं ऋचा यज्ञ के कतिपय खास आचार जैसे परिधियों और समिधाओं की विशिष्ट संख्या तथा पशुबन्धन से सम्बद्ध है और बाद की ऋचा में यह विधान किया गया है कि इस यज्ञ के अवसर पर देवों द्वारा स्वीकृत विशिष्ट आचार बाद के सभी यज्ञों के लिए आधार सिद्ध हुए। इस प्रकार उन्होंने यहाँ यज्ञ के आचार-विशेषों का उल्लेख माना है, जिसको स्वीकार

करने पर पुरुषसूक्त का याज्ञिक महत्त्व बढ़ जाता है। यही नहीं, **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**–से इस सूक्त में यजन-साधन और यजनीय की जो तादात्म्य-प्रतीति होती है, उससे ही वैदिक धर्म में आध्यात्मिक उपासनाओं का सूत्रपात माना जाता है, जिसका विकास अनन्तर आरण्यकों और उपनिषदों में है। यही विचार गीता में भी उपलब्ध है।[४४]

ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त में चारों वर्णों के नाम और उत्पत्ति का वर्णन[४५] निस्सन्देह वर्णों के उद्गम का प्राचीनतम उल्लेख है। ऋक्संहिता में एकमात्र इसी स्थान पर **वर्णचतुष्टय** का निर्देश है। इसके अनुसार सृष्टियज्ञ में हुत पुरुष का मुख ब्राह्मण था, भुजाओं को क्षत्रिय बनाया गया, इसकी जङ्घाएँ वह बनी, जो वैश्य हैं और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ। इस प्रकार विश्वरूप पुरुष के मुख आदि ब्राह्मण आदि हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य उस पुरुष के अङ्गरूप हैं, जबकि शूद्र को पुरुष के पैर से उत्पन्न हुआ बताया गया है। इससे ध्वनित होता है कि मन्त्र की रचना से पूर्व समाज चार वर्णों में विभाजित हो चुका था। ब्राह्मणादि तीन वर्ण व्यवस्थित हो चुके थे और शूद्र वर्ण अपने व्यवस्थित रूप को प्राप्त कर रहा था। अनेक आधुनिक विद्वानों ने पुरुषसूक्त में प्राप्त इस चतुर्विध विभाग को इस सूक्त के उत्तरकालीन होने का परिचायक माना है। इसी मन्त्र को वर्ण-निर्धारण में कर्म की महत्ता सिद्ध करने के लिए प्रमाण के रूप में उद्धृत किया जाता है। जिस प्रकार यहाँ चातुर्वर्ण्य की उत्पत्ति 'पुरुष' से बतायी गयी है, उसी प्रकार गीता में ईश्वर से।[४६] वर्णों की उत्पत्ति का यही क्रम मनुस्मृति को मान्य है। हॉग ने इस मन्त्र की लाक्षणिक व्याख्या की है, जो पर्याप्त अर्थपूर्ण है -"ब्राह्मण उस प्रथम तत्त्व, पुरुष के मुख से नहीं निकला है, वरन् पुरुष का मुख ही ब्राह्मण वर्ण बन गया है अर्थात् उसमें परिवर्तित हो गया है। मुख ही वाणी का आश्रय है, अतः इस रूपक से सङ्केत मिलता है कि ब्राह्मण ही मनुष्यों के गुरु तथा शिक्षक थे। भुजाएँ शक्ति का आधार हैं। यदि यह कहा गया है कि पुरुष की दोनों भुजाएँ क्षत्रिय (योद्धा) बन गयीं, तो इसका अर्थ है कि साम्राज्य की रक्षा के लिए क्षत्रिय को शस्त्र-वहन करने हैं। पुरुष की जंघाओं के वैश्य में परिवर्तित हो जाने का अर्थ है– क्योंकि ग्रहण किये गये अन्न के भंडार प्रमुख रूप से शरीर के निम्न भाग ही हैं, अतः वैश्य वर्ण के लिए निर्देश है कि वह दूसरों के लिए अन्न का प्रबन्ध करें। पुरुष के पैरों से शूद्र की

उत्पत्ति से सङ्केत मिलता है कि वह दूसरों की सेवा के कार्य में उसी प्रकार से नियुक्त है, जिस प्रकार पैर एक दृढ़ अवलम्बन के रूप में शरीर के अन्य भागों की सेवा करते हैं।"[४७] अतः इस मन्त्र से वर्णों की तत्कालीन सामाजिक स्थित और कर्मों पर प्रकाश पड़ता है। इसमें चारों वर्णों को मानवसमाजरूप पुरुष-शरीर में अङ्गस्थानीय मानने से ध्वनित है कि जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अङ्ग का महत्त्व न्यूनाधिक होते हुए भी पृथक् और विशेष है और शरीर की पूर्णता सभी अङ्गों पर निर्भर है; उसी प्रकार यद्यपि गुणों और कर्मों की विभिन्नता और महत्ता के आधार पर वर्णों को ब्राह्मण आदि के क्रम में रखा जाता है, तथापि समाज में सबकी सत्ता उपयोगी और अनिवार्य है। अतः यह मन्त्र वेदकालीन सामाजिक उदारता का पोषक है।

वैदिक मन्त्रों के तीन प्रकारों– **ऋक्, सामन् और यजुष्**-का प्राचीनतम उल्लेख पुरुषसूक्त में प्राप्त है।[४८] अतः कहा जा सकता है कि प्रस्तुत सूक्त की रचना से पूर्व अनेक ऋचाओं, सामों और यजुषों की रचना हो चुकी होगी, जिनको ही बाद में संहिताओं में सङ्कलित किया गया। सृष्टियज्ञ से वैदिक वाङ्मय की उत्पत्ति का उल्लेख और सूक्त में मन्त्रविशेषों की नामतः चर्चा सूक्त के सांस्कृतिक महत्त्व को बढ़ा देती है। यद्यपि वेङ्कटमाधव, सायण आदि भाष्यकारों ने 'छन्दस्' से अथर्ववेद का ग्रहण नहीं किया है, तथापि कुछ विद्वान् इससे अथर्ववेद का अभिप्राय लेने के पक्ष में हैं।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि वैदिक आर्यों की विविध विचारधाराओं को प्रतिबिम्बित करने वाला ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त वेद के जिज्ञासुओं के लिए अनेकानेक दृष्टियों से अध्येय है।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. वा.सं. ३१/१-१६; अथर्व. १९/६; तै.आ. ३/१२.
२. अव्यक्तमहदादिविलक्षणश्चेतनो यः पुरुषः। ऋ.सा.भा. १०/९०.
तुलनीय-वेदान्तसूत्र १/४/१.
३. महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥
कठ.उप. १/३/११.

४. अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।।

कठ.उप. २/१/१२,१३

५. तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः । बृह.उप. २/५/१.
स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः । बृह.उप. २/५/१८.
हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः । बृह.उप. ४/३/७.
हिरण्मयः पुरुष एकहंसः । बृह.उप. ४/३/११.
तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् । श्वे.उप. ३/६.
य एवैष आदित्ये पुरुषस्तमेवाहमुपासे । कौ.उप. ४/३.
अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः । छा.उप. ३/१४/१.
षोडषकलः सोम्य पुरुषः । छा. उप. ६/७/१.

६. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।। यजु. ३१/१८.
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ।। यजु. ४०/१७.
ब्रह्मश्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम् ।
ब्रह्मेममग्निं पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे ।। अथर्व. १०/२/२१.
सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३ ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ।। अथर्व. १०/२/२८.

७. ऋ.सा.भा. १/११४/१०, ७/५७/४, ७/७५/८ इत्यादि.

८. पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा । नि. २/३/१.

९. यस्मात्परं नावरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।।

श्वे. उप. ३/९.

१०. सत्यभूषणयोगी, *वेदसमुल्लासः*, दिल्ली, १९७५, पृ. ८०.

११. A.A. Macdonell, *A History of Sanksrit Literature*, 1965, p.112.

१२. H. D. Griswold, *The Religion of the Rigveda*, Varanasi, 1971, p. 346.

१३. P. Peterson, *Hymns from the Rigveda*, Poona, 1959, p. 329.

१४. H. H. Wilson, *Rigveda*, Vol. VI, 1928, p. 165.

१५. R. T. H. Griffith, *Hymns of the Rigveda*, Vol, II, Varanasi, 1963, p. 517.

१६. तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः । ऋ. १०/९०/५.
१७. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्त्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।। ऋ. १०/९०/१.
१८. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।। ऋ. १०/९०/२.
१९. एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।। ऋ. १०/९०/३.
२०. त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ।। ऋ. १०/९०/४.
२१. एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।
कठ.उप. २/२/१०.
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः । ईशा.उप. ५.
२२. Griswold, *The Religion of the Rigveda*, 1971, p. 346.
२३. सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।। गीता. १३/१३.
२४. 'The starting point of the pantheistic philosophy of India'- Macdonell, *Vedic Reader for Students,* 1917, p. 195.
२५. Griswold, *The Religion of the Rigveda*, pp. 342-344.
२६. Macdonell, *A History of Sanskrit Literature*, p. 113, Macdonell, *Vedic Reader for Students*, p. 195.
२७. वेलणकर, *ऋक्सूक्तवैजयन्ती*, १९६५, पृ. ३८४.
२८. स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः । ऋ. १०/९०/५.
२९. यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत । ऋ. १०/९०/६.
३०. तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये । ऋ. १०/९०/७.
३१. वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्हविः । ऋ. १०/९०/६.
३२. तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः । ऋ. १०/९०/७.
३३. देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् । ऋ. १०/९०/१५.
३४. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः । ऋ. १०/९०/८.
३५. पशून्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये । ऋ. १०/९०/८.
३६. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ।। ऋ. १०/९०/९.

३७. तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ।। ऋ. १०/९०/१०.

३८. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।। ऋ. १०/९०/१२.

३९. चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ।। ऋ. १०/९०/१३.

४०. नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ।। ऋ. १०/९०/१४.

४१. ऋ. १०/१२१; तै.सं. ५/५/१/२.

४२. शत.ब्रा. १२/२/४/१; गो.ब्रा.पू. ५/३/५; ऐ.ब्रा. १/१३, २/१७, ४/२५; शत.ब्रा. २/३/३/१८, ३/२/२/४, ११/१/६/१३ इत्यादि; रामगोपाल, *वैदिक व्याख्याः विवेचन*, १९७६, पृ. २१४.

४३. वेलणकर, *ऋक्सूक्तवैजयन्ती*, पृ. ३८२.

४४. ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । गीता. ४/२४.

४५. ऋ. १०/९०/१२; तु.- तै.सं. ७/१/१/४.

४६. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः । गीता. ४/१३.

४७. Ghate's *Lectures on Rigveda*, Poona, 1966., p. 170-71 पर उद्धृत ।

४८. ऋ. १०/९०/९; तु.-अथर्व. ११/७/२४.

[**वैदिक दर्शन**, सं. डॉ. रघुवीर वेदालंकार, दिल्ली, १९८७, पृ. ८६-९५, **में प्रकाशित ।**]

***

मानवमूल्यों का स्रोत 'ऋग्वेद'

नीतिशास्त्रनिर्माता मनु ने 'धर्म' को जानने के चार साधन बताये हैं—श्रुति, स्मृति, सदाचार और अन्तरात्मा का निर्णय ।[१] तदनुसार वेद में विहित नियम ही सर्वोच्च नैतिक मानक हैं । कर्मों के औचित्य और अनौचित्य से सम्बद्ध, जो उपदेश वेदों में दिये गये हैं, उनको ही विस्तार से स्मृतिकारों ने प्रतिपादित किया है । रामायण, महाभारत आदि इतिहासग्रन्थों ने महापुरुषों के सदाचरण द्वारा उनकी परिपुष्टि की है । पुरुषार्थानुशासन में कहा गया है कि 'धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये', अर्थात् धर्म और ब्रह्म एक मात्र वेद द्वारा ही जानने योग्य हैं ।[२] वैदिक और भारतीय संस्कृति की धारा का उद्गम वेद से हुआ है, जैसे गंगा का उद्गम गंगोतरी से । भारतीय परम्परा की दृष्टि से मनुस्मृति ने वेदों के महत्त्व को बहुशः गाया है :-

- वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ।[३]
- सर्वज्ञानमयो हि सः ।[४]
- चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
  भूतंभव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ।।[५]
- वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ।[६]
- धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ।[७]

वेद अखिल धर्म का मूल हैं । वे परम प्रमाण हैं । सब कुछ वेदाश्रित है । मनु के अनुसार **वेदश्चक्षुः सनातनम्** अर्थात् वेद सनातन चक्षु हैं, क्योंकि सब ऋषि, मुनि, योगी, कवि आदि उसी के द्वारा देखते हैं । तात्पर्य है कि हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति, हमारी आचारप्रणाली और हमारा जीवन-दर्शन सब कुछ वेद की देन है । 'अवस्था, अधिकार, सम्बन्ध और

स्थान आदि के भेद से मनुष्य के जीवन में जो विभिन्न प्रसङ्ग उपस्थित होते हैं, उन सबकी दृष्टि से मार्ग-प्रदर्शन की क्षमता का होना, वैदिक संस्कृति की मुख्य विशेषता रही है। मनुष्य-जीवन के कर्तव्यों के विषय में वैदिक संस्कृति का दृष्टिकोण, एकांगी या एकदेशी न होकर सदा से व्यापक रहा है। इसीलिए विभिन्न प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वह लुप्त या नष्ट न होकर अपने को अब तक जीवित रख सकी है। यही उसके भारतीय संस्कृति के विकास में व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव का रहस्य है।'[८]

भारतेतर देशों और हिन्दूधर्म से भिन्न अन्य भारतीय बौद्ध आदि धर्मों के लिए 'वेद' नीति का परम प्रमाण नहीं है, फिर भी कहा जा सकता है कि वेदों में भारतीय नैतिक चिन्तन का महास्रोत उपलब्ध है। सब प्राणियों में आत्मतत्त्व का दर्शन करने वाले, ऋत और सत्य के पुजारी, वर्णाश्रम-पद्धति पर समाज की संरचना करने वाले वैदिक ऋषियों द्वारा मनुष्य-मात्र के लिए उपयोगी प्रेरणाओं और शाश्वत आदर्शों की प्राथमिक स्थापना यही की गयी है। पूजनीय आद्य ऋषियों द्वारा वैदिक संहिताओं में प्रतिष्ठित उदात्त विचार सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं।

वैदिक वाङ्मय का अनन्यतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' भारतवर्ष की प्राचीनतम साहित्यिक निधि है। इससे ही भारतीय ज्ञान और संस्कृति की शाश्वत एवं अविच्छिन्न धारा आज तक निर्बाध रूप से प्रवाहित हो रही है। इसीलिए भारतीय नैतिक विचारों और जीवन-मूल्यों के मूल तथा चिरन्तन स्वरूप का दिग्दर्शन एकमात्र ऋग्वेद से सम्भव है। कालान्तर में मनुष्य द्वारा सामाजिक व्यवहार के अनुरूप नीतिविषयक विचारों में विकास और परिवर्तन हुए हैं। तथापि जिन नैतिक मान्यताओं और जीवन मूल्यों को आज भारतीय जनजीवन में महत्त्व प्रदान किया जाता है, वे ऋग्वैदिक ऋषियों द्वारा स्थापित आदर्शों और आचारिक तत्त्वों से कथमपि भिन्न नहीं हैं।

सामान्य धर्म और मानव मूल्य

'मानवमूल्य' मानवीय अन्तरात्मा के वे महान् गुण या आदर्श हैं, जो मनुष्य को मानवीय कल्याण एवं लोकमंगल के महत्तम संकल्पों के लिए प्रेरित करते हैं। इनकी महत्ता क्रियाशील जीवन में ही होती है। मानव-मूल्य उत्कर्ष में तभी सहायक होते हैं, जब वे आचरण का अङ्ग बन जाते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से मानव-मूल्य और मानव के सामान्य धर्म में अधिक अन्तर नहीं है।

धर्मशास्त्रों का एक सामान्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक युग में उसकी आवश्यकता के अनुसार 'धर्म' के बाह्यरूप में परिवर्तन होता रहा है- मनुष्य की श्रुति, शौच और आचार सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार बदलते रहते हैं,[९] परन्तु वे आदर्श और मूल्य, जो मनुष्य की मनुष्यता और मानव की मानवता का आधार हैं - शाश्वत और स्थायी रहते हैं । भारतीय संस्कृति में जिन मानवीय मूल्यों को दृढ़तापूर्वक अंगीकार किया गया है, वे सदा और सर्वत्र समान ही रहते हैं । मानव के धारकतत्त्व होने से वे 'धर्म' कहलाते हैं । धर्म ने सारी प्रजा को धारण किया है, अतः जिससे धारण और पोषण सिद्ध होता है, वही 'धर्म' है ।[१०] धर्म अधोगति में जाने से बचाता है और जीवन की रक्षा करता है । शास्त्रीय दृष्टि से जो 'मानव-धर्म' है, वही व्यावहारिक दृष्टि से मानव-मूल्य हैं । मनु ने मनुष्यमात्र के लिए आचरणीय धर्म के दस अङ्ग बताये हैं – धृति क्षमा, दय, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध ।[११] इसमें भी पांच को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह ।[१२] भागवतपुराण में सत्य, तप आदि तीस अङ्गों का निर्देश है ।[१३] जिन मानवीय धर्मों को कालान्तर में स्मृतियों और पुराणों ने वर्गीकृत और पारिभाषित करते हुए व्यापक दृष्टि से विवेचित किया और आज तक भारतीय समाज में जिनकी प्रतिष्ठा है, उनका प्रथम उन्मेष ऋग्वेद में ही प्राप्त होता है। वे ऋग्वेद से ही प्रचारित हुए थे– इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । यहाँ ऋक्संहिता के आलोचनात्मक विश्लेषण द्वारा ऋग्वैदिक आर्यों के आदर्श उदात्त विचार और उनके द्वारा मान्य जीवन-मूल्य अध्येय है ।

जीवन-लक्ष्य

सत्य, शिव और सुन्दर–हमारी जीवन-यात्रा के अन्तिम परम मूल्यवान् लक्ष्य हैं । इनकी उपलब्धि व्यक्ति को आनन्दमयी स्थिति में पहुंचा देती है। नैतिकता का चरम लक्ष्य सुख और प्रसन्नता है । ऋग्वैदिक मन्त्रों में आर्यों द्वारा एक सुखमय और शान्तिपूर्ण जीवन की कामना की गयी है । प्रार्थनाओं द्वारा उनका यह अभिलषित जीवन-लक्ष्य अनुमान-योग्य है । ऋग्वेद की अधिकांश प्रार्थनाएँ सामान्य सुख और शान्ति के लिए हैं । शिव, स्वस्ति, भद्र, शम्, सौभग, कल्याण, श्रेयस्, शर्म इत्यादि शब्दों द्वारा ऋचाओं में सुख,

कल्याण, प्रसन्नता और शान्ति काम्य रहे हैं। सब देवताओं से 'स्वस्ति' और 'भद्र' याचनीय है। मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु आदि से सुखकारी और शान्तिप्रद होने की प्रार्थना है। कितनी ही प्रार्थनाएँ जीवन में सुखार्थ भौतिक उपलब्धियों की आवश्यकता, सुखभोगार्थ दीर्घ और निरोगी जीवन की अपेक्षा और सुख की उत्तमता के लिए बुद्धि, यश आदि अमूर्त तत्त्वों और भावों की महत्ता की पूरक हैं। जीवन में बहुविधसम्पन्नता के लिए कुछ निषेधात्मक कामनाएँ भी की गयी है, जैसे- रोगों की शान्ति, पापराहित्य, शत्रुनाश, दरिद्रता से मुक्ति आदि। ऋग्वैदिक आर्यों की दृष्टि में जीवन का महान् उद्देश्य अमरता या स्वर्गप्राप्ति है। **शरदः शतम्** तक जीने की इच्छा में अमृतत्वप्राप्ति की कामना का प्रारम्भिक रूप दिखायी देता है।[१४]

प्रमुख मानव-मूल्य

मानवीय जीवन के लक्ष्यों की सिद्धि में सहायक होते हैं - कुछ कर्तव्य, कुछ अकर्तव्य, कुछ आचार और कुछ मूल्य। अत एव मन्त्रों में आचारों और मानवीय मूल्यों का ऋषियों द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिपादन किया जाना नितराम् स्वाभाविक है। ऋग्वेद में जिन मानव-मूल्यों का प्रमुखतः वर्णन है, वे हैं– ऋत, सत्य, आध्यात्मिकता, एकात्मकता, अहिंसा, मैत्री, अभय, विवेकबुद्धि, दानशीलता, पवित्रता, परिश्रम, समताभावना, माधुर्य और कल्याणभावना।

(१) नैतिक मूल्यों का अधिष्ठाता–ऋत

ऋग्वेद में प्रतिपादित चरित्रगुणों में 'ऋत' को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। मन्त्रों में 'ऋत' की बड़ी मनोरम और मौलिक कल्पना है। इसकी धारणा बहुत स्पष्ट नहीं है। विद्वानों द्वारा अलग-अलग प्रकार से इसकी विवेचना की गयी है। ऋग्वेद के आधार पर कहा जा सकता है कि दैवी जगत् में 'ऋत' वह अनन्त और शाश्वत विधान है, जिसके अधीन धरती, आकाश, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, दिन, मास एवं ऋतुएँ- सब मर्यादित होकर अपने-अपने कार्यों में संलग्न रहते हैं। अतः जगत् की व्यवस्था के सिद्धान्त को ही 'ऋत' कहा गया है। सामान्यतया ऋग्वेद में यह शब्द तीन प्रमुख विचारों का सूचक है - ब्रह्माण्डनियम, यज्ञ के धर्म की नियमितता और नैतिक नियम।[१५]

ऋत सदाचार का मानदण्ड है। जहाँ यह कार्य करता है, वहाँ अव्यवस्था या दुराचार रह ही नहीं सकते हैं। ऋचाओं में देवताओं को ऋत से उत्पन्न, ऋत के पालक, ऋत के प्रेमी और ऋत से सम्पन्न बताया गया है। ऋत की महत्ता गाते हुए ऋषि वामदेव ने कहा है कि उसकी शक्तियाँ बहुत है। वह अनेक प्रकार से सुख और शान्ति का स्रोत है। उसकी भावना पापों और दुःखों को नष्ट करती है। माना गया है कि ऋत के मार्ग से जाने वाले सुगम और कण्टकरहित मार्ग पाते हैं। ऋत के अनुसार चलना ही व्रत है। ऋत का पन्थ दुःखों से पार होने के लिए अच्छा है। **नैतिक शासक वरुण** ऋत के अधिष्ठाता और सर्वोच्च नियामक देव हैं। वे स्वयं 'ऋतव्रत' हैं। जो ऋत का पालन नहीं करता, उसके लिए वरुण से पाश सदा तैयार रहते हैं। अतः ऋत के अनुसार चलना ही प्रधान ऋग्वैदिक सदाचार है। ऋषि का विश्वास है कि ऋत ही अमृतत्व-प्राप्ति का माध्यम है।[१६] वरुण के 'ऋत' में ही हमें सर्वप्रथम मानवों के लिए निर्धारित नैतिक कार्यक्रम के दर्शन होते हैं, जिसके अनुसार जीवन को अनुशासित करना प्रत्येक का कर्तव्य है। वरुण के ऋत से प्रेरणा प्राप्त करके ही प्राचीन भारतीयों ने नैतिकता के नियमों को जन्म दिया था, जिनको हम यम, नियम आदि के रूप में आज भी आचारशास्त्रों में देखते हैं। मनु का दशलक्षणयुक्त धर्म भी उसी के आधार पर विकसित हुआ था। अतः जो वैदिक काल में 'ऋत' था, वही बाद में 'धर्म' कहलाया है। ऋग्वेद के अनुसार 'ऋत' मानवीय जीवन का वह महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जो हमें सचेत करता है कि जीवन में उत्कर्ष और लक्ष्य को पाने के लिए नैतिक नियमों और प्राकृतिक व्यवस्थाओं का अनुपालन नित्यप्रति किया जाना चाहिए।

(२) जीवन का आधारभूत तत्त्व–सत्य

ऋत के समकक्ष ही दूसरा तत्त्व सत्य है। ऋग्वेद के अनुसार महान् दीप्तिमान् तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए हैं।[१७] ये दोनों अटल नियम हैं। समस्त विश्व इनके कारण सुचारु रूप से चल रहा है। संसार को यदि ऋत चलाता है, तो मानव-जीवन को सत्य चलाता है। ऋत ही मानव-जीवन में सत्य कहलाता है। मनुष्य-जीवन में सुख और सम्पत्ति की इच्छाओं का ऋत और सत्य के द्वारा नियन्त्रण होना चाहिए। कष्ट सहकर भी मनुष्य को सत्य के मार्ग पर दृढ़ रहना चाहिए। सातवलेकर की समीक्षा

है कि 'ये दोनों ही मानव के व्यवहार में आने चाहिए'। ऋत और सत्य का मूल यौगिक भाव है -प्रगति और अस्तित्व'।[१८] सत्य की श्रेष्ठता के विषय में प्रतिपादन है कि ज्ञानी मनुष्य जानते हैं कि सत्य और असत्य में प्रतियोगिता चलती रहती है। ये परस्पर विरोधी हैं। इन दोनों में जो सत्य और सरल होता है, सोम उसकी रक्षा करता है और जो असत्य होता है, सोम उसका नाश करता है।[१९] सोम कुटिलता और असत्यवक्ता को विनष्ट कर देता है।[२०] वचन और कर्म दोनों से ही सत्य के पालन की प्रतिज्ञा की जानी चाहिए।[२१] निहित उपदेश है कि प्रत्येक मनुष्य के लिए ऋत और सत्य नियमपूर्वक पालन करने योग्य हैं।

(३) आध्यात्मिकता

ज्ञान की महान् राशिरूप वेदों को भारत के सम्पूर्ण आध्यात्मिक चिन्तन का मूल स्रोत स्वीकार किया जाता है।[२२] समग्र भारतीय चिन्तन का वैशिष्ट्य अध्यात्मचिन्तन में है। इसे ही परमानन्द की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति का मूल माना जाता है। आध्यात्मिक चिन्तन-धारा की गंगोत्री ऋग्वेद है, जिससे परमपुरुषार्थ मोक्ष, कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्मसिद्धान्त, प्राणविद्या आदि से सम्बन्ध धारणाएँ समुद्भूत होकर, अनन्तर भारतीय दर्शनों में पृथक्तया विकसित होती गयी हैं। हम कौन हैं ? विश्व किस तत्त्व से बना है? ऐसे प्रश्नों के उत्तरों को खोजने का प्रयत्न दर्शन को जन्म देता है। अतः दर्शन का प्रारम्भिक स्वरूप आत्मविषयक ज्ञान से सम्पादित होता है। आध्यात्मिक ज्ञान का प्रथम सोपान सदाचार है, जिसे 'धर्म' कहते हैं। धर्म और ब्रह्म प्रामाणिक रूप से वेद द्वारा ज्ञेय हैं। चारों वेदों में ऋग्वेद अपूर्व और प्राचीनतम ज्ञानराशि होने से भारतीयों की आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं धार्मिक उद्भावनाओं का मूल है। अध्यात्मप्रवीणता भारतीय संस्कृति का मूलभूत स्वरूप है। इसको प्राथमिकता देने का अर्थ है– जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आत्मानुशासन को स्वीकार करना।

(४) एकात्मकता

वैदिक दर्शन की मौलिक विशेषता है - एकत्वानुभूति। वैदिक ऋषियों के बहुदेववाद में एकात्मवाद अन्तर्निहित है। विविध नामों से देवताओं की स्तुतियाँ बहुदेववाद की प्रवर्तक प्रतीत होती हैं, किन्तु ऋषियों ने सभी देवतत्त्वों

में एक दिव्य शक्ति का दर्शन किया था। इन्द्र, वरुण, पूषा, रुद्र आदि देवों की स्तुति करती हुई और उनके माहात्म्य का प्रतिपादन करती हुई भगवती श्रुति एक देवोपासना का निर्देश करती है। उनके अनुसार देवों की विभिन्नता केवल नामों में है, स्वरूप में नहीं। **महद् देवानामसुरत्वमेकम्** अर्थात् देवताओं का महान् सामर्थ्य एक ही है– यह एक सूक्त के प्रत्येक मन्त्र में दोहराया गया है।[२३] आचार्य यास्क ने कहा ही है कि देवता की उत्कृष्ट महिमा के कारण एक ही आत्मा की स्तुति अनेक प्रकार से की जाती है। अनेक देवता एक ही आत्मा के भिन्न-भिन्न रूप हैं।[२४] जगत् के मूल में निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी एक शक्ति की सत्ता मानी गयी है। वैदिक देवताओं की आध्यात्मिक एकता का प्रतिपादन ऋचाओं में किया गया है कि एक को ही विद्वान् लोग विविधरूपों में कहते हैं।[२५] यह एक विश्वशक्ति हिरण्यगर्भ, पुरुष, प्रजापति, विश्वकर्मा आदि नामों से प्रख्यात है।[२६] अतः ऋग्वैदिक आदर्श बहुत्व में एकात्म की प्रतिष्ठा करता है।

(५) अहिंसा

उल्लेखनीय वैदिक आचारों में 'अहिंसा' प्रमुख है। आर्यों ने अपने देवताओं को हिंसारहित, अहिंसक आदि गुणों से विभूषित किया है।[२७] देवों से हिंसारहित धन प्रार्थनीय है।[२८] इसी प्रकार अहिंसक बुद्धि की याचना की गयी है।[२९] इन्द्र हिंसकों और दुष्ट हन्ता शत्रुओं के विनाशक देवता हैं। मन्त्रों में हिंसकों के विनाश और अहिंसकों की सुरक्षा की कामनाएँ वैदिक आर्यों की अहिंसा में दृढ़ आस्था व्यक्त करती हैं। स्पष्ट ही ऋग्वेद में अहिंसा-भावना को मानव-मूल्य के रूप में नैतिक मान्यता दी गयी है।

(६) मैत्री

निरुक्त के अनुसार जो अकल्याण से बचाता है अथवा समान मनोभाव वाला होकर द्रवित होता है, वह 'मित्र' है।[३०] वेद में सब प्राणियों को मित्रवत् देखने की कामना की गयी है। देवों से मित्रता चाही गयी है, जिससे वे समय पर सहायक हों। सबके प्रति सहानुभूति, सहयोग, प्रेम और उपकार के भाव मानसिक संकीर्णता त्याग कर व्यापक दृष्टि का ग्रहण करने पर ही सम्भव हैं। इसलिए प्राणिमात्र के लिए मैत्रीभाव या मित्र-दृष्टि अपेक्षित है। यजुर्वेद में कामना है- 'सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं सब प्राणियों

को मित्र की दृष्टि से देखूं। हम सब प्राणी परस्पर एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें।'[३१] ऋग्वैदिक ऋषि का यह प्रतिपादन भी मैत्री भावना की ही प्रशस्ति है-'जो विद्वान् मित्र को छोड़ देता है, उसकी वाणी में कोई फल नहीं है, वह जो कुछ सुनता है, व्यर्थ ही सुनता है। वह सत्कर्म का मार्ग नहीं जानता है।'[३२] मित्र के हित की सदा आकांक्षा करना मित्रता का सबसे बड़ा गुण माना गया है। इन्द्र को हितकारी मित्र बताया गया है।[३३]

(७) अभय

मानव-जीवन भयग्रस्त नहीं होना चाहिए। इसलिए 'मा भैषीः' जैसी ऋग्वैदिक प्रार्थनाएँ 'अभय' जैसे उत्कृष्ट मानव-मूल्य की स्थापना करती है। समानता, स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन-निर्भयता से ही प्रश्रय प्राप्त करते हैं। मन्त्रों में स्वाभाविक रूप से एक दूसरे के प्रति अभय की भावना व्यक्त की गयी है, 'हे अग्ने ! तुम हमें दृष्ट और अदृष्ट भय से बचाओ।'[३४] 'हे द्यावापृथिवी ! इस देश में कल्याण होवें, आदित्य हमारे लिए निर्भयता सिद्ध करें।'[३५] इन प्रार्थनाओं से प्रकट होता है कि निर्भयता ऋग्वैदिक आर्यों का अभीप्सित गुण था।

(८) विवेकबुद्धि

समस्त मानवीय मूल्यों का मूलाधार विवेक है। नीरक्षीरन्याय का जनक 'विवेक' हमारे आचार को दिशा देकर हमारे सारे कर्तव्यों का निर्धारण करता है। यह व्यक्ति के उचित कर्म का पथ-प्रदर्शक है। धी, मेधा या विवेक-बुद्धि ही मनुष्य को सांसारिक प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ बनाती है, इसीलिए ऋग्वैदिक प्रार्थनाओं के अधिकांश में सद्बुद्धि प्रार्थनीय है। सविता देव प्रज्ञा को प्रेरित करें।[३६] इन्द्र बहुविध बुद्धि प्रदान करें और अग्नि बुद्धि को ले आएँ[३७] –इत्यादि प्रार्थनाओं में बुद्धि की कामना की जा रही है; तो दूसरी कई प्रार्थनाओं का विषय दुर्बुद्धि-निवारण है।[३८] श्रेष्ठ जीवन जीने और परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सुबुद्धि की अभिलाषा के पीछे मानवीय जीवन की सफलता की भावना ही निहित है। अतएव विवेकबुद्धि एक श्रेष्ठ मानवीय जीवन-मूल्य के रूप में ऋग्वेद में वर्णित है।

(९) दानशीलता

उत्तम मानव का विशेष गुण है- दानशीलता। इसकी प्रतिष्ठा और

प्रशंसा ऋग्वैदिक मन्त्रों में देखी जा सकती है। दानशील और दाता की महिमा गायी गयी है और अदाता की निन्दा की गयी है। देवता दानपरायण हैं। वैदिक ऋषि का कथन है - दाता मनुष्य सदा अदाता से श्रेष्ठ है।[३९] उदार दाताओं की कभी मृत्यु नहीं होती है।[४०] दाता की प्रशंसा और महिमागान दक्षिणासूक्त (१०/१०७) का मुख्य विषय है। अग्नि देवता से प्रार्थना है कि हमें दानशीलता (दिति) दें और कंजूसी (अदिति) से हमारी रक्षा करें।[४१] अतः दानभाव परम आचरणीय है।

(१०) पवित्रता

मनुष्य के लिए बाह्य पवित्रता आवश्यक है, परन्तु सदाचार के क्षेत्र में अन्तःकरण की पवित्रता का अधिक महत्त्व है। मनु ने इसे 'शौच' कहा है। सविता देवता से एक मन्त्र में प्रार्थना की गयी है कि वे स्तोता को सब प्रकार से पवित्र करें।[४२] अन्यत्र कहा गया है कि सरस्वती (विद्या) मनुष्य को पवित्र करती है।[४३] सोम देव के पवित्र की प्रायः चर्चा हुई है। पवित्रता-विषयक प्रार्थनाएँ यजुर्वेद में बहुलता से प्राप्त होती है।

(११) परिश्रम

परिश्रम ऋग्वेद के ऋषियों की जीवन-दृष्टि का आधार है। ऋग्वेद की धारणा है कि मनुष्य अपने श्रेष्ठ और महान् कर्मों से ही प्रसिद्ध होता है।[४४] नैतिक जीवन के लिए प्रयत्न और परिश्रम के महत्त्व को स्वीकार करने के कारण मन्त्र में कहा गया है कि बिना परिश्रम के देवताओं से मित्रता नहीं मिलती है।[४५] तात्पर्य है कि देवगण उसी की सहायता करते हैं, जो परिश्रम और तप करता है। सामान्य रूप से 'कर्म' प्रशंसनीय हैं। वर्णन है कि ज्ञानियों ने जहाँ कर्म स्थापित किये हैं, वहीं यज्ञ करने वाला सुख पाता है।[४६] जिस प्रकार इन्द्र आदि देवता उत्तम कर्मों के कारण श्रेष्ठ हुए, उसी प्रकार उत्तम और शुभ कर्म मनुष्य के लिए भी लक्ष्य-प्राप्ति के निमित्त कर्तव्य हैं– यही ऋग्वेदसंहिता का सन्देश है। अक्षसूक्त में अपने हाथ से काम करके आजीविका चलाने का उपदेश है।[४७] ऋग्वेद का एक सूक्त सामूहिक श्रम का प्राचीनतम और अद्वितीय गीत है।[४८] अनेक प्रकार के श्रमिक हैं, परन्तु सामाजिक मर्यादा के विचार से वे सब एक दूसरे के समान हैं।

(१२) समता-भावना

वैदिक आर्य सभी को समान रूप से उन्नत, सुखी एवं सम्पन्न देखना चाहते थे, इसीलिए अधिकांश प्रार्थनाएँ बहुवचन में की गयी हैं । **सर्वे भवन्तु सुखिनः** - उनकी हार्दिक कामना थी । मनुष्य-मात्र के लिए सद्भावना और सौहार्द का आकर्षक उपदेश देने वाले कुछ ऋग्वैदिक सूक्त संसार के सम्पूर्ण साहित्य में अनुपम हैं । 'संज्ञानम्' सूक्त समष्टि भावना का प्रचारक है ।[४९] इसमें सभी मनुष्यों को सामाजिक समता के आदर्श का उपदेश देते हुए सामञ्जस्य की प्रेरणा दी गयी है । अथर्ववेद में सात 'सांमनस्यम्' सूक्त मिलते हैं, जिसमें सौहार्द का प्रतिपादन है । समचित्तता, अविद्वेष, सहपान, सहभोज, सहकारिता, मैत्री, कल्याण-भावना आदि समता-भाव के आधार एवं अङ्ग हैं । इनका विस्तार से वर्णन मन्त्रों में किया गया है । यही नहीं, सामाजिक उदारता, समविभाजन की भावना और राष्ट्रीयता का जो भी प्रतिपादन वेदों में है, उसके मूल में मानवीय समानता की भावना ही विद्यमान है ।

(१३) माधुर्य

मानवीय जीवन की श्रेष्ठता के लिए वाणी की मधुरता अथवा माधुर्यगुण श्रेयस्कर है । वाणी की मधुरता से एकता और सद्भावना अधिक बलवती होती है । सविता देव 'अद्रोहवाक्' हैं, इसीलिए सुखस्वरूप हैं ।[५०] तात्पर्य है कि अहिंसक वाक्यों से युक्त वाणी का प्रयोग मनुष्य को सुख और शुभ की ओर ले जाता है ।

(१४) कल्याण-भावना

समष्टि-सुख और लोक-कल्याण की भावना वैदिक विचार-धारा का मूल है । वैदिक आर्य जीवन में सर्वत्र कल्याण ही देखना चाहते थे । मन्त्रों में इसके लिए अनेकशः प्रार्थनाएँ की गयी हैं । साथ ही देवताओं से ऐसे मन, बुद्धि और वाणी की याचना है, जो दूसरों का कल्याण कर सकें। सुख और कल्याण की प्राप्ति के लिए शुभ कर्म तथा शुभ कर्म के लिए विवेक बुद्धि एवं दूसरे मानवमूल्यों की आवश्यकता का ऋग्वैदिक ऋषियों को भान था । ऋग्वेद में मानव के लिए निर्दिष्ट समस्त आचारिक तत्त्वों का केन्द्रबिन्दु सर्वकल्याण-भावना अथवा सब लोगों को सुख-प्राप्ति ही है ।

भारतीय मूल्यों की प्रतिष्ठा में आचरण और व्यवहार की पवित्रता,

मानवीय संवेदना, परदुःखकातरता, सहिष्णुता, क्षमाशीलता, कल्याण-भावना आदि गुणों का पूरी तरह समावेश है। संस्कृति के इस संपोषण में सैकड़ों वर्ष लगे हैं। ये वैदिक मनीषा के दीर्घकालीन और गम्भीर विचार-चिन्तन, प्रयोग और परीक्षण का सुफल है। आज भारतीय समाज और भारतीय संस्कृति में जिन मानव-मूल्यों को मनुष्य की श्रेष्ठता अथवा मानवता का आधार माना जाता है, जिन सद्गुणों या नैतिक आचारों को अनुकरणीय बताया जाता है, जिन दुर्गुणों और दुराचारों को व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र की उन्नति में बाधक समझा जाता है– उन सब विचारों की बलवती स्थापना सर्वप्रथम 'ऋग्वेद' में की गयी है। अतः ऋग्वेद की संहिता ही भारतीय मानव-मूल्यों का आदिस्रोत है।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥ मनु. २/१२.

२. ऋग्वेदसंहिता, *सायणभाष्यभूमिका*, १०.

३. मनु. २/६.

४. मनु. २/७.

५. मनु. १२/६७.

६. मनु. २/१६६.

७. मनु. २/१३.

८. मङ्गलदेव शास्त्री, *वैदिक संस्कृति के तत्त्व*, वाराणसी, १६६१, पृ. १३६-१३७.

६. श्रुतिश्च शौचमाचारः प्रतिकालं विभिद्यते।
नानाधर्माः प्रवर्तन्ते मानवानां युगे युगे॥
मङ्गलदेवशास्त्री, वैदिक *संस्कृति के तत्त्व*, पृ. २० पर उद्धृत।

१०. धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः। महा. कर्ण. ६६/५८.

११. धृतिः क्षमा दयोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ मनु. ६/६२.

१२. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥ मनु. १०/६३.

१३. *भागवतपुराण* ७/११/८-१२.
१४. द्र.– अध्याय ८, नीतिविश्लेषण, जीवन का लक्ष्य ।
१५. Ghate's *Lectures on Rigveda*, Poona, 1966, p.144.
१६. ऋतस्य नाभिरमृतं वि जायते । ऋ. ६/७४/४.
१७. ऋ. १०/१६०/१.
१८. सातवलेकर, *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य*, सप्तम मण्डल, पारडी, पृ. २२७.
१९. ऋ. ७/१०४/१२.
२०. ऋ. ७/१०४/१३.
२१. ऋ. १/११३/४.
२२. द्र.–लेखिका का लेख 'भारतीयाध्यात्मिकचिन्तनधाराया मूलस्रोतः ऋग्वेदः', –*अजस्रा, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्*, लखनऊ, अङ्क १-२, वर्ष १७, पृ. २६-३५.
२३. ऋ. ३/५५.
२४. माहाभाग्याद् देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते । एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति । नि. ७/४.
२५. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।
ऋ. १/१६४/४६.
सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।
ऋ. १०/११४/५.
२६. यो देवानां नामधा एक एव । ऋ. १०/८२/३.
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् । ऋ. १०/९०/१.
पुरुष एवेदं सर्वम् । ऋ. १०/९०/२.
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । ऋ. १०/१२१/१.
२७. ऋ. १/३१/१३, १/३३/१.
२८. ऋ. १/१८५/३, ६/२२/१०.
२९. ऋ. ७/६७/५.
३०. मित्रः प्रमीतेस्त्रायते । सम्मिन्वानो द्रवतीति वा । नि. १०/२१.
३१. मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।।
यजु. ३६/१८.

३२. यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
ऋ. १०/७१/६.

३३. उप क्षेति हितमित्रो न राजा । ऋ. ३/५५/२१.

३४. भवा नो अग्नेऽवितोत गोपा । ऋ. १०/७/७.

३५. त आदित्या अभयं शर्म यच्छत । ऋ. १०/६३/७.

३६. धियो यो नः प्रचोदयात् । ऋ. ३/६२/१०.

३७. ऋ. १/५/३, १/२२/१०.

३८. ऋ. ८/६७/१५, १०/७६/४.

३६. पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात् । ऋ. १०/११७/७.

४०. न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुः । ऋ. १०/१०७/८.

४१. दितिं च रास्वादितिमुरुष्य ।ऋ. ४/२/११.

४२. मां पुनीहि विश्वतः । ऋ. ६/६७/२५.

४३. पावका नः सरस्वती । ऋ. १/३/१०.

४४. कर्मभिर्महद्भिः सुश्रुतो भूत् । ऋ. ३/३६/१.

४५. न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः । ऋ. ४/३३/११.

४६. अपांसि यस्मिन्नधि संदधुर्गिरस्तस्मिन्त्सुम्नानि यजमान आ चके ।
ऋ. ३/३/३.

४७. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व । ऋ. १०/३४/१३.

४८. ऋ. १०/१०१.

४६. ऋ. १०/१६१.

५०. सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम् । अथर्व. ६/१/२.

[**परिशोध ५१, मानवमूल्य विशेषांक,** पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़, १६६३, पृ. १-७ **में प्रकाशित ।**]

***

परिशिष्ट

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

(अ) संस्कृत

अथर्ववेदः (शौनकीयः) : सायणाचार्यकृतभाष्यसहितः, सं. विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, १६६०-६४.

अभिधानचिन्तामणिः : हेमचन्द्राचार्य, सं. श्रीहरगोविन्द शास्त्री, वाराणसी, १६६४.

अमरकोषः : अमरसिंह, क्षीरस्वामीटीकासहित, सं. गोविन्द ओक, वाराणसी, १६८१.

आर्षानुक्रमणी : आचार्यशौनकविरचिता, सं. उमेशचन्द्र शर्मा, अलीगढ़, १६८२.

उपनिषत्सङ्ग्रहः : सं. जगदीशशास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, १६८४.

ऋगर्थदीपिका : सं. लक्ष्मणस्वरूप, चार भाग, मोतीलाल बनारसीदास, १६३६-१६५५.

ऋग्वेदभाष्यम् : स्वामीदयानन्दसरस्वतीविरचितम्, सं. युधिष्ठिर मीमांसक, प्रथम भाग, रामलालकपूर ट्रस्ट, १६७३.

ऋग्वेदसंहिता : सायणाचार्यविरचितभाष्यसमेता, वैदिकसंशोधन -मण्डल, पुण्यपत्तन, १६३३-१६५१.

ऋग्वेदः : (स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, वेङ्कटमाधव और मुद्गल के भाष्यों के साथ) आठ भाग, सं.विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिकशोधसंस्थान, वि. २०२१.

ऋग्वेदसर्वानुक्रमणी : कात्यायन, सं. उमेशचन्द्र शर्मा, अलीगढ़, १६७७.

ऐतरेयब्राह्मणम् : आनन्दाश्रम, पूना, १६३०.

ऐतरेयारण्यकम् : आनन्दाश्रम, पूना १६४३.

कौषीतकिब्राह्मणम् : सं. बी. लिण्डनर, १८८७.

छन्दोऽनुक्रमणी : शौनकीया, सं. उमेशचन्द्रशर्मा, अलीगढ़, १६८१.

ताण्ड्यमहाब्राह्मणम् : सायणभाष्यसमेतम्, सं. वेदान्तवागीश, कलकत्ता, १८७०.

तैत्तिरीयब्राह्मणम् : (कृष्णयजुर्वेदीयम्), सायणभाष्यसहितम्, आनन्दाश्रम, पूना, १८३८.

तैत्तिरीयसंहिता : कृष्णयजुर्वेदीया, आनन्दाश्रम, पूना, १६०१.

तैत्तिरीयारण्यकम् : (कृष्णयजुर्वेदीयम्), सायणभाष्यसहितम्, आनन्दाश्रम, पूना, १८६७.

निरुक्तम् : निघण्टुपाठसमुपेतम्, दुर्गाचार्यव्याख्यासहितम्, वेङ्कटेश्वरमुद्रणयन्त्रालय, मुम्बई, १६८२.

निरुक्तम् : सं. श्रीछज्जूराम शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मनदास, दिल्ली, १६८५.

बृहद्देवता : शौनक, सं. रामकुमार राय, चौखम्बा, वाराणसी, १६६३.

बृहद्देवता : शौनक, (दो भाग) सं. ए. ए. मैकडॉनल, कैम्ब्रिज, १६०४.

ब्रह्मवैवर्तपुराणम् : सरस्वतीयन्त्र, कलकत्ता.

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् : (वेदान्तसूत्रम्), सत्यानन्दसरस्वती स्वामी, वाराणसी, सं. २०२८.

भागवतमहापुराणम् : गीताप्रेस, गोरखपुर.

महाभारतम् : गीताप्रेस, गोरखपुर.

रामायणम् : महर्षि वाल्मीकि, गीताप्रेस, गोरखपुर, १६६२.

वाक्यपदीयम् : (ब्रह्मकाण्डम्) भर्तृहरि, अम्बाकर्त्रीव्याख्या, सं. भगीरथप्रसाद त्रिपाठी, वाराणसी १६७६.

वाचस्पत्यम् : (बृहतसंस्कृताभिधानम्), चौखम्बा, वाराणसी, सं. २०१८.

वैदिककोषः : प्रथमो भागः, सं. भगवद्दत्त एवं हंसराज,

वाराणसी, १९६२.

वैदिककोषः : (दयानन्दवैदिककोष) विमर्शटीका, सं. राजवीरशास्त्री, दिल्ली, १९७५.

शतपथब्राह्मणम् : एशियाटिकसोसायटी बंगाल, कलकत्ता १९०३-११.

शब्दकल्पद्रुमः : कलकत्ता, सं. १८०८.

शुक्लयजुर्वेदसंहिता : विद्याविलासप्रेस, बनारस, १९१२.

शुक्लयजुर्वेदसंहिता : उवट-महीधरभाष्यसहित, मोतीलाल बनारसीदास, १९७१.

श्रीमद्भगवद्गीता : गीताप्रेस, गोरखपुर.

सामवेदसंहिता : सायणभाष्यसहिता, सं. रामस्वरूपशर्मा गौड़, वाराणसी, १९८९.

सिद्धान्तकौमुदी : भट्टोजिदीक्षितप्रणीता, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली, १९८५.

हलायुधकोषः : (अभिधानरत्नमाला) भट्टहलायुध, सं. जयशंकर जोशी, हिन्दी समिति, लखनऊ, १९६७.

(आ) हिन्दी

आत्रेय, भीखनलाल : *भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, सूचनाविभाग, लखनऊ, १९६४.*

उपाध्याय, बलदेव : *पुराणविमर्श*, चौखम्बा, वाराणसी, १९६५.

उपाध्याय, बलदेव : *वैदिक साहित्य और संस्कृति*, काशी, १९५८.

कीथ, ए.बी. : *वैदिक धर्म एवं दर्शन* (अनूदित), दो भाग, अनु. सूर्यकान्त, वाराणसी, १९६३, १९६५.

कुजूर, एस. : *वैदिक और धर्मशास्त्रीय साहित्य में नारी*, वाराणसी, १९८२.

घाटे : *घाटे द्वारा ऋग्वेद पर व्याख्यान* (अनूदित), दिल्ली, १९७६.

चन्द्र, रायगोविन्द : *वैदिक युग के भारतीय आभूषण*, वाराणसी, १९६५.

ज्ञानी, शिवदत्त : *वेदकालीन समाज*, वाराणसी, १९६७.

तिवारी, उदयनारायण : *भाषाविज्ञान का संक्षिप्त इतिहास*, इलाहाबाद, १९८३.

तिवारी, शशि : *ऋग्वेदीय आप्रीसूक्त*, भारतीय विद्याप्रकाशन, दिल्ली, १९८१.

तिवारी, शशि : *सूर्य देवता, वैदिक और वेदात्तर संस्कृत सूर्यस्तुतियें में*, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली १९९४. त्रिपाठी गयाचरण, *वैदिक देवता, उद्भव और विकास*, दो भाग, वाराणसी, १९८२.

थपल्याल और शुक्ल : *सिन्धु सभ्यता*, लखनऊ, १९९२.

दिवेकर, प्रा. ह. रा. : *ऋग्वेदसूक्तविकास*, ग्वालियर, १९७०.

द्विवेदी, कैलाशनाथ : *ऋग्वैदिक भूगोल*, कानपुर, १९८४.

द्विवेदी, कैलाशनाथ : *सप्तसैन्धव प्रदेश* (ऋग्वेद के आधार पर भौगोलिक अध्ययन).

देवराज, नन्दकिशोर : *भारतीय दर्शन*, लखनऊ, १९७८.

नगेन्द्र : *मानविकी परिभाषिक कोष*.

मैकडॉनल एवं कीथ : *वैदिक इण्डेक्स* (अनूदित), दो भाग, वाराणसी, १९६२.

योगी, सत्यभूषण : *वेदसमुल्लास*, दिल्ली, १९७५.

राधाकृष्णन्, एस. : *भारतीय दर्शन* (अनूदित), दिल्ली, १९६६.

रानाडे, रामचन्द्र दत्तात्रेय : *उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण* (अनूदित), जयपुर, १९७१.

रामगोपाल : *वैदिकव्याख्याविवेचन*, १९७६.

रेउ, विश्वेश्वरनाथ : *ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि*, दिल्ली, १९६७.

विण्टरनिट्ज, एम. : *प्राचीन भारतीय साहित्य* (अनूदित), प्रथम भाग (वेद-वेदाङ्ग), अनु. लाजपतराय, वाराणसी, १९६१.

वेदालंकार, प्रशान्तकुमार : *वैदिक साहित्य में नारी*, दिल्ली.

वेलणकर, प्रा. हरिदामोदर : *ऋक्सूक्तवैजयन्ती*, पूणें, १९६५.
शर्मा, कृष्णलाल : *वैदिक साहित्य में शकुन एवं अद्भुत घटनाएँ*, सहारनपुर, १९७०.
शर्मा, गणेशदत्त : *ऋग्वेद के दार्शनिक तत्त्व*, गाजियाबाद, १९७७.
शास्त्री, कपिलदेव : *वैदिक ऋषि-एक परिशीलन*, कुरुक्षेत्र, १९७८.
शास्त्री, केदारनाथ : *सिन्धु सभ्यता का आदिकेन्द्र हड़प्पा*, दिल्ली, १९५९.
शास्त्री, मङ्गलदेव : *वैदिक संस्कृति के तत्त्व*, वाराणसी, १९६१.
शास्त्री, शिवराज : *ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध*, मेरठ, १९६२.
सांकृत्यायन, राहुल : *ऋग्वेदिक आर्य*, किताबमहल, इलाहाबाद, १९५७.
सम्पूर्णानन्द : *आर्यों का आदिदेश*, सं. २०१२.
सातवलेकर, श्रीपाददामोदर : *अथर्ववेद का सुबोध भाष्य*, स्वाध्याय मण्डल, पारडी.
सातवलेकर, श्रीपाददामोदर : पारडी,. *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य*, स्वाध्यायमण्डल.
सातवलेकर, श्रीपाददामोदर : *यजुर्वेद का सुबोध भाष्य*, स्वाध्याय मण्डल, पारडी
सातवलेकर, श्रीपाददामोदर : *सामवेद का सुबोध भाष्य*, स्वाध्याय मण्डल, पारडी.
सिन्हा, जे. एन. : *नीतिशास्त्र*, मेरठ, १९६०.
सिंह, भगवान : *हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य*, दिल्ली, १९८७.
सूर्यकान्त : *वैदिक कोश* (वैदिक विषयों एवं नामों का), बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, १९६३.
सूर्यकान्त : *वैदिक देवशास्त्र* (अनूदित), मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली, १९६२.
सेंगर, हरिसिंह : *भारतीय अर्थविज्ञान*, दिल्ली, १९७८.

(इ) अंग्रेजी, जर्मन और फ्रैंच

A. Books

Agrawal, V.S : *Nasadiya Sukta*, A Hymn of Creation.

Altekar, A.S. : *The Position of Women in Hindu Civilisation*, Delhi, 1973.

Apte, V.S. : *The Practical Sanskrit English Dictionary*, Motilal Banarsidass, 1985.

Arbman, E. : *Rudra*, 1922.

Aurobindo, Shri : *On the Vedas* (The Secret of the Veda, Vol.5) Pondicherry, 1964.

Aurobindo Shri : *Vedic Glossary.*

Barth, A. : *The Religions of India*, London, 1921.

Basu, Jogiraj : *India of the Age of the Brahmanas*, Calcutta, 1969.

Belvalkar, S.K. & Ranade, R.D. : *History of Indian Philosophy, The Creative Period*, New Delhi, 1974.

Benfey : *Orient und Occident*, vol. I.

Bergaigne, A. : *La Religion Vedique*, 3 vols, Paris, 1878-83.

Bloomfield, M. : *The Religion of the Veda*, Delhi, 1972.

Bohtlingk, O. and Roth,R. : *St. Petersburg Sanskrit Worterbuch*, St. Petersburg, 1855-75.

Buddha Prakash : *Rigveda and the Indus Valley Civilization*, Hoshiarpur, 1966.

Chakraborty, Chhanda : *Common Life in the Rgveda and Atharvaveda*, Calcutta, 1977.

Chakraborty, Haripada : *Socio-Economic Life of India in the Vedic Period*, Calcutta, 1986.

Chakraborty, H.P. : *Vedic India*, Calcutta, 1981.

Choubey, B.B. : *Treatment of Nature in the Rigveda*, Hoshiarpur, 1970.

Dandekar, R.N. : *Vedic Mythological tracts*, Delhi, 1979.

Das, A.C. : *Rigvedic Culture*, Delhi, 1976.

Das, A.C. : *Rigvedic India*, Delhi, 1979.

Deshmukh, P.R. : *The Indus Civilization in the Rigveda*, Yeotmal, 1958.

Geldner, K.F. and Pischel.R. : *Vedische Studien* (I-III), Stuttgart, 1889-1901.

Ghate : *Ghate's Lectures on Rigveda*, Sukthankar, Poona, 1959.

Ghosh, Ekendranath : *Studies on Rigvedic Deities*, Delhi, 1983.

Ghosha, Ramchandra : *Peep into the Vedic Age.*

Gonda, J. : *Epithets in the Rigveda*, The Netherlands, 1959.

Grassmann, H. : *Worterbuch zum Rgveda*, Leipzig, 1873.

Griffith, R.T.H. : *Hymns of the Rigveda*, Two vols. (Tr.) Varanasi, 1963.

Griswold, H.D. : *The Religion of the Rigveda*, Varanasi, 1971.

Hardy, E. : *Die Vedische Brahmanische Periode.* Munster, 1893.

Hastings, James : *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, Vol. V.

Hillebrandt, A. : *Vedic Mythology* (Translated), Two vols. S.R.Sarma, Delhi, 1981.

Kaegi, A. : *The Rigveda* (Tr. R. Arrowsmith), Delhi, 1975.

Keith, A.B. : *The Religion and Philosophy of the Veda and Upanishads* (H.O.S. Vols. 31&32), Two Vols., London, 1925.

Macdonald, K.S. : *The Vedic Religion*, Calcutta, 1982.

Macdonell, A.A. : *A History of Sanskrit Literature*, London, 1917, Varanasi, 1965.

Macdonell, A.A. : *A Vedic Reader for Students.*

Macdonell, A.A. : *Vedic Mythology*, Delhi, 1981.

Macdonell, A.A. & Keith, A.B. : *Vedic Index of Names and Subjects.* Two Vols., Varanasi, 1982.

Mackay, E.J.H. : *Further Excavations at Mohenjodaro*, Two vols., New Delhi, 1938.

Mackengie, John S. : *A Manual of Ethics*, Oxford University Press, Delhi, 1973.

Majumdar, R.C.& Pusalkar, A.D. : *The Vedic Age*, London, 1952.

Marshall, Sir John : *Mohenjodaro and the Indus Civilization*, 3 Vols., London, 1931.

Max Muller, F. : *A History of Ancient Sanskrit Literature*, Varanasi, 1968.

Max Muller, F. : *Biographies of words*, London, 1888.

Max Muller, F. : *Lectures on the Origin and Growth of Religion*, London, 1882.

Mayrhofer, M. : *A Concise Etymological Sanskrit Dictionary*, I-II, Heidelberg, 1956, 1963.

Misra, V.B. : *From the Vedas to Manu-Samhita-A Cultural Study*, Delhi, 1982.

Mitra, Priti. : *Indian Culture and Society in the Vedas*, Calcutta, 1985.

Muir, J. : *Original Sanskrit Texts*, Vol. V, London, 1872.

Oldenberg, H. : *Die Religion des Veda*, Berlin, 1894.

Om Prakash : *Economy and Food in Ancient India*, Two vols., Delhi, 1987.

Om Prakash : *Religion and Society in Ancient India*, Delhi, 1985.

Pandit, M.P. : *Aditi and Other Deities in the Vedas.*

Peterson, P. : *Hymns from the Rigveda*, Poona, 1959.

Piggott, S. : *Prehistoric India*, Penguin, 1950.

Potdar, K. R. : *Sacrifice in Rigveda*, Bombay, 1953.

Prasad, Mantrini : *Language of the Nirukta*, Delhi, 1975.

Rajni, V. : *Ancient History.*

Renou, Louis : *Vedic India*, Calcutta, 1957.

Roth, R. : *Illustrations of the Nirukta.*

Sarkar, S.C. : *Some Aspects of the Earliest Social History of India*, Oxford University Press, London, 1928.

Schroeder, L.V. : *Arische Religion*, Part I-II, Leipzig, 1914, 1916.

Schroeder, L.V. : *Wiener Zeitschrift fur die Kunde des Morgenlandes*, part IX.

Sharma, U.C. : *The Visvamitras and the Vasisthas*, Aligarh, 1975.

Shastri, S.R. : *Women in the Vedic Age*, 1952.

Shastri, Udayavir : *Samkhya Siddhanta*, Gaziabad, 1962.

Singh, Fateh : *The Vedic Etymology*, Delhi, 1952.

Suryakanta : *A Practical Vedic Dictionary*, Delhi, 1981.

Upadhyaya, B.S. : *Women in Rigveda*, Delhi 1974.

Varma, Siddheshwar : *The Etymologies of Yaska*, V V R I, Hoshiarpur, 1953.

Vasu, S.C. : *The Siddhanta Kaumudi of Bhattoji*, Two vols., Motilal Banarsidass, 1982.

Vats, M.S. : *Excavations at Harappa*, Delhi, 1940.

Wallis, H.F. : *The Cosmology of the Rigveda*, London, 1912.

Weber, A. : *Indische Studien*, 3 vols., 1845.

Wheeler : *Early India and Pakistan*, London, 1959.

Williams, M.M. : *A Sanskrit English Dictionary*, Delhi, 1963.

Wilson, H.H. : *Rigveda Samhita*, Six Vols., Delhi.

B. JOURNALS

1. American Journal of Philology, XII.
2. Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1939, XX.
3. Journal of American Oriental Society, III, XVI,
4. Journal of the Gujrat Res. Society, vol. XXI, No. 4/84.
5. Journal of the University of Bombay, XV, Part 2.

***

विशिष्ट-पद-सूची

* * *

प्रकाशक
वेंकटेश प्रकाशन
बी-9/259, रोहिणी, सेक्टर-5, दिल्ली-110085
फोन : 5675353